पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व

[इन्दौर विश्वविद्यालय से पी.एच. डी. के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध]



लेखक :

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम. ए., पी.एच. डी.

भूमिका :
डॉ० हीरालाल माहेश्वरी

प्रस्तावना :
डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन

प्रकाशक :
मंत्री, पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४

प्रथम सस्करग   ३०००
रक्षा बन्धन, १३ अगस्त, १९७३ ई०

मू य   सात रुपया

मुद्रक
जयपुर प्रिण्टर्स
मिर्जा इस्माइल रोड
जयपुर ३०२००१



आचार्यकल्प पूज्य पंडित टोडरमलजी

समर्पण

महापंडित पूज्य टोडरमलजी

को

जिनका ही सब कुछ इस लघु कृति में है

एवं

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी

को

जिन्होंने पंडित टोडरमलजी

की

महान कृति मोक्षमार्ग प्रकाशक

के मर्म को

समझने की दृष्टि प्रदान की

मंगल आशीर्वाद

पंडित टोडरमलजी तो महान आत्मा थे। उनका मोक्षमार्ग प्रकाशक अपूर्व ग्रन्थ है। उसमें सब शास्त्रों का सार भर दिया है। उसकी बात क्या कहें? वह हमें विक्रम सं० १९८२ की साल में मिला था। उसका सातवाँ अधिकार तो हमने हाथ से लिख लिया था।

और पंडित हुकमचन्द, हुकमचन्द के बारे में तो हमने कहा था न कि उसका क्षयोपशम बहुत है, बहुत है। वर्तमान तत्त्व की प्रभावना में उसका बड़ा हाथ है। उसने बहुत काम किया है। कहा न कि उसका तत्त्व की प्रभावना में बड़ा हाथ है। स्वभाव का भी नरम है। हम तो मन में जो भाव आता है, कह देते हैं। हम तो किसी के उसमें तो कहते नहीं।

अच्छा मिल गया, टोडरमल स्मारक को अच्छा मिल गया। गोदीका के भाग्य से मिल गया। गोदीका भी पुण्यशाली है न, सो मिल गया। बहुत अच्छा रहा। तत्त्व की बारीक से बारीक बात पकड़ लेता है, पंडित हुकमचन्द बहुत ही अच्छा है।

—श्री कानजी स्वामी

आध्यात्मिक सत्पुरुष

पूज्य श्री कानजी स्वामी



जिनका दिनांक २८ जनवरी, १९७३ को जयपुर में सम्पन्न आचार्यकल्प पंडित टोडरमल स्मृति समारोह एवं डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल के अभिनन्दन के अवसर पर टेप द्वारा उद्गार एवं मंगल आशीर्वाद प्राप्त हुआ, जो उन्हीं के शब्दों में सामने के पृष्ठ पर अंकित है।

भूमिका

डॉ० हीरालाल माहेश्वरी
एम.ए., एल्-एल्.बी., डी.फ़िल् , डी.लिट्.
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

हिन्दी साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग धार्मिक साहित्य के रूप में है। धार्मिक साहित्य को दो रूपों में देखा जा सकता है :— (१) दार्शनिक, वैचारिक और धर्माचरण मूलक साहित्य, जिसे चिन्तनपरक साहित्य कह सकते हैं, तथा (२) इनकी प्रेरणा से निर्मित साहित्य, जिसमें मानवानुभूतियों का अनेकरूपेण चित्रण-वर्णन रहता है। विद्वानों ने शुद्ध साहित्य के अन्तर्गत विवेचनीय, दूसरी सीमा में आने वाले साहित्य को माना है। परन्तु जब साहित्य का इतिहास लिखा जाता है, तो धर्म और दर्शन से प्रभावित साहित्य को प्रेरणा देने वाले विभिन्न चिन्तन-बिन्दुओं, चिन्ता-धाराओं और दार्शनिक-प्रणालियों का आकलन और समानान्तर प्रवाह का लेखा-जोखा करना आवश्यक हो जाता है। प्रायः सभी भारतीय भाषाओं के साहित्यों के इतिहास-लेखन में यह बात स्पष्ट दिखाई देती है। यही कारण है कि विभिन्न सम्प्रदायों से सम्बन्धित साहित्यों पर कार्य करते समय विद्वानों ने तत्सम्बन्धी दार्शनिक और वैचारिक स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है। अष्टछाप और पुष्टिमार्ग, राधावल्लभ सम्प्रदाय आदि से सम्बन्धित कार्य इसके प्रमाण हैं। यही नहीं, विभिन्न कवियों और सन्त-भक्तों के केवल दार्शनिक विचारों का भी अध्ययन-मनन प्रस्तुत किया गया है, जैसे—कबीर, तुलसीदास, सन्त कवि दरिया आदि-आदि। साहित्यिक शोध के परिणामस्वरूप जो भी ज्ञान-किरण प्रसरित और आलोकित होती है, वह किसी न किसी रूप में हमारे ज्ञान क्षितिज का विस्तार करती है।

डॉ० हुकमचंद भारिल्ल द्वारा प्रस्तुत 'पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व' शोध-प्रबंध एक ऐसा ही कार्य है, जो उल्लिखित धार्मिक साहित्य की दोनों सीमाओं को समाविष्ट किए हुए है।

पंडित टोडरमलजी का समय वि० सं० १७७६-७७ से १८२३-२४ तक है। ये जयपुर के निवासी थे, तथा इनका अधिकांश जीवन ढूँढाड़ प्रदेश में ही बीता। जयपुर में धार्मिक दुराग्रह के कारण उनका प्राणान्त हुआ (प्रस्तुत ग्रंथ, पृष्ठ ५४)। इस कृति से पूर्व हिन्दी के बहुत से पाठकों की आँखों से पंडित टोडरमलजी ओझल ही थे; प्रस्तुत कृति के माध्यम से ही उनके व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व को पहली बार उजागर किया गया है। जैन-जगत में दार्शनिक और वैचारिक क्षेत्र में, तथा तत्समय तंत्र-मंत्र, कर्मकाण्ड और इतर ऐहिकता की ओर उन्मुख होते हुए भट्टारकवाद और उसकी सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध प्रबल संघर्षकर्त्ता के रूप में पंडित टोडरमलजी का महत्त्व एक विशाल स्वयंभूत प्रकाशस्तंभ की तरह है। पंडितजी ने अतीत की वैचारिक परम्पराओं को प्रबल तर्कों की कसौटी पर कसा, मान्य शास्त्रीय ग्रंथों – समयसार, गोम्मटसार के आलोक में उनको परिपुष्ट किया और इनमें प्रतीत होने वाले परस्पर विभिन्न मत-मतान्तरों की देश, समाज और काल-सापेक्ष संगत व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। इस कृति के लेखक डॉ० भारिल्ल ने बताया है कि गोम्मटसार का पठन-पाठन उसमें निहित सूक्ष्म सैद्धान्तिक विचारणाओं के कारण जैन-जगत में टोडरमलजी से पांच सौ वर्ष पूर्व प्रायः लुप्त-सा हो गया था (प्रस्तुत ग्रंथ, पृष्ठ ६७)। टोडरमलजी ने इस पर 'सम्यग्ज्ञान-चंद्रिका' नामक भाषाटीका लिख कर इसके पठन-पाठन का मार्ग प्रशस्त किया। वर्तमान में गोम्मटसार के अध्ययन का मुख्य आधार पं० टोडरमल की उक्त भाषाटीका ही है। यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि दिगम्बर जैन-जगत में आचार्य कुन्दकुन्द रचित समयसार और सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य रचित गोम्मटसार स्वतः प्रमाण, परमपूज्य और सर्वमान्य शास्त्र हैं। दोनों ही शास्त्र प्राकृत गाथाओं में हैं। समयसार अब से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व रचित और गोम्मटसार लगभग एक हजार वर्ष पूर्व रचित है। प्रसिद्ध है कि

गोम्मटसार की रचना धरसेनाचार्य के शिष्यों – आचार्य भूतबलि और पुष्पदन्त द्वारा रचित षट्खण्डागम नामक प्राकृत गाथाओं में निबद्ध ग्रंथ के आधार पर हुई है। षट्खण्डागम ग्रंथ के आशय को संक्षेप में सुस्पष्ट रूप से प्रस्तुत करना गोम्मटसार के रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती का लक्ष्य था। तब से विगत एक हजार वर्षों से गोम्मटसार, समयसार के समान ही महत्त्व पाता रहा है। षट्खण्डागम दिगम्बर जैन सम्प्रदाय की सर्वाधिक प्राचीन सैद्धान्तिक रचना है। इसका नामोल्लेख तो जैन विद्वान् करते आए थे और किसी ने क्वचित्-कदाचित् इसका पठन-पाठन भी किया हो, किन्तु इसकी विस्तृत चर्चा गोम्मटसार के पश्चात् कभी नहीं हुई। गोम्मटसार की रचना के पश्चात् इसका पठन-पाठन बन्द-सा होगया। हर्ष का विषय है कि अब यह 'षट्खण्डागम' स्वर्गीय डॉ० हीरालाल जैन के संपादकत्व में प्रकाशित होकर सम्मुख आ गया है, जिससे इसकी मान्यताओं और सिद्धान्तों के आलोक में गोम्मटसार का पठन-पाठन संभवतः एक नया मोड़ ले।

ऊपर लिखा जा चुका है कि पं० टोडरमलजी से लगभग ५०० वर्ष पूर्व गोम्मटसार का पठन-पाठन बन्द-सा हो गया था। ध्यातव्य है कि स्वयं पं० टोडरमलजी ने षट्खण्डागम की प्रति, जो दक्षिण भारत के जैनबद्री नामक स्थान पर थी, प्राप्त करने का बहुत प्रयास किया था; उन्होंने इस हेतु पांच-सात जैन-मुमुक्षुओं को भी भेजा था किन्तु दुर्भाग्य से वे सफल नहीं हो सके थे। यदि वह प्रति पंडितजी को प्राप्त हो जाती, तो संभवतः इस पर भी वे टीका लिखते। इस अनुमान की पुष्टि इससे होती है कि उन्होंने गोम्मटसार पर टीका लिखी है। हो सकता है कि पंडितजी समयसार पर भी ऐसी ही टीका लिखते, जैसा कि उनके समकालीन सहयोगी ब्र० रायमलजी के इस कथन से स्पष्ट है – "और पांच-सात ग्रन्थां की टीका बरणायबे का उपाय है सो आयु की अधिकता हूवां बरणैंगा" (प्रस्तुत ग्रंथ, पृष्ठ ५०)। उल्लेखनीय है कि समयसार में प्रमुख विषयवस्तु शुद्ध आत्मा का निरूपण है, जबकि गोम्मटसार में परिवर्तनशील तत्त्वों – विकारी और अविकारी पर्यायों की विवेचना है। इन दोनों शास्त्रों की गहन विवेचनाओं को पढ़ कर ऐसी भी धारणा बन सकती है कि दोनों के

कथनों में परस्पर विरोधाभास है। यदि इस विरोधाभास को प्रमुखता दी जाय, तो हो सकता है कि कालान्तर में विरोधी विचारधाराओं के फलस्वरूप दोनों के आधार पर नए-नए उपसंप्रदाय स्थापित हो जाएँ। पं० टोडरमलजी की तलस्पर्शिनी दृष्टि ने इस बात को भलीभाँति जान लिया था और उन्होंने अपने मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ में ऐसे विरोधाभासों में अनेक दृष्टियों से समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की। उदाहरण के लिए, गोम्मटसार में जीव (आत्मा) की विभिन्न अवस्थाओं (गति, इन्द्रिय, काय, वेद आदि के भेद-प्रभेदों) का विस्तृत विवेचन है। पंडित टोडरमलजी का कथन है कि इन सब का यदि ज्ञान हो तो बहुत ही अच्छा है, किन्तु जानने की मुख्य वस्तु केवल शुद्ध आत्मा ही है। उनकी विचारधारा और समस्त तर्क इस अंतिम लक्ष्य – शुद्ध आत्मा को जानने और अनुभूत करने की ओर ही हैं। उनका मोक्षमार्ग प्रकाशक, जो दुर्भाग्य से अपूर्ण रह गया है, दि० जैनों की सैद्धान्तिक विचारधारा तथा गोम्मटसार और समयसार में समन्वय स्थापित करने वाला विलक्षण सैद्धान्तिक ग्रंथ है (द्रष्टव्य – मोक्षमार्ग प्रकाशक, अध्याय ७ तथा ८)। दि० जैन मुमुक्षुओं और पाठकों की दृष्टि से एक प्रकार से मोक्षमार्ग प्रकाशक दोनों ही सिद्धान्तग्रंथों–समयसार और गोम्मटसार के गूढ़ रहस्यों को समन्वयात्मक दृष्टि और तर्कसंगत प्रणाली से बोलचाल की भाषा में प्रस्तुत करने वाला आधुनिक काल का एक सिद्धान्त ग्रंथ ही है। मोक्षमार्ग प्रकाशक का प्रकाशन आज से ७६ वर्ष पूर्व हुआ था। तब से इसके अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं और आज तो यह दि० जैन समाज में व्यापक रूप से मान्य और प्रचलित है। पं० टोडरमलजी की मेधा, विद्वत्ता और ज्ञान का इससे किंचित् अनुमान लगाया जा सकता है।

दूसरा कार्य – भट्टारकवाद का विरोध जो टोडरमलजी ने किया, वह उनकी उपर्युक्त योजना की स्वाभाविक परिणति है। शुद्ध आत्मा की बात करने वाला व्यक्ति जड़ जगत से सम्बन्धित और इससे प्राप्त भोगोपभोगों की भर्त्सना करेगा ही। इस सम्बन्ध में इस परम्परा के विषय में दो शब्द कहने आवश्यक हैं। हिन्दी में सबसे पहले कवि

बनारसीदासजी ने तत्समय में व्याप्त पाखण्डों और सिद्धान्त ग्रंथों के नाम पर अपनी मनचाही बातों को चलाने वाले लोगों का विरोध किया था। अनेक ग्रन्थों के अध्ययनोपरान्त वे समयसार की ओर मुड़े। सत्य का अनुभव उन्होंने समयसार में किया। उनकी कृति 'नाटक समयसार' इसी सत्य को तत्कालीन प्रचलित भाषा के माध्यम से सुपाठ्य बनाने का प्रयास है। तब आगरा में आध्यात्मिक 'सैलियाँ' नियमित रूप से चलती थीं, जिनमें विभिन्न सैद्धान्तिक ग्रंथों पर चर्चाएँ हुआ करती थीं। इनमें जिज्ञासुओं के अतिरिक्त अनेक अधिकारी विद्वान् उपस्थित हुआ करते थे। बनारसीदासजी की विचारधारा इन 'सैलियों' के माध्यम से विशेष रूप से जन-सामान्य में फैली। कालान्तर में यह विचारधारा (ज्ञेय और अनुभवनीय – शुद्ध आत्मा ही है) अन्य स्थानों में भी फैली। टोडरमलजी के समय जयपुर में इस 'सैली' को चलाने वाले बाबा वंशीधरजी थे। इस प्रकार इसका बीज-वपन किसी न किसी रूप में हो चुका था। आवश्यकता अब केवल एक ऐसे विद्वान् की थी जो मान्य सिद्धान्त ग्रंथों के आधार पर इसको पल्लवित एवं पुष्पित कर सके तथा इसकी जड़ें दृढ़, स्थायी और पुष्ट बना सके। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसके लिए कितने विशाल और तलस्पर्शी ज्ञान तथा तर्कबुद्धि की आवश्यकता थी। पंडित टोडरमलजी के रूप में वह प्रतिभा अवतरित हुई, जिसने अनेक कृतियों के माध्यम से – विशेषतः मोक्षमार्ग प्रकाशक के रूप में यह महान् दायित्व पूरा किया। भट्टारकवाद, उसका विरोध और विरोध के कारण अनेक थे। इन सबका प्रस्तुत लेखक डॉ० भारिल्लजी ने सप्रमाण उल्लेख विवेचन किया है जो मूल में पठनीय है (प्रस्तुत ग्रंथ अध्याय १)। अठारहवीं शताब्दी में पं० टोडरमलजी दि० जैन-जगत में जो आध्यात्मिक और सामाजिक क्रान्ति कर रहे थे, उसका महत्त्व प्रस्तुत ग्रन्थ में मूलरूप में पठनीय है। पंडित टोडरमलजी जैसे महान् विद्वान् के कार्यों का सम्यक् रूप से महत्त्व-दिग्दर्शन बहुत कठिन और अध्ययन सापेक्ष कार्य है। डॉ० भारिल्लजी ने इसे सफलतापूर्वक सम्पन्न किया है, तदर्थ वे बधाई के पात्र हैं।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध की इयत्ता यहीं तक ही नहीं है। इसमें टोडरमलजी की सम्पूर्ण रचनाओं के अतिरिक्त उनकी गद्य शैली और भाषा का भी अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, जो प्रबंध के शीर्षक 'कर्त्तृत्व' को दृष्टि में रखते हुए ठीक ही है। पंडित टोडरमलजी की भाषा को हम 'मिश्रित हिन्दी भाषा' कह सकते हैं; उदाहरण के रूप में पिंगल, जिसका व्याकरणिक आधार तो ब्रजभाषा है किन्तु जिसमें राजस्थानी का प्रभूतशः सम्मिश्रण है। अभी तक जहाँ तक जानकारी है, पिंगल के अतिरिक्त अन्य किसी ऐसी मिश्रित भाषा और उसके साहित्य पर कार्य नहीं हुआ। विभिन्न शास्त्र-भण्डारों और संग्रहालयों में अनेक ऐसी रचनाएँ मिलती हैं, जिनकी भाषा विचार के नये आयाम प्रस्तुत करती है। ब्रज और खड़ी बोली, राजस्थानी और खड़ी बोली, अवधी और राजस्थानी और कहीं-कहीं तो तीन-तीन भाषाओं का मिश्रण भी एक ही रचना में देखने को मिल जाता है, यथा – राजस्थानी, ब्रज और खड़ी बोली। पंडित टोडरमलजी की भाषा ऐसी ही मिश्रित भाषा है। इसमें मूलाधार के रूप में तो ब्रज है पर ढूंढाड़ी (जयपुरी) और खड़ी बोली का पुट भी मिलता है। भाषा सामाजिक दाय है। एक व्यापक समाज को सहजरूपेण बोधगम्य कराने की दृष्टि से संभवतः टोडरमलजी ने इस तरह की भाषा अपनाई थी। ऐसी भाषाओं और उनके साहित्यों का अध्ययन, समय-समय पर बदलते समाज और उसके मान्यता-परिवर्तन, तथा मान मूल्यों एवं सांस्कृतिक विरासत की दृष्टि से भी अध्ययनीय है। प्रस्तुत ग्रन्थ के पांचवें और छठे अध्याय – पंडित टोडरमलजी की शैली और भाषा का अध्ययन – ऐसी मिश्रित भाषाओं पर काम करने वाले परवर्ती शोधार्थियों के लिए अनेक दृष्टियों से दिग्निर्देश करते हैं। इस ओर शोधार्थियों द्वारा प्रयास अवश्य किया जाना चाहिए। विभिन्न प्रदेशों के दिगम्बर जैन समाज के प्रवचनों में व्यापक रूप से पंडित टोडरमलजी की यह भाषा चलती और समझी जाती रही है, जबकि इन प्रदेशों की बोलियाँ भिन्न-भिन्न हैं। भाषायी एकता का यह बड़ा प्रमाण है।

टोडरमलजी की विचारधारा ने कितने समकालीन और परवर्ती विचारकों, कवियों, लेखकों और व्यक्तियों को प्रभावित किया इसका अध्ययन अभी बाकी है। तत्सम्बन्धी संकेत यत्र-तत्र प्रस्तुत ग्रन्थ में मिलते हैं। पं० टोडरमलजी के बाद अब तक इस वैचारिक परम्परा का इतिहास उनके व्यक्तित्व को और भी सबल रूप में हमारे सामने रख सकेगा। मैं डॉ० भारिल्लजी से अनुरोध करता हूँ कि वे इस कार्य को अपने हाथ में लें और उसी शोध दृष्टि से उसे पूरा करें जैसा कि उन्होंने प्रस्तुत कार्य किया है। यह अत्यन्त हर्ष की बात है कि इसके लेखक प्राप्त नवीन सामग्री के आलोक में पुरानी मान्यताओं को परखते और निर्भीकतापूर्वक कहते हैं। उदाहरणार्थ, अब तक पंडित टोडरमलजी की मृत्यु २७ वर्ष की अवस्था में हुई मानी जाती थी (श्री टोडरमल जयन्ती स्मारिका, पृष्ठ १४-१५)। निश्चय ही २७ वर्ष की अवस्था में इतना बड़ा कार्य कर देने वाले टोडरमलजी और भी महान् थे। डॉ० भारिल्लजी ने अनेक प्रमाणों के आधार पर स्पष्ट किया है कि उनका देहान्त २७ वर्ष की नहीं अपितु ४७ वर्ष की अवस्था में हुआ था (प्रस्तुत ग्रंथ, पृष्ठ ४४-५३)। ४७ वर्ष की अवस्था में इतना कार्य टोडरमलजी ने किया, इस स्थापना से उनकी महत्ता में कोई आंच नहीं आती।

प्रस्तुत ग्रन्थ जैनधर्म से सम्बन्धित सिद्धान्तों, व्याख्याओं, साहित्य, और भाषा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस कार्य के लिए डॉ० भारिल्ल हिन्दी विद्वानों की ओर से बधाई के पात्र हैं। इसके प्रकाशक, पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के संचालकगण और मूल प्रेरणा के स्रोत श्री कानजी स्वामी जिनका उल्लेख लेखक ने अपने निवेदन में किया है, भी बधाई के पात्र हैं।

बी-१७४ ए, राजेन्द्र मार्ग
बापूनगर, जयपुर-४
१ अगस्त, १९७३

– **हीरालाल माहेश्वरी**

"तातैं बहुत कहा कहिए, जैसैं रागादि मिटावने का श्रद्धान होय सो ही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। बहुरि जैसैं रागादि मिटावने का जानना होय सो ही जानना सम्यग्ज्ञान है। बहुरि जैसैं रागादि मिटैं सो ही आचरण सम्यक्चारित्र है। ऐसा ही मोक्षमार्ग मानना योग्य है।"

– पंडित टोडरमल

प्रस्तावना

डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन
एम०ए०, पीएच० डी०, साहित्याचार्य
प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
शासकीय एस० एन० स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, खण्डवा

प्रवृत्ति और निवृत्ति

'धर्म' का अर्थ है – वह जो धारण करता है अथवा जिसके द्वारा धारण किया जाय। 'प्रश्न है वह क्या है जिसे धारण किया जाता है या जो धारण करता है?' मनुष्य की मुख्य समस्या है – उसका अस्तित्व। उसके सारे भौतिक और आध्यात्मिक कार्य तथा प्रवृत्तियाँ इसी प्रश्न के हल के लिए हैं। वह सोचता है कि क्या उसका भौतिक अस्तित्व ही है या और कोई सूक्ष्म अस्तित्व भी है, जो जन्म और मृत्यु की प्रक्रिया से परे है? फिर वह जीवन में शुभ-अशुभ प्रवृत्तियों की कल्पना करता है और अपने आपको शुभ पथ में लगाना चाहता है। इस गार्हस्थ जीवन में अशुभ प्रवृत्तियों से एक दम बच पाना नितान्त असंभव है, जीवन की प्रक्रिया ही कुछ ऐसी पेचीदा है। इसलिए वह मान लेता है कि 'शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहति वासना सरित्' – यह वासनारूपी सरिता अच्छे बुरे मार्गों से बहती है और उसे प्रयत्नपूर्वक अच्छे मार्ग पर लगना और अशुभ से बचना चाहिए।

दूसरा प्रश्न – दो उत्तर

जहाँ तक दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध है, उसके दो उत्तर हो सकते हैं। एक तो यह है कि विश्व एक प्रवाह है, जिसमें प्रत्येक वस्तु को उसका स्वभाव धारण करता है। 'वस्तु स्वभावो धर्मः'। जल तभी तक जल है जब तक उसमें ठंडक है। आग तब तक आग है जब तक उसमें गर्मी है। किसी वस्तु को उसका अपना भाव ही

धारण करता है, इसलिए वही धर्म है। दूसरा उत्तर है कि विश्व अपने आप में अनादि-प्रवाह नहीं है, उसका कोई न कोई उद्गम है, कोई न कोई महाअस्तित्व है, जिससे सृष्टि का उद्गम हुआ है। दृश्य विश्व उसी की परिणति है। यह महाअस्तित्व ईश्वर है। हम विश्व को एक प्रवाह मानें या ईश्वर की कृति, इसमें मतभेद हो सकता है किन्तु विश्व के अस्तित्व में कोई मतभेद नहीं है। हम सब अपने अस्तित्व को मात्र बनाए ही नहीं रखना चाहते, प्रत्युत उसे अधिक सुविधायुक्त और परिष्कृत भी करना चाहते हैं। यह मनुष्य ही कर सकता है, दूसरे प्राणी नहीं, क्योंकि उसके पास सोचने-समझने की शक्ति है, यह विवेक ही उसकी सब से बड़ी संपत्ति है।

मूल प्रवृत्तियाँ और धर्म

आहार, निद्रा, भय और मैथुन – ये प्रवृत्तियाँ हीनाधिक रूप में सभी प्राणियों में पाई जाती हैं। केवल विवेक ऐसी विशेषता है जो दूसरों के पास नहीं है। अतः मनुष्य के सन्दर्भ में धर्म का अर्थ है – उसका विवेक। यह विवेक न केवल मनुष्य को लौकिक प्रगति के लिये प्रेरित करता है बल्कि उसे आध्यात्मिक प्रगति के लिए भी प्रेरणा देता है। यह उसे स्व के सीमित घेरों को तोड़ कर एक व्यापकतर अनुभूति के क्षेत्र में ले जाता है। व्यापकतर अनुभूति के लिये व्यापक सम्भावना की अनुभूति बहुत आवश्यक है। अनीश्वरवादी जीवमात्र में विद्यमान अन्तःसमानता के आधार पर व्यापकता को खोजते हैं, जब कि ईश्वरवादी व्यापक एकता के आधार पर।

मनुष्य और धर्म

धर्म मनुष्य जीवन की व्यापक अनुभूति है जो उसकी विशेषता भी है और आवश्यकता भी, परन्तु जीवन का रथ प्रवृत्ति और निवृत्ति के पहियो पर घूमता है। जीवन में कोई न तो सर्वथा प्रवृत्ति-वादी हो सकता है और न निवृत्तिवादी। दुर्भाग्य से यह भ्रान्ति गहरी जड़ पकड़ चुकी है कि अमुक धर्म प्रवृत्तिवादी है और अमुक धर्म निवृत्तिवादी। वस्तुतः प्रवृत्ति और निवृत्ति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, एक का सम्पूर्ण निषेध कर हम दूसरे का भी बहिष्कार कर देंगे और जीवन लूला-लंगड़ा बन जायेगा।

परिवर्तन और जैन धर्म

जैन धर्म कितना ही आध्यात्मिक या आत्मवादी क्यों न रहा हो, विशुद्ध निवृत्तिवादी कभी नहीं था। यह उसके अनेकान्तवादी दृष्टिकोण के भी विरुद्ध है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखें तो प्रारम्भिक तीर्थंकरों के जीवन में प्रवृत्ति और निवृत्ति का सुन्दर समन्वय है। 'तीर्थंकर' शब्द ही प्रवृत्ति का सूचक है। वह प्रवृत्ति आध्यात्मिक ही सही, किन्तु आठवीं सदी या उसके कुछ पूर्व से उसमें भट्टारकवाद, तंत्रवाद, सराग उपासना का बोलबाला था। यद्यपि इसके पूर्व कुंदकुंदाचार्य विशुद्ध अध्यात्मवाद का प्रवर्तन कर चुके थे, उसके बाद सत्रहवीं सदी में उक्त विचारधारा को शुद्धाम्नाय के नाम से प्रसिद्ध कवि बनारसीदासजी ने आगे बढ़ाया। उनके साहित्य को देखने से पता चलता है कि उस समय जैन साधकों में अहं और शिथिलाचार चरम सीमा पर था। सारी साधना अनुभूति की आंतरिक पीड़ा से मुक्त थी। उनके द्वारा स्थापित मत को तेरहपंथ कहा गया है। कुछ लोग इसे अनादिनिधन मानते हैं। संभवतः यहाँ पर अनादिनिधन से अभिप्राय मूल दृष्टिकोण से है।

वीतरागता

जैन आचार और विचार प्रक्रिया समय की छांव में अपना रंग-रूप बदलती रही है। उसके जीवित रहने के लिये यह जरूरी था। जैन दर्शन के अनुसार सत् की परिभाषा है 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'। उसके अनुसार यदि पदार्थ अपना अस्तित्व रखता है तो उसमें एक साथ कुछ न कुछ नया जुड़ता है और कुछ न कुछ पुराना टूटता है, फिर भी वह बना रहता है, यही उसकी नित्यता है। यह सोचना गलत है कि जैन विचारधारा भौतिक आधार के बिना खड़ी नहीं रह सकती। वीतरागता एक दृष्टिकोण है संसार को देखने का न कि अनुभूतिशून्य आचार-तंत्र। वीतरागता का अर्थ दिगम्बरत्व नहीं है। वह तो उसे पाने की एक आचार प्रक्रिया है जो पूर्ण वीतरागता के लिए जरूरी है, पर वह अपने आप में वीतरागता नहीं है। वीतरागता आत्मा का धर्म है, नग्नता शरीर का। वह साधन है, साध्य है वीतरागता।

कसौटी

यह सोचना गलत है कि प्रवृत्ति हमेशा प्रवृत्ति रहती है और निवृत्ति हमेशा निवृत्ति। कभी प्रवृत्ति निवृत्तिमूलक हो सकती है और कभी निवृत्ति प्रवृत्तिमूलक। पं० टोडरमल का मुख्य तर्क यह है है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति का संग्रह या त्याग आध्यात्मिकता की कसौटी नहीं है, उसकी असली कसौटी है वीतरागता। प्रवृत्ति यदि वीतरागता में सहायक है तो उसका स्वागत किया जाना चाहिए और यदि निवृत्ति राग या कषाय को बढ़ाती है तो ठीक नहीं। वीतरागता और सम्यग्दृष्टि का चोली-दामन का सम्बन्ध है, यह अन्तर्विवेक वीतरागता के बिना सम्भव नहीं है। अतः यदि अन्तर्विवेक मनुष्यता को धारण करने वाला धर्म हो तो यह भी मानना होगा कि उसका पूर्ण विकास वीतराग दृष्टि में ही सम्भव है। वीतरागता पशु में भी होती है, क्योंकि वह चेतन है इसलिए उसमें यदि राग है तो वीतरागता भी होगी ही। अतः वीतरागता केवल निवृत्ति नहीं है वरन् विवेक-पूर्वक निवृत्ति है। इसलिए जो लोग निवृत्ति के नाम पर विवेकशून्य आचरण करते हैं उन्हें भर्तृहरि के शब्दों में क्या यह कहा जाय कि वे पशु से भी गये बीते हैं ?

इस में सन्देह नहीं कि पंडित टोडरमल ज्ञान-साधना और साधुता के प्रतीक थे। वे त्यागी नहीं थे और न धुरन्धर आचार्य। वे सच्चे पुरुषार्थी और वीतराग-विज्ञानदर्शी थे। प्रायः देखा जाता है जो लोग जीवन में अपने पैरों पर खड़े हैं वे आध्यात्मिक दृष्टि से दूसरों पर निर्भर करते हैं और जो लोग अध्यात्मसाधना में लगे हैं उनका उत्तरदायित्व समाज को उठाना पड़ता है। लेकिन पं० टोडरमल दोनों क्षेत्रों में अपने पुरुषार्थ पर विश्वास रखते थे। उन्होंने पर-मतों का ही नहीं, स्वमत का और उसमें व्याप्त रूढ़ियों की कड़ी आलोचना की है। दूसरों के मत की आलोचना करना आसान है परन्तु अपने मत की आलोचना करना तलवार की धार पर चलना है क्योंकि उसमें अपनों के बीच प्रतिष्ठा दाव पर लगानी होती है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक

उनकी समूची साहित्य साधना में 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' विशिष्ट महत्त्व रखता है। वह अनुभूति और चिन्तनप्रधान ग्रन्थ है। वह

मोक्षमार्ग प्रकाशक है, मोक्ष का शास्त्र नहीं। वे मोक्ष का मार्ग बताते हैं, उस पर चलाने का काम नहीं करते। वह नेता नहीं, स्वयं एक राही हैं। लेकिन राह को समझ लेना और दूसरे को ठीक-ठीक समझा देना बहुत बड़ा काम है। तत्त्वार्थसूत्र का पहला सूत्र 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' रट कर जो लोग अपने आपको सम्यग्दृष्टि और मोक्षमार्गी समझते हैं, मोक्षमार्ग प्रकाशक उनकी आंखें खोल देने वाला ग्रन्थ है। जो जैन यह समझते हैं कि जैन कुल में उत्पन्न होना ही सम्यग्दृष्टि होना है, यह ग्रंथ उनके इस दंभ को चूर-चूर कर देता है। मोक्षमार्ग प्रकाशक में मिथ्यादृष्टि की विस्तार से चर्चा है, ताकि उससे बचा जा सके। 'संग्रह त्याग न बिनु पहिचानें'। जैनाभासों का उनका विभाजन मौलिक है–१. निश्चयाभासी, २. व्यवहाराभासी और ३. उभयाभासी। उनकी आलोचना रचनात्मक है। उन्होंने इसके द्वारा जैनों में व्याप्त आध्यात्मिक स्वच्छंदतावाद, बाह्याडंबरवाद और संशयावाद पर तीव्र प्रहार किया है। उन्होंने सामाजिक रूढ़ियों की भी आलोचना की है, परन्तु उन्होंने कभी अपने आपको समाज-सुधारक नहीं कहा। इस प्रकार मोक्षमार्ग प्रकाशक न केवल आध्यात्मिक ग्रंथ है, बल्कि समाज का दर्पण भी है, और हम चाहें तो उसमें अपने मुँह का आकार देख सकते हैं।

मोक्षमार्ग प्रकाशक आध्यात्मिक चिकित्सा का शास्त्र है, जिसमें रोग का निदान ही नहीं वरन् औषधि भी है। इसमें पंडितजी केवल वीतराग-विज्ञानी ही नहीं, वरन् अनुभूतिमूलक गद्यकार, आलोचक और एक महान प्राश्निक एवं उत्तरदाता के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं।

इच्छाओं का विभाजन

पंडितजी के अनुसार शास्त्र साधन है, साध्य है वीतरागता। वीतरागता के साथ राग नहीं रह सकता। पंडितजी अर्थशास्त्र के पंडित नहीं थे, परन्तु उन्होंने मनुष्य की इच्छाओं का विभाजन करते हुए प्रकारान्तर से बताया है कि अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र की सीमाएँ क्या हैं? उनके अनुसार इच्छाएँ चार प्रकार की हैं–विषयगत इच्छाएँ जिन्हें अर्थशास्त्र में मूल आवश्यकताएँ कहते हैं, जिनकी पूर्ति और पूर्ति के साधन जीवन के लिये जरूरी हैं। दूसरी और तीसरी इच्छाएँ वे हैं जो मनुष्य में पाप या पुण्य के उदय से उत्पन्न होती हैं और जिनका

परिणाम दुख:सुख है। इनमें अनुकूल इच्छा को मनुष्य भोगना चाहता है और प्रतिकूल को छोड़ना चाहता है। पंडितजी का तर्क है इन्हें पूर्व जन्म के कर्मफल समझ कर मनुष्य को अपने वर्त्तमान जीवन का संतुलन नहीं खोना चाहिए। परन्तु जहाँ तक कषायों का संबंध है, ये मनुष्य की सब से घातक इच्छाएँ हैं। ये हैं – काम, क्रोध, मान, और लोभ। ये न तो विषयगत इच्छाओं की तरह जीवन के अस्तित्व के लिये जरूरी हैं और न पाप-पुण्यगत इच्छाओं की तरह पूर्व जन्म का ऋण। फिर भी मनुष्य इनके चक्कर में पड़ कर अपना और दूसरे का सर्वनाश कर डालता है। वीतरागता इन्हीं इच्छाओं पर रोक लगाने के लिए है। मनुष्य वस्तुतः जिन चीजों से राग करता है, वे जड़ हैं। काम, क्रोध, मान, और लोभ इसी राग की तीव्रतम चेतना की विभिन्न प्रतिक्रियाएँ हैं। इसीलिए कहा गया है कि निर्मोही गृहस्थ अच्छा है उस मुनि से जो मोही है। 'अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः'।

प्रस्तुत ग्रन्थ

प्रस्तुत ग्रन्थ सन्दर्भित विषय पर पहिला मौलिक और प्रामाणिक शोध-प्रबन्ध है। निर्देशक होने के नाते मैं कह सकता हूँ कि इसके लेखन में – श्री भारिल्ल ने प्राप्त तथा प्राप्य सामग्री के अनुसंधान और अनुशीलन में कोई कसर नहीं रखी, परन्तु यह शोध का प्रारम्भ है, अन्त नहीं। पंडितजी के पूर्व आचार्य कुंदकुंद तक विशुद्ध अध्यात्म की लम्बी धारा है। इस परम्परा का नवीनीकरण कर जनमानस में सच्ची अध्यात्म विवेक दृष्टि जाग्रत करने के लिए पूज्य कानजी स्वामी की प्रेरणा से जो कुछ कार्य हो रहा है, यह शोध भी उसी का एक अंग है। मैं चाहता हूँ कि पूज्य आचार्य कुंदकुंद से लेकर पूर्व-टोडरमल तक इस विचारधारा के महत्त्वपूर्ण विचारों की वृत्तियों पर ऐसा शोध-पूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थ तैयार किया जाय जो समूची विचारधारा का समकालीन संदर्भों में तथा जीवन के व्यावहारिक और आध्यात्मिक मूल्यों का अध्ययन प्रस्तुत करे। किसी भी विचारधारा के जीवित रहने के लिये उस पर शोधपरक अध्ययन बहुत जरूरी है। पूज्य कानजी स्वामी के प्रति यही श्रद्धांजलि हो सकती है कि यह काम उनके जीवन-काल में ही पूरा हो जाए।

– देवेन्द्रकुमार जैन

११४, ऊषा नगर
इन्दौर (म० प्र०)

प्रकाशकीय

'पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व' शोध-प्रबंध प्रकाशित करते हुए हमें अत्यधिक प्रसन्नता हो रही है। आचार्यकल्प पंडितप्रवर टोडरमलजी को जैन समाज में कौन नहीं जानता? उनका 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' तो समाज के हृदय का हार बना हुआ है। आज से लगभग ४८ वर्ष पूर्व उक्त ग्रंथ आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजी स्वामी के हाथ लगा। उसका सातवाँ अध्याय पढ़ कर वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उक्त अध्याय के ५० पृष्ठ अपने हाथ से लिख लिए जो आज भी सुरक्षित हैं।

पूज्य स्वामीजी के मुख से मोक्षमार्ग प्रकाशक व उसके कर्त्ता पंडितप्रवर टोडरमलजी की श्रद्धापूर्वक प्रशंसा सुन कर श्रीमान् सेठ पूरणचंदजी गोदीका, जयपुर के हृदय में पंडितजी के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई एवं यह जान कर तो उन्हें अपार हर्ष हुआ कि पंडितजी की कर्मभूमि जयपुर ही रहा है। उन्हें जयपुर में उनका एक भव्य स्मारक बनाने का भाव आया। पूज्य गुरुदेव की अनुमोदना एवं स्वर्गीय पंडित चैनसुखदासजी से प्रेरणा पाकर उन्होंने अपनी भावना को साकार रूप दे दिया। परिणामस्वरूप पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट की स्थापना हुई एवं श्री टोडरमल स्मारक भवन का निर्माण हुआ।

उपर्युक्त स्मारक ट्रस्ट के ट्रस्टियों में विचार चल रहा था कि जिन पूज्य पंडितजी के नाम पर स्मारक ट्रस्ट की स्थापना हुई है, उन महापुरुष के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व से जनसाधारण अपरिचित है; अतः इस विषय पर सूक्ष्मता एवं गहराई के साथ प्रामाणिक शोध-कार्य करने की आवश्यकता है। इसी बीच श्री टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर में डॉ० सत्येन्द्र, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्व-विद्यालय की अध्यक्षता में मार्च सन् १९६८ ई० में आयोजित 'टोडरमल जयंती समारोह' के अवसर पर स्व० पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ ने पं० हुकमचंदजी भारिल्ल, शास्त्री, न्यायतीर्थ, एम०ए०, संयुक्तमंत्री,

पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर से आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी पर शोध-कार्य करने का आग्रह किया। उस अनुरोध को उन्होंने तत्काल सहर्ष स्वीकार कर लिया क्योंकि उनका भी विचार चल ही रहा था। फलस्वरूप इन्दौर विश्वविद्यालय में डॉ० डी० के० जैन, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग के निर्देशन में उक्त शोध-प्रबंध उनके द्वारा मई सन् १९७२ ई० में प्रस्तुत किया गया।

मेरा डॉ० भारिल्लजी से अत्यधिक निकट का सम्पर्क होने से मुझे मालूम है कि उन्होंने इस शोध-प्रबंध को तैयार करने में कितना अथक् परिश्रम किया है। इस संबंध में खोज करने के लिए बहुत सा प्रकाशित व हस्तलिखित साहित्य कई स्थानों से इकट्ठा करना पड़ा। अनेकों जगह स्वयं को भी जाना पड़ा। महीनों तक लगातार अपने स्वास्थ्य का ध्यान न रखते हुए रात-दिन एक किए। यह कहने में किंचित् भी अतिशयोक्ति नहीं कि डाक्टर साहब का सारा परिश्रम पूर्णरूपेण सफल हो गया है।

मैं ट्रस्ट की ओर से डॉक्टर भारिल्लजी को इस सैत्कार्य के लिये अनेकानेक बधाई प्रेषित करता हूँ। वे धन्यवाद के पात्र हैं। उन्होंने ट्रस्ट के संकल्प को पूर्ण किया और स्व० पं० चैनसुखदासजी की भावना को मूर्त रूप दिया। यदि आज वे हमारे बीच होते तो उनको कितनी खुशी होती – इसका अनुमान हम नहीं लगा सकते।

दिनांक २८ जनवरी, १९७३ ई० को हल्दियों का रास्ता स्थित बुलियन एक्सचेंज, जयपुर में आयोजित पंडित टोडरमल स्मृति समारोह के अवसर पर पंडित टोडरमलजी पर शोध-प्रबंध लिखने के उपलक्ष में डॉ० भारिल्लजी का सार्वजनिक अभिनंदन किया गया था। उक्त अवसर पर पू० श्री कानजी स्वामी का मंगल आशीर्वाद प्राप्त हुआ था जो आरंभ में दिया जा चुका है। उसके बाद डॉक्टर साहब के क्षयोपशम, अलौकिक ज्ञान व विलक्षण प्रतिभा के लिये मेरे पास लिखने को विशेष कुछ नहीं बचता है।

इस शोध-प्रबंध द्वारा महापंडित टोडरमलजी के संबंध में कई महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आए हैं। अभी तक पूज्य पंडितजी के

आचार्यकल्प पंडित टोडरमल स्मृति समारोह



दिनांक २८ जनवरी, १९७३ ई० को जयपुर में सम्पन्न पंडित टोडरमल स्मृति समारोह एव डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल के अभिनन्दन के अवसर पर पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के अध्यक्ष श्रीमान् सेठ पूरणचंदजी गोदीका "पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व" शोध-प्रबंध लिखने के उपलक्ष में डॉ० भारिल्ल (बायें) को अभिनन्दन-पत्र भेंट करते हुए। साथ में ट्रस्ट के मंत्री श्री नेमीचंदजी पाटनी एवं राजस्थान जैन सभा के अध्यक्ष श्री कपूरचंदजी पाटनी एडवोकेट खड़े हैं।

संबंध में ऐसी मान्यता चली आ रही थी कि उनका २७ वर्ष की आयु में देहावसान हो गया था, लेकिन डाक्टर साहब ने अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है कि वे ४७ वर्ष तक जीवित रहे। अलीगंज (जिला ऐटा – यू० पी०) से प्राप्त हस्तलिखित सामग्री शोध-प्रबंध में उसी रूप में लगाई गई है (देखिए पृ० ५१-५२), जिसको पढ़ने से हृदय गद्गद् हो जाता है।

इसी प्रकार यह मान्यता प्रचलित थी कि पंडितजी को पढ़ाने के लिए बनारस से एक विद्वान् बुलाया गया था। डाक्टर साहब ने उसको अप्रामाणिक सिद्ध किया है। उनका लिखना है कि जिस परिवार के व्यक्ति को छोटी उम्र में आज से २०० वर्ष पूर्व आवागमन के समुचित साधनों के अभाव में भी आजीविका के लिए जयपुर से १५० किलोमीटर दूर सिंघाणा जाना पड़ा हो, उसका परिवार इतना सम्पन्न नहीं हो सकता कि उसको पढ़ाने के लिये बनारस से विद्वान् बुलाया गया हो। मैं यहाँ पर यह लिखना चाहूँगा कि आर्थिक स्थिति से इतने कमजोर होते हुये भी पंडितजी अपनी आत्म-साधना व ज्ञानसाधना में निरंतर तत्पर रहे। इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मिक पवित्रता का बाहरी संयोगों से कोई मेल नहीं है। यह एक सुखद आश्चर्य है कि पंडितजी का सिंघाणा जाना जैन समाज के लिये एक वरदान सिद्ध हुआ। वहाँ पर महान सैद्धान्तिक ग्रंथ 'सम्यग्ज्ञानचंद्रिका' की रचना हुई, जिसका विशद वर्णन आप प्रस्तुत ग्रंथ में स्वयं पढ़ेंगे।

इस प्रकार के और भी कई तथ्य शोध-प्रबंध के द्वारा प्रकाश में आए हैं। आप स्वयं इस ग्रंथ के माध्यम से उनसे परिचित होकर आश्चर्यान्वित होंगे। उन सब को यहाँ लिख कर मैं आपका विशेष समय नहीं लेना चाहूँगा।

उपर्युक्त शोध-प्रबंध सात अध्यायों में विभक्त है। उनका विस्तृत विवेचन तो आप स्वयं पढ़ेंगे ही। चतुर्थ अध्याय 'वर्ण्य-विषय और दार्शनिक विचार' में जिस सूक्ष्मता से पंडितजी के साहित्य का समग्र जैनदर्शन के परिपेक्ष्य में विवेचन किया गया है, वह डॉ० भारिल्लजी के जैनदर्शन के वर्षों के तलस्पर्शी, गहन व गंभीर अध्ययन से ही संभव

हो सका है। मेरा लिखने का आशय यह है कि शोध-प्रबंध तो कोई भी जैन-अजैन विद्वान लिख सकता था, किन्तु जैन वाङ्मय के सम्यक् ज्ञान व अनेकान्त दृष्टिकोण के बिना इस प्रकार का स्याद्वादमय विवेचन संभव नहीं था। पूज्य श्री कानजी स्वामी ने फतेपुर (गुजरात में) पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के शुभ अवसर पर उपर्युक्त शोध-प्रबंध को डाक्टर साहब के मुख से आद्योपांत सुनकर अत्यन्त प्रसन्नता व्यक्त की थी।

यहाँ पर पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट की गतिविधियों का संक्षिप्त परिचय देना अप्रासंगिक नहीं होगा।

स्मारक भवन का शिलान्यास आध्यात्मिक प्रवक्ता माननीय श्री खेमचन्द भाई जेठालाल शेठ के हाथ से हुआ था एवं उद्घाटन आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजी स्वामी के कर-कमलों से दिनांक १३ मार्च, १९६७ ई० को हुआ।

संस्था का मुख्य उद्देश्य आत्म-कल्याणकारी, परम शांतिप्रदायक वीतराग-विज्ञान-तत्त्व का नयी पीढ़ी में प्रचार व प्रसार करना है। इसकी पूर्ति के लिए संस्था ने तत्त्व-प्रचार सम्बन्धी अनेक गतिविधियाँ प्रारम्भ कीं, जिन्हें अत्यल्प काल में ही अप्रत्याशित सफलता प्राप्त हुई है। वर्तमान में ट्रस्ट द्वारा निम्नलिखित गतिविधियाँ संचालित हैं :–

पाठ्यपुस्तक-निर्माण विभाग

बालकों को सामान्य तत्त्वज्ञान प्राप्ति एवं सदाचारयुक्त नैतिक जीवन बिताने की प्रेरणा देने के उद्देश्य से युगानुकूल उपयुक्त धार्मिक पाठ्यपुस्तकें सरल सुबोध भाषा में तैयार करने में यह विभाग कार्यरत है। इसके अन्तर्गत बालबोध पाठमाला भाग १, २, ३; वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १, २, ३ तथा तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है।

परीक्षा विभाग

उपर्युक्त पुस्तकों की पढ़ाई आरम्भ होते ही सुनियोजित ढंग से उन पुस्तकों की पढ़ाई के लिए परीक्षा लेने की समुचित व्यवस्था की

आवश्यकता प्रतीत हुई। फलस्वरूप 'श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड' की स्थापना हुई। इस परीक्षा बोर्ड से १९६८–६९ में ५७१ छात्र परीक्षा में बैठे, जबकि १९७२–७३ में यह संख्या बढ़कर १९,५७१ हो गई। परीक्षा बोर्ड से विभिन्न प्रांतों की २५६ शिक्षण-संस्थाएँ सम्बन्धित हैं – जिनमें से १५५ तो बोर्ड द्वारा स्थापित नवीन वीतराग-विज्ञान पाठशालाएँ हैं।

गुजराती भाषी परीक्षार्थियों की सुविधा की दृष्टि से इसकी एक शाखा अहमदाबाद में भी स्थापित की गई है।

शिविर विभाग

इस विभाग की २ शाखाएँ हैं :–

१. प्रशिक्षण शिविर

२. शिक्षण शिविर

१. प्रशिक्षण शिविर

श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड का पाठ्यक्रम चालू हो जाने पर और उत्तरपुस्तिकाओं के अवलोकन करने पर अनुभव हुआ कि अध्ययन शैली में पर्याप्त सुधार हुए बिना इन पुस्तकों को तैयार करने का उद्देश्य सफल नहीं हो सकेगा। अतएव धार्मिक अध्यापन की सैद्धान्तिक व प्रायोगिक प्रक्रिया में अध्यापक बन्धुओं को प्रशिक्षित करने हेतु ग्रीष्मकालीन अवकाश के समय २० दिवसीय प्रशिक्षण शिविर लगाया जाना प्रारम्भ किया गया। अभी तक ऐसे पांच शिविर क्रमश: जयपुर, विदिशा, जयपुर, आगरा व विदिशा में सम्पन्न हो चुके हैं, जिनमें ६६५ अध्यापकों ने प्रशिक्षण प्राप्त किया है। आगामी प्रशिक्षण शिविर गुजरात व महाराष्ट्र में लगाने का निश्चय हो चुका है। तत्सम्बन्धी एक पुस्तक 'वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका' भी प्रकाशित की गई है।

२. शिक्षण शिविर

प्रशिक्षण शिविर की भाँति ही बालकों के हेतु यथासमय जगह-जगह शिक्षण शिविर लगाये जाते हैं।

शिक्षा विभाग

इस विभाग की ४ शाखाएँ हैं :–

(१) वीतराग-विज्ञान पाठशाला विभाग
(२) सरस्वती भवन विभाग
(३) वाचनालय विभाग
(४) शोधकार्य विभाग

१. वीतराग-विज्ञान पाठशाला विभाग

यह अनुभव किया गया है कि हमारे स्कूलों में, जिन पर समाज का लाखों रुपया खर्च होता है, धार्मिक शिक्षा एक तो चलती ही नहीं और चलती भी है तो नाममात्र की। अतः एक योजना बनाई गई कि देश में जगह-जगह ऐसी पाठशालाएँ चलाई जावें जिनमें एक घंटा मात्र धर्म की शिक्षा दी जाय। इसके अन्तर्गत सारे भारतवर्ष में १५५ वीतराग-विज्ञान पाठशालाएँ चल रही हैं। इस प्रकार की पाठशालाओं के लिए, यदि चाहा जावे तो, २० रु० माहवार का अनुदान देने की व्यवस्था है। इन पाठशालाओं में परीक्षा बोर्ड से प्रशिक्षित अध्यापक-अध्यापिकाएँ कार्य करते हैं। इस दिशा में कार्य करने की बहुत गुंजाइश है।

२. सरस्वती भवन विभाग

अध्ययन व स्वाध्याय के लिए श्री टोडरमल स्मारक भवन में सर्व प्रकार का साहित्य उपलब्ध हो सके, इस दिशा में सरस्वती भवन में अब तक १६८० ग्रन्थों का संग्रह किया जा चुका है।

३. वाचनालय विभाग

वाचनालय विभाग में लौकिक और पारलौकिक ज्ञान की वृद्धि हेतु धार्मिक, सामाजिक और लौकिक सभी प्रकार की पत्र-पत्रिकाएँ मंगाई जाती हैं। वर्तमान में इनकी संख्या २० है।

४. शोधकार्य विभाग

प्रस्तुत शोध-प्रबंध इस विभाग की प्रथम उपलब्धि है। इस विभाग द्वारा आगे और भी शोध-कार्य हाथ में लिए जाने की अपेक्षा है।

प्रकाशन विभाग

हमारे प्रकाशन श्री टोडरमल ग्रन्थमाला के नाम से होते हैं। सर्वप्रथम हमें आचार्यकल्प पंडित प्रवर टोडरमलजी की अमर कृति 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' के प्रकाशन का महान सौभाग्य प्राप्त हुआ। तदुपरान्त जैन समाज के प्रसिद्ध मूर्धन्य विद्वानों के मध्य जयपुर (खानियाँ) में हुई ऐतिहासिक तत्त्वचर्चा जो कि 'खानियाँ तत्त्वचर्चा' के नाम से प्रसिद्ध है, का प्रकाशन हमारे यहाँ से हुआ। हमारे सभी प्रकाशनों की सूची प्रस्तुत ग्रंथ के आवरण पृष्ठ पर दी गई है। महाराष्ट्र व गुजरात की माँग पर हमारी कतिपय पुस्तकों का मराठी व गुजराती में भी प्रकाशन हुआ है।

प्रचार विभाग

पंडित हुकमचन्दजी शास्त्री द्वारा श्री दिगम्बर जैन बड़ा मंदिर तेरापंथियान, जयपुर में प्रातः और श्री टोडरमल स्मारक भवन में सायंकाल प्रवचन होता है, जिनसे काफी संख्या में तत्त्वप्रेमी समाज लाभ लेता है। बाहर से उनके प्रवचनार्थ बहुत आमन्त्रण आते हैं, पर समयाभाव के कारण बहुत कम जा पाते हैं। फिर भी बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता, गौहाटी, अहमदाबाद, उज्जैन, नागपुर, शोलापुर, कोल्हापुर, इन्दौर, सागर, उदयपुर, भीलवाड़ा, विदिशा, अलवर, आगरा, खण्डवा, कुचामण, अशोकनगर, ललितपुर, शिरपुर, महावीरजी गुना, सीकर आदि कई स्थानों पर पंडितजी गए हैं और उनके द्वारा महती धर्म प्रभावना हुई है। आपकी व्याख्यान शैली से सारा समाज परिचित ही है।

इस प्रकार संक्षेप में ट्रस्ट की गतिविधियों का परिचय आपके सम्मुख प्रस्तुत किया है। हमारे प्रत्येक विभाग का कार्यक्षेत्र बहुत बड़ा है और उसमें कार्य बढ़ाने की बहुत गुंजाइश है। तत्त्वप्रचार की और कई योजनाएँ भी विचाराधीन हैं।

ऐसा कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि संस्था को वर्तमान स्वरूप प्राप्त होने का श्रेय ट्रस्ट के सम्माननीय अध्यक्ष श्रीमान् सेठ पूरणचंदजी गोदीका को है, जिन्होंने ट्रस्ट की समस्त

योजनाओं को कार्यान्वित करने में कभी किसी प्रकार की आर्थिक समस्या उत्पन्न नहीं होने दी।

डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल इस संस्था के प्राण हैं। पूज्य स्वामीजी के उद्गार "अच्छा मिल गया। टोडरमल स्मारक को अच्छा मिल गया। गोदीका के भाग्य से मिल गया। गोदीका भी पुण्यशाली है न, सो मिल गया। बहुत अच्छा रहा।" बार-बार याद आते हैं। संस्था के सभी कार्यक्रमों की रूपरेखा बनाने व उनको कार्यान्वित करने में आपकी अद्भुत कार्यक्षमता व विलक्षण प्रतिभा प्रस्फुटित हुई है। आपकी तत्त्वप्रचार की उत्कट लगन तथा दीर्घ दृष्टि से कार्य संभालने की कुशलता अनुकरणीय है।

डॉ० देवेन्द्रकुमारजी जैन, इन्दौर के प्रति मैं हार्दिक आभार प्रगट करता हूँ, जिनके सक्षम निर्देशन में यह पुनीत कार्य सम्पन्न हुआ व जिन्होंने हमारे अनुरोध पर प्रस्तावना लिखने की भी कृपा की है।

डॉ० हीरालालजी माहेश्वरी ने शोध-प्रबंध के मुद्रण के लिये कई महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये, तथा भूमिका लिखने का हमारा आग्रह समयाभाव होते हुए भी स्वीकार किया, एतदर्थ हम उनके आभारी हैं।

अन्त में मैं श्री सोहनलालजी जैन, श्री राजमलजी जैन व जयपुर प्रिण्टर्स परिवार का भी पूर्णरूपेण आभारी हूँ, जिन्होंने दिन-रात एक करके इतने अल्प समय में ऐसा सुन्दर मुद्रण करके, ग्रन्थ आप लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया।

आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि यह ग्रंथ ऐतिहासिक, साहित्यिक व आध्यात्मिक दृष्टि से लाभदायक सिद्ध होगा।

द्वितीय संस्करण हेतु समुचित सुझावों की अपेक्षा के साथ,

ए-४, बापूनगर
जयपुर ३०२००४
दि० ५ अगस्त, १९७३ ई०

नेमीचंद पाटनी
मंत्री
पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

अपनी बात

आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी का विद्वत्ता और रचना-परिमाण की दृष्टि से हिन्दी गद्य साहित्य जगत में महत्त्वपूर्ण स्थान है, परन्तु उनके व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व पर अनुसंधानपरक अध्ययन अभी तक नहीं हुआ था। उनका नाम हिन्दी साहित्य के इतिहास में इसलिए नहीं आ सका क्योंकि उनकी रचनाएँ गद्य में थीं और ब्रजभाषा गद्य उस समय इतना लोकप्रिय नहीं था; तथा खड़ी बोली में गद्य का विकास इस द्रुतगति से हुआ कि १७वीं – १८वीं शती के ब्रजभाषा गद्य के मूल्यांकन की साहित्य के इतिहास के पंडितों ने आवश्यकता ही नहीं समझी। यदि वे गद्य की जगह पद्य लिखते तो इतिहासकार संभवतः उनका विशेष रूप से उल्लेख करते। हिन्दी जैन साहित्य के इतिहासों में भी उनके व्यक्तित्व और साहित्य का उल्लेख मात्र है।

दूसरा कारण यह भी रहा कि पंडितजी जैन अध्यात्म से सम्बद्ध थे। मुमुक्षु लोग पंडितजी की रचनाओं की विषय-वस्तु से ही संतुष्ट थे, उसके कलात्मक पक्ष या ऐतिहासिकता अथवा अभिव्यक्ति कौशल से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं था। जो भी हो, उनकी रचना (मोक्षमार्ग प्रकाशक) आज से ७६ वर्ष पूर्व विक्रम संवत् १९५४ (सन् १८९७ ई०) में सर्वप्रथम लाहौर से बाबू ज्ञानचन्दजी जैन ने प्रकाशित की थी। तब से उनकी रचनाएँ निरन्तर प्रकाशित ही नहीं होती रहीं, बल्कि पठन-पाठन की दृष्टि से भी लोकप्रिय रही हैं। उनका 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' अपने आप में अभूतपूर्व मौलिक आध्यात्मिक ग्रन्थ है।

यह तो हुई उनके साहित्य प्रकाश और परिचय की पहली भूमिका। दूसरी भूमिका में यद्यपि पंडितजी पर कुछ फुटकर निबंध और अखबारों के विशेषांक प्रकाशित हुए और सन् १९६४ ई० में पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट की स्थापना हुई तथा जयपुर में एक स्मारक भवन का निर्माण हुआ तथापि पंडितजी के व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व पर शोधपूर्ण अध्ययन नहीं हुआ।

पंडित टोडरमलजी के विशाल एवं गंभीर आध्यात्मिक साहित्य को देख उन पर शोधकार्य करने का मेरा विचार चल ही रहा था कि पंडितजी की जयन्ती के अवसर पर सन् १९६८ ई० में स्वर्गीय पंडित चैनसुखदासजी ने आग्रह के स्वर में मुझे उन पर शोध-कार्य करने के लिए कहा, जिसे मैंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के संचालकगण भी यह चाहते ही थे। उन्होंने सर्व प्रकार के सहयोग का आश्वासन देते हुए उक्त कार्य को शीघ्र ही आरम्भ करने का अनुरोध किया। यथाशीघ्र मैंने डॉ० देवेन्द्रकुमारजी जैन, तत्कालीन हिन्दी विभागाध्यक्ष, इन्दौर विश्वविद्यालय, इन्दौर के निर्देशन में अपना शोधकार्य प्रारंभ कर दिया।

अपने इस अध्ययन काल में सबसे बड़ी कठिनाई पंडितजी के जीवन सम्बन्धी तथ्यों की प्रामाणिक जानकारी संकलित करने में हुई। विभिन्न स्रोतों से अधिक से अधिक प्रामाणिक जानकारी प्राप्त करने का पूरा-पूरा यत्न किया गया एवं उसमें बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त हुई। मै चाहता था कि जयपुर राजघराने व शासकीय आलेख विभाग से उनके सम्बन्ध में मौलिक प्रमाणों को इकट्ठा करूँ, परन्तु यह संभव नहीं हो सका।

उनके प्राप्त साहित्य के आलोड़न में मैंने अपनी दृष्टि से कोई कसर बाकी नहीं रखी है। उसका गंभीर और बारीकी से पूरा-पूरा अध्ययन किया है, विशेषकर मोक्षमार्ग प्रकाशक की तो पंक्ति-पंक्ति से मैंने घनिष्टतम संपर्क स्थापित किया है। उनके सम्पूर्ण साहित्य का भाषा और शैली की दृष्टि से एवं ऐतिहासिक दृष्टिकोण से तो अध्ययन प्रस्तुत किया ही है; साथ ही उनके दार्शनिक और सैद्धान्तिक पक्षों का भी, उनके पूर्ववर्ती समग्र दिगम्बर जैन साहित्य-परम्परा के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन प्रस्तुत किया है। संदर्भ साहित्य विशेषत: हस्तलिखित साहित्य का प्राप्त करना स्वयं अपने आप में एक कठिनतर कार्य है। कई ग्रन्थों के अब तक प्रकाशित न होने से, हस्तलिखित प्रतियों से अध्ययन करना पड़ा है। यह सब कितना श्रम-साध्य कार्य है, इसे विद्वद्वर्ग अच्छी तरह जानता है।

पूर्व परिस्थितियों, जीवन, साहित्य, दर्शन, भाषा और शैली के सम्बन्ध में मैंने अपने अध्ययन के आधार पर कई नए तथ्य प्रस्तुत किए हैं और पुरानी धारणाओं का विनम्र निरसन भी किया है। अपने कथनों की प्रामाणिकता के लिए कतिपय महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित प्रतियों के चित्र तथा आवश्यक महत्त्व के उल्लेख यथास्थान दिए हैं। पूर्व अध्येताओं के प्रति मेरे हृदय में पूरा-पूरा सम्मान है एवं मेरे निष्कर्षों के संबंध में आगामी अनुकूल-प्रतिकूल शोधों के प्रति पवित्र जिज्ञासा भी है।

इस सन्दर्भ में जिन-जिन ग्रंथों और ग्रन्थकारों से ज्ञान लाभ लिया एवं उनका उपयोग किया, उनका उल्लेख यथास्थान किया गया है। बहुत से ग्रंथ ऐसे भी हैं जिनका इस सन्दर्भ में अध्ययन तो किया पर प्रस्तुत कृति में उपयोग नहीं हुआ, अतः उनका उल्लेख संभव नहीं था। उन सब के प्रति मै कृतज्ञ हूँ।

प्रस्तुत शोधाध्ययन सात अध्यायों में विभक्त है :-

प्रथम अध्याय में पंडित टोडरमलजी के पूर्व व समकालीन धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों तथा विचारधाराओं पर विचार किया गया है। साथ ही समकालीन राजनीतिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों की भी चर्चा है।

द्वितीय अध्याय पंडितजी के जीवन और व्यक्तित्व से संबंधित है – इसके अन्तर्गत उनके नाम, निवास, जन्म, मृत्यु, परिवार, गुरु, शिक्षा, व्यवसाय, कार्यक्षेत्र, प्रचारकार्य, सम्पर्क-सहचर्य, प्रतिभा, प्रभाव, प्रामाणिकता और स्वभाव पर प्रामाणिक प्रकाश डाला गया है।

तृतीय अध्याय में उनकी रचनाओं का वर्गीकरण एवं परिचयात्मक अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक रचना का नाम, परिमाण, रचनाकाल, रचनास्थान, प्रेरणा, उद्देश्य, वर्ण्य-विषय और रचनाशैली का प्रामाणिक परिशीलन प्रस्तुत कर अन्त में उनके पद्य साहित्य का परिचय एवं उसकी विशेषताओं पर विचार किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में जैनदर्शन एवं जैनागम परम्परा के परिप्रेक्ष्य में उनके द्वारा वर्णित वर्ण्य-विषय एवं दार्शनिक विचारों का परिशीलन किया गया है – जिसमें सम्यग्दर्शन, जीव-अजीव, कर्म, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य-पाप, देव-शास्त्र-गुरु, भक्ति, दैव और पुरुषार्थ, निमित्त-उपादान, सम्यग्ज्ञान, निश्चय-व्यवहारनय, जैनाभास, निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी, कुल अपेक्षा धर्म मानने वाले, आज्ञानुसारी जैनत्व, लौकिक प्रयोजन से धर्म साधना करने वाले, उभयाभासी, नयकथनों का मर्म और उनका उपयोग, चार अनुयोग, अनुयोगों का अध्ययन-क्रम, वीतरागता एक मात्र प्रयोजन, न्याय-व्याकरणादि शास्त्रों के अध्ययन की उपयोगिता, सम्यक्चारित्र, अहिंसा, भावों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, वक्ता, श्रोता, पढ़ने योग्य शास्त्र, वीतराग-विज्ञान, गृहीत-अगृहीत मिथ्याभाव, इच्छा, इच्छाओं के भेद, आदि विषयों का अनुशीलन किया गया है।

पंचम अध्याय में उनकी गद्य शैली पर प्रकाश डाला गया है। इसके अन्तर्गत दृष्टान्त, प्रश्नोत्तर आदि शैलीगत विशेषताओं पर सोदाहरण विवेचन किया है।

षष्ठ अध्याय में पंडितजी की भाषा पर विचार किया गया है। शब्द समूह – तत्सम, तद्भव, देशी, विदेशी; संज्ञा शब्द व उनके व्यक्तिवाचक, जातिवाचक, भाववाचक भेद; सर्वनाम – उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष, अन्य पुरुष; अव्यय – कालवाचक, स्थानवाचक, परिमाण-वाचक, गुणवाचक, प्रश्नवाचक, निश्चयवाचक एवं सामान्य अव्यय; शब्द विशेष के कई प्रयोग; कारक – कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध और अधिकरण; क्रियापद – साध्यमान धातु से बनी क्रियाएँ, देशी क्रियाएँ, प्रेरणार्थक क्रियाएँ, पूर्वकालिक क्रियाएँ एवं क्रिया के वर्तमान, भूत, भविष्य काल, आज्ञार्थ आदि रूपों पर विचार किया गया है। अन्त में निष्कर्ष रूप से उनकी भाषा की प्रकृति का विश्लेषण किया गया है।

सप्तम अध्याय में हिन्दी भाषा और साहित्य को पंडितजी के योगदान का मूल्यांकन करते हुए समस्त विषय का उपसंहार किया है।

अन्त में तीन परिशिष्ट दिये गए हैं। प्रथम परिशिष्ट में पं० टोडरमलजी के अनन्य सहयोगी साधर्मी भाई ब्र० रायमलजी द्वारा लिखित जीवन पत्रिका एवं इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका दी गई हैं। उनमें पंडितजी के जीवन के कई पहलू उजागर हुए हैं तथा उनमें उल्लिखित तथ्यों से उनके व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उनकी मूल प्रतियाँ प्राप्त हैं। उन्हें उसी रूप में छापा गया है, जिस रूप में वे हैं। मात्र विराम, अर्द्ध-विराम आदि अपनी ओर से लगाए हैं व आवश्यक शब्दार्थ टिप्पणी के रूप में दिए हैं। दूसरे परिशिष्ट में संदर्भ-ग्रंथों की सूची एवं तीसरे में नामानुक्रमणिका दी गई है। ग्रंथ के प्रारंभ में संकेत-सूची भी दी गई है।

पंडित टोडरमलजी के साहित्य, विशेषकर 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' का आध्यात्मिक मर्म समझने की दृष्टि मुझे पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी से प्राप्त हुई, उनके प्रति मैं श्रद्धानवत हूँ एवं उनका मंगल आशीर्वाद पाकर अपने को गौरवान्वित अनुभव करता हूँ।

अपने इस अध्ययन काल में डॉ० जैन ने न केवल भाषाशैली की दृष्टि से मुझे महत्त्वपूर्ण और मौलिक खोज के प्रति प्रेरित किया बल्कि कई प्रसंगों पर दार्शनिक व तात्त्विक चिन्तन में भी उनसे नई दृष्टि मिली। मेरे अनुरोध पर उन्होंने सारगर्भित प्रस्तावना भी लिखने की कृपा की है। मैं उनके प्रति शब्दों में क्या आभार व्यक्त करूँ। 'कुंदकुंदाचार्य से कानजी स्वामी तक की परम्परा पर शोधपूर्ण कार्य होना चाहिए' – प्रस्तावना में उनका यह सुझाव वास्तव में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

डॉ० हीरालालजी माहेश्वरी ने ग्रन्थ प्रकाशन के पूर्व कई महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए हैं एवं मेरे आग्रह पर विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिख दी है। भूमिका में उल्लिखित उनका यह आदेश कि 'टोडरमलजी की विचारधारा के समकालीन एवं परवर्ती प्रभावों पर शोधकार्य हो और वह भी मेरे द्वारा' – प्रस्तुत शोधकार्य व मेरे प्रति उनका सद्भाव है। मैं उनकी इस महानता के प्रति बहुत-बहुत आभारी हूँ।

डॉ० नरेन्द्रकुमारजी भानावत, प्राध्यापक, राजस्थान विश्व-विद्यालय, जयपुर ने भी समय-समय पर सत्परामर्श दिए एवं मेरे कार्य को बीच-बीच में देख कर सहयोग दिया है। मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

श्रीमान् सेठ पूरणचंदजी गोदीका – जिन्होंने पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट की स्थापना की और जयपुर में स्मारक भवन का भव्य निर्माण कार्य किया – की निरन्तर प्रेरणा एवं सर्व प्रकार के सक्रिय सहयोग का इस कार्य में महत्त्वपूर्ण योगदान है। उनके सहयोग के बिना यह कार्य सम्भव नहीं था। ट्रस्ट के सुयोग्य मंत्री श्री नेमीचंदजी पाटनी की निरन्तर प्रेरणा एवं सक्रिय सहयोग भी अविस्मरणीय है।

पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ने इस ग्रन्थ को प्रकाशित ही नहीं किया किन्तु लागत मूल्य पर पाठकों तक पहुँचाने का संकल्प किया तथा श्री सोहनलालजी जैन, जयपुर प्रिंटर्स ने आर्थिक लाभ की परवाह किए बिना इतनी शीघ्रता से इतना सुन्दर मुद्रण किया है–एतदर्थ मैं उनका भी आभारी हूँ। इसी प्रकार सर्व श्री खीमचंद भाई, श्री बाबू भाई, एवं मेरे अग्रज पंडित रतनचंद्र शास्त्री का सहयोग भी स्मरणीय है।

प्रत्येक स्तर पर निरन्तर सहयोग देने वाले श्री राजमलजी जैन, जयपुर प्रिण्टर्स के प्रति आभार व्यक्त कर उक्त कार्य के प्रति उनकी आत्मीयता को मैं कम नहीं करना चाहता हूँ। जैसा सहयोग पंडित टोडरमलजी को सम्यग्ज्ञानचंद्रिका के निर्माण में ब्र० रायमलजी से प्राप्त हुआ था, वैसा ही सहयोग इस कार्य में मुझे बन्धुवर श्री राजमलजी से प्राप्त हुआ है।

इस अवसर पर पूज्य पिताजी साहब के प्रति भी मैं गद्‌गद् हृदय से श्रद्धान्वित हूँ, जिन्होंने अनेक कठिनाइयों और विषमताओं के बीच मुझे इस योग्य बनाया तथा स्व० माताजी, जिनका वरद्‌हस्त छः माह पूर्व तक प्राप्त था, जो पच्चीस वर्ष तक रोग-शय्या पर रहने पर भी मेरे अध्ययन में सदा साधक ही बनी रहीं; के प्रति मैं विनम्र श्रद्धांजलि समर्पित करता हूँ।

डॉ० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल, श्री अनूपचन्दजी न्यायतीर्थ, श्री भंवरलालजी न्यायतीर्थ, पंडित हीरालालजी सिद्धांतशास्त्री, वैद्य गम्भीरचन्दजी जैन, ब्र० गुलाबचन्दजी आदि से भी आवश्यक साहित्य-सामग्री प्राप्त करने में तथा श्री हेमचंदजी जैन का पाण्डुलिपि तैयार करने में सराहनीय सहयोग रहा है। उन सबके प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूँ।

व्यवस्थापकगण – राजस्थान विश्वविद्यालय पुस्तकालय जयपुर, श्री सन्मति पुस्तकालय जयपुर, श्री दि० जैन बड़ा मन्दिर तेरापंथियान जयपुर, दि० जैन मंदिर दीवान भदीचंदजी जयपुर, दि० जैन मंदिर आदर्शनगर जयपुर, लाल भवन जयपुर, महावीर भवन जयपुर, दि० जैन मंदिर बड़ा धड़ा अजमेर, श्री सीमंधर जिनालय बम्बई, ऐ० प० सरस्वती भवन बम्बई-ब्यावर, दि० जैन मंदिर अलीगंज, श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़, वीर वाचनालय इन्दौर, पुस्तकालय शासकीय वाणिज्य एवं कला महाविद्यालय इन्दौर, दि० जैन कांच का मंदिर इन्दौर, श्री नेमिनाथ दि० जैन मंदिर रामाशाह इन्दौर, दि० जैन मारवाड़ी मंदिर शक्कर बाजार इन्दौर आदि से आवश्यक साहित्य-सामग्री प्राप्त करने में सुविधा रही है, उन सब के प्रति मै आभार व्यक्त करता हूँ। अंत में ज्ञात-अज्ञात जिन महानुभावों से भावात्मक एवं सक्रिय सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है, उन सब के प्रति मैं प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से आभार प्रदर्शित करता हूँ।

सब कुछ मिला कर प्रस्तुत कृति जैसी भी बन सकी है, आपके हाथ में है। यदि इससे हिन्दी साहित्य जगत व मुमुक्षु बन्धुओं को थोड़ा भी लाभ मिला, तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा। यद्यपि इसमें बहुत कुछ कमियाँ हो सकती हैं तथापि मैंने यह गुरुतर भार पूज्य पंडित टोडरमलजी के निम्नलिखित वाक्य को लक्ष्य में रखकर ही उठाया है :–

संशयादि होते किछू, जो न कीजिए ग्रंथ।
तो छद्मस्थनि कैं मिटै, ग्रंथ करन कौ पंथ ॥

– हुकमचन्द भारिल्ल

टोडरमल स्मारक भवन
ए–४, बापू नगर, जयपुर

शुद्धिपत्र

[नोट : कृपया पुस्तक पढ़ने से पूर्व निम्नलिखित अशुद्धियाँ अवश्य ठीक कर लें।]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	२३	कुमुन्द	कुमुद
३४	२३	कीया पीछें।	कीया। पीछें
६३	२८	रहे	रही
६४	६	औरतिही	औरनि ही
७२	१६	खंद्य	खंध
७३	२७	खंद	खंध
७४	२३	उनका	उनकी
१०६	२८	समवसरन	समवसरण
११६	६	यह	कह
१६५	२६	द्वीप	द्वेप
२१३	२३	सम्यक्त्वदिक	सम्यक्त्वादिक
२४६	१६	जुयचा	जुरचा
२७५	१	परिणामवाचक	परिमाणवाचक
२८६	१६	कर	करै
३०३	५	हो	हौं

संकेत सूची

अ०	अध्याय
अ० क०	अर्द्ध कथानक
आ०	आचार्य
आ० भा० टी०	आत्मानुशासन भाषाटीका
इ० वि० पत्रिका	इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका
ई०	ईस्वी
उ० प्र०	उत्तर प्रदेश
उ० भा० सं० प०	उत्तरी भारत की संत परम्परा
ऐ० प०	ऐलक पन्नालाल
क० ब० जी० कृ०	कविवर बनारसीदास : जीवनी और कृतित्व
च० सं०	चरचा संग्रह
जै० सा० इति०	जैन साहित्य और इतिहास : नाथूराम प्रेमी
टो० ज० स्मा०	टोडरमल जयन्ती स्मारिका
डॉ०	डॉक्टर
दि०	दिगम्बर
नं०	नम्बर
पं०	पंडित
प० प्र०	परमात्मप्रकाश
पी०	पीठिका
पु० जै० वा० सू०	पुरातन जैन वाक्य सूची
पु० भा० टी०	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषाटीका
प्र०	प्रशस्ति
प्रो०	प्रोफेसर
पृ०	पृष्ठ

बु० वि०	बुद्धि विलास
ब्र०	ब्रह्मचारी
ब्र० वि०	ब्रह्म विलास
बृ० वि०	बृन्दावन विलास
भ० सं०	भट्टारक सम्प्रदाय
भा० इ० एक दृष्टि	भारतीय इतिहास एक दृष्टि
भा० सं० जै० यो०	भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान
म० का० ध० सा०	मध्यकालीन धर्म साधना
मो० मा० प्र०	मोक्षमार्ग प्रकाशक, दिल्ली
मो० मा० प्र०, मथुरा	मोक्षमार्ग प्रकाशक, मथुरा
यु० प्र०	युक्ति प्रबोध
वि० सं०	विक्रम संवत्
शा० पु० व० प्र०	शान्तिनाथ पुराण वचनिका प्रशस्ति
स० चं०	सम्यग्ज्ञानचंद्रिका
सू०	सूत्र
ह० लि०	हस्तलिखित
हि० ग० वि०	हिन्दी गद्य का विकास
हि० जै० सा० इति०	हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास
हि० जै० सा० सं० इति०	हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास
हि० भा० उ० वि०	हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास
हि० सा० आ० इति०	हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
हि० सा० इति०	हिन्दी साहित्य का इतिहास
हि० सा० इति० 'रसाल'	हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामशंकर शुक्ल 'रसाल'
हि० सा०, द्वि० खं०	हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड
त्रि० भा० टी०	त्रिलोकसार भाषाटीका
ज्ञा० श्रा०	ज्ञानानंद श्रावकाचार

विषय-सूची

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

परिशिष्ट





मंगलमय मंगलकरण वीतराग विज्ञान।
नमौं ताहि जातैं भये अरहंतादि महान॥

करि मंगल करिहौं महाग्रंथ करन को काज।
जातैं मिलै समाज सब पावै निजपद राज॥

प्रथम अध्याय

पूर्व – धार्मिक व सामाजिक
विचारधाराएँ और परिस्थितियाँ

राजनीतिक परिस्थिति

साहित्यिक परिस्थिति

पूर्व – धार्मिक व सामाजिक विचारधाराएँ और परिस्थितियाँ

धर्म का मूल उद्गम चाहे जो हो परन्तु उसका लौकिक रूप सम्प्रदाय या उपसम्प्रदायों के रूप में ही विभक्त है। विश्व और विशेषतः भारत में धर्म और दर्शन दोनों एक दूसरे से अनुस्यूत हैं। दर्शन के द्वारा विवेचित तत्त्व का आचरण भी धर्म के अंतर्गत आ जाता है। धर्म के मनुष्य-सापेक्ष्य होने से देशकाल का प्रभाव उस पर भी पड़ता है। जैनधर्म भी इससे अछूता नहीं है।

प्रारंभ में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय के साधु वनवासी और नग्न हुआ करते थे।[1] कालान्तर में उनमें से कतिपय साधुओं ने मठों-मंदिरों में रहना एवं वस्त्रादि का उपयोग करना आरंभ कर दिया। डॉ० हीरालाल जैन लिखते हैं–

"जैन मुनि आदितः वर्षा ऋतु के चातुर्मास को छोड़ अन्य काल में एक स्थान पर परिमित दिनों से अधिक नहीं ठहरते थे और वे सदा विहार किया करते थे। वे नगर में केवल आहार व धर्मोपदेश के निमित्त ही आते थे और शेषकाल वन-उपवन में ही रहते थे किन्तु धीरे-धीरे पांचवी-छठी शताब्दी के पश्चात् कुछ साधु चैत्यालयों में स्थायीरूप से निवास करने लगे। इससे श्वेताम्बर समाज में वनवासी और चैत्यवासी सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये। दिगम्बर सम्प्रदाय में भी प्रायः उसी काल में कुछ साधु चैत्यों में रहने लगे।"[2]

---

[1] जै० सा० इति०, ४७६

[2] भा० सं० जै० यो०, ४५

विक्रम की आठवीं शती के प्रसिद्ध दार्शनिक श्वेताम्बर आचार्य हरिभद्र ने 'संबोध प्रकरण' के गुर्वधिकार मे मठवासी साधुओं के शिथिलाचार का वर्णन इस प्रकार किया है–

"ये कुसाधु चैत्यों और मठों में रहते हैं, पूजा करने का आरंभ करते हैं, देव-द्रव्य का उपभोग करते हैं, जिनमंदिर और शालाएं चिनवाते हैं। रंगविरंगे धूपवासित वस्त्र पहनते हैं, बिना नाथ के बैलों के सदृश स्त्रियों के आगे गाते हैं, आर्यिकाओं द्वारा लाए गये पदार्थ खाते हैं और तरह-तरह के उपकरण रखते हैं। जल, फल, फूल आदि संचित द्रव्यों का उपभोग करते हैं। दो तीन बार भोजन करते और ताम्बूल लवंगादि भी खाते हैं।

ये मुहूर्त निकालते हैं, निमित्त बतलाते हैं, भभूत भी देते हैं। ज्योनारों में मिष्ट आहार प्राप्त करते हैं, आहार के लिए खुशामद करते और पूछने पर भी सत्य धर्म नहीं बतलाते।

स्वयं भ्रष्ट होते हुए भी दूसरों से आलोचना-प्रतिक्रमण कराते है। स्नान करते, तेल लगाते, शृंगार करते और इत्र-फुलेल का उपयोग करते हैं।

अपने हीनाचारी मृतक गुरुओं की दाह-भूमि पर स्तूप बनवाते है। स्त्रियों के समक्ष व्याख्यान देते हैं और स्त्रियां उनके गुणों के गीत गाती हैं।

सारी रात सोते, क्रय-विक्रय करते और प्रवचन के बहाने विकथाएं करते हैं।

चेला बनाने के लिए छोटे-छोटे बच्चों को खरीदते, भोले लोगों को ठगते और जिन प्रतिमाओं को भी बेचते-खरीदते हैं। उच्चाटन करते और वैद्यक, यंत्र, मंत्र, गंडा, ताबीज आदि में कुशल होते हैं।

ये श्रावकों को सुविहित साधुओं के पास जाते हुए रोकते हैं, शाप देने का भय दिखाते हैं, परस्पर विरोध रखते हैं, और चेलों के लिये एक दूसरों से लड़ मरते हैं।"[१]

[१] जै० सा० इति०, ४८०-८१

जो लोग इन भ्रष्ट चरित्रों को मुनि मानते हैं, उनको लक्ष्य करके हरिभद्र ने लिखा है–

"कुछ नासमझ लोग कहते हैं कि यह तीर्थकरों का वेष है, इसे भी नमस्कार करना चाहिये। अहो! धिक्कार हो इन्हें! मैं अपने सिर के शूल की पुकार किसके आगे जाकर करूं?" [१]

दिगम्बर सम्प्रदाय में भी शैथिल्य पुराने समय से ही है तथा परिस्थितियाँ और मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलताएं उसे बराबर सींचती रहीं, जिसकी अंतिम परिणति भट्टारकों के रूप में हुई।

दिगम्बरों में चैत्यवास की प्रवृत्ति सर्वप्रथम द्राविड़संघी, काष्ठासंघी और माथुरसंघियों में आई। बाद में मूलसंघियों में भी चैत्यवास की प्रवृत्ति आगई। उक्त संदर्भ में नाथूराम प्रेमी लिखते हैं–

"गरज यह है कि द्राविड़संघ के संस्थापक वज्रनन्दि आदि तो पुराने चैत्यवासी हैं, जिन्हें पहिले ही जैनाभास मान लिया गया था और मूलसंघी उसके बाद के नये चैत्यवासी हैं, जिन्हें देवसेन (विक्रम सम्वत् ६६०) ने तो नहीं परन्तु उनके बहुत पीछे के तेरहपंथ के प्रवर्त्तकों ने जैनाभास बतलाया।" [२]

नवीं शती के आचार्य गुणभद्र के समय दिगम्बर मुनियों की प्रवृत्ति नगरवास की ओर विशेष बढ़ रही थी। इसकी कटु आलोचना करते हुये वे 'आत्मानुशासन' में कहते हैं "जिस प्रकार इधर-उधर से भयभीत गीदड़ रात्रि में वन को छोड़ गांव के समीप आ जाते हैं, उसी प्रकार इस कलिकाल में मुनिजन भी वन को छोड़ गांव के समीप रहने लगे हैं। यह खेद की बात है।" [३]

चैत्यवास की प्रवृत्ति के कारणों पर विशद प्रकाश डालते हुए डॉ० हीरालाल जैन लिखते हैं – "चैत्यवास की प्रवृत्ति आदितः सिद्धान्त

---

[१] बाला वयंति एवं वेसो तित्थंकराण एसो वि।
णमणिज्जो धिद्धी अहो सिरसूलं कस्स पुक्करिमो ॥७६॥ – संबोध प्रकरण

[२] जै० सा० इति०, ४८६

[३] इतस्ततश्च त्रस्यंतो विभावर्यां यथा मृगाः।
वनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः ॥१६७॥

के पठन-पाठन व साहित्य सृजन की सुविधा के लिये प्रारम्भ हुई होगी किन्तु धीरे-धीरे वह एक साधुवर्ग की स्थायी जीवन-प्रणाली बन गई, जिसके कारण नाना मंदिरों में भट्टारकों की गद्दियां व मठ स्थापित हो गये। इस प्रकार भट्टारकों के आचार में शैथिल्य व परिग्रह अनिवार्यतः आ गया।"[१]

दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों शाखाओं के साधु निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। निर्ग्रन्थ का अर्थ है – सर्वप्रकार के परिग्रहों से रहित। यद्यपि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में साधुओं को लज्जा-निवारण के लिये बहुत ही सादा वस्त्र रखने की छूट दी गई है[२] तथापि जिन शर्तों के साथ दी गई है वह न देने के ही बराबर है। वास्तव में अशक्ति या लाचारी में ही वस्त्र का उपयोग करने की आज्ञा है। 'संबोध प्रकरण' में बिना कारण कटिवस्त्र बांधने वाले साधुओं को क्लीव कहा गया है।[३]

काफी खोजबीन के बाद नाथूराम प्रेमी लिखते हैं – "इस बात के भी प्रमाण हैं कि प्राचीन काल में दिगम्बर और श्वेताम्बर प्रतिमाओं में कोई भेद न था। प्रायः दोनों ही नग्न प्रतिमाओं को पूजते थे। मथुरा के कंकाली टीले में जो लगभग दो हजार वर्ष की प्राचीन प्रतिमायें मिली हैं, वे नग्न हैं और उनपर जो लेख हैं वे कल्पसूत्र की स्थिरावली के अनुसार हैं।" इसके सिवा १७वीं शताब्दी में पं० धर्मसागर उपाध्याय ने अपने 'प्रवचन परीक्षा' नामक ग्रंथ में लिखा है – "गिरिनार और शत्रुंजय पर एक समय दोनों संप्रदायों में झगड़ा हुआ और उसमें शासन देवता की कृपा से दिगम्बरों की पराजय हुई। जब इन दोनों तीर्थों पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय का अधिकार हो गया, तब आगे किसी प्रकार का झगड़ा न हो, इसके लिये श्वेताम्बर संघ ने यह निश्चय किया कि अब से जो नई प्रतिमायें बनवाई जाएँ उनके पादमूल में वस्त्र का चिह्न बना दिया जाय।"[४]

---

[१] भा० सं० जै० यो०, ४५

[२] आचारांग प्र० श्रु० अध्ययन ६, उद्देश्य ३; द्वि० श्रु० अध्ययन १४ उद्देश्य १-२

[३] कीवो न कुणइ लोयं लज्जइ पडिमाइ जल्लमुवणेई।
सोवाहणो य हिंडइ, बंधई कटिपट्टयमकज्जे ।।१४।।

[४] जै० सा० इति०, ४६६

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में न केवल मुनियों द्वारा वस्त्र-ग्रहण की मात्रा बढ़ी किन्तु धीरे-धीरे तीर्थंकरों की मूर्तियों में भी कोपीन का चिह्न प्रदर्शित किया जाने लगा तथा मूर्तियों का आंख, अंगी, मुकुट आदि द्वारा अलंकृत किया जाना भी प्रारम्भ हो गया। इस कारण दिगम्बर और श्वेताम्बर मंदिर व मूर्तियाँ, जो पहले एक ही रहा करते थे, अब पृथक्-पृथक् होने लगे। ये प्रवृत्तियां सातवी-आठवीं शती से पूर्व नहीं पाई जाती हैं।[1]

ग्यारहवी शती के तार्किक विद्वान् सोमदेव शिथिलाचारी मुनियों की वकालत करते हुए लिखते है –

"यथा पूज्यं जिनेन्द्राणां रूपं लेपादि निर्मितं।
तथा पूर्वमुनिच्छायाः पूज्याः संप्रति संयता॥"[2]

"भुक्तिमात्र प्रदाने हि का परीक्षा तपस्विनाम्।
ते सन्तः संत्वसन्तो वा गृही दानेन शुद्धचति॥
सर्वारंभप्रवृत्तानां गृहस्थानां धनव्ययः।
वहुधाऽस्ति ततोऽत्यर्थं न कर्तव्या विचारणा॥"[3]

"जैसे लेप-पाषाणादि में बनाया हुआ अर्हतों का रूप पूज्य है वैसे ही वर्तमान काल के मुनि पूर्वमुनियों की छाया होने से पूज्य हैं।

भोजनमात्र देने में तपस्वियों की क्या परीक्षा करनी? वे अच्छे हों या बुरे, गृहस्थ तो दान देने से शुद्ध हो ही जाता है। गृहस्थ लोग अनेक आरम्भ करते हैं जिनमें उनका बहुत धन खर्च होता है, अतः साधुओं को आहार दान देने में उन्हें विचार नहीं करना चाहिये।"

पहले मठवासी हो जाने पर भी दिगम्बर साधु नग्न ही रहते थे पर उनका चरित्र शिथिल था। वि० सं० ११८१ में भट्टारक कुमुन्द-चन्द्र का शास्त्रार्थ श्वेताम्बर यति देवसूरि के साथ गुजरात के राजा सिद्धराज की सभा में हुआ था। उसके वर्णन में कुमुदचन्द्र के बारे में

---

[1] भा० सं० जै० यो०, ४४–४५

[2] यशस्तिलकचम्पू, उत्तरखण्ड, ४०५

[3] वही, ४०७

लिखा गया है कि वे पालकी पर बैठे थे, उन पर छत्र लगा हुआ था और वे नग्न थे।[१]

इससे स्पष्ट है कि व्यवहार में यद्यपि वस्त्र का उपयोग भट्टारकों में खुलकर होने लगा और उसे वैध-सा भी मान लिया गया तथापि तत्त्व की दृष्टि से नग्नता ही पूज्य मानी जाती रही। भट्टारक पद प्राप्ति के समय कुछ क्षणों के लिये ही क्यों न हो, नग्न अवस्था धारण करना आवश्यक रहा। कुछ भट्टारक मृत्यु समीप आने पर नग्न अवस्था लेकर सल्लेखना स्वीकार करते रहे।[२]

बारहवी शती के पंडितप्रवर आशाधर ने 'अनागार धर्मामृत' के दूसरे अध्याय में इन चैत्यवासी किन्तु नग्न साधुओं की चर्चा करते हुए लिखा है – "तथा तीसरे प्रकार के साधु वे हैं जो द्रव्यजिनलिंग को धारण करके मठों में निवास करते हैं और मठों के अधिपति बने हुए है और म्लेच्छों के समान आचरण करते हैं।[३]

परमात्मप्रकाशकार मुनिराज योगीन्दु भी केशलुंच करके जिनवर लिंग धारण करने वाले परिग्रहधारी साधुओं को लक्ष्य करके कहते हैं कि वे अपने को ठगने वाले और वमन का भक्षण करने वाले हैं।[४]

आगे चलकर उन्होंने चर्या और विहार के समय वस्त्र पहनना आरम्भ कर दिया किन्तु उसके बाद वे वस्त्र उतार देते थे। बारहवी शती से भारत में मुस्लिम राजसत्ता दृढ़मूल हुई। इस्लाम के अनुयायी मुसलमान विजेताओं का भारत पर आक्रमण एवं उनका देश के भीतरी भागों तक प्रवेश एक ऐसी घटना है जिसका नग्न मुनियों के स्थान पर भट्टारकों की स्थापना होने में बहुत बड़ा हाथ था।

---

[१] जैन निबंध रत्नावली, ४०५

[२] भ० सं० भूमिका, ४ एव लेखांक १६०

[३] "अपरे पुनर्द्रव्यजिनलिंगधारिणो मठपतयो म्लेच्छन्ति म्लेच्छा इवाचरन्ति। लोकशास्त्रविरुद्धमाचारं चरन्तीत्यर्थ" – जै० सा० इति०, ४८८

[४] केण वि अप्पउ वंचियउ सिरु लुंचिवि छारेण।
सयल वि संग ण परिहरिय जिणवर–लिंगधरेण ॥२।९०
जे जिण-लिंगु धरेवि मुणि इट्ठ-परिग्गह लेंति।
छद्दि करेविणु ते जि जिय सा पुणु छद्दि गिलंति ॥२।९१

आक्रामक के रूप में मुसलमानों का भारत प्रवेश अत्यन्त बर्बर एवं धार्मिक कट्टरता से युक्त था। यह राजनीतिक आक्रमण मूलतः धार्मिक मदान्धता और कट्टरता का प्रतिफल था। इतिहासकार सर जी. एस. देसाई इस्लामी शासकों की नीति की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि वे केवल राजनीतिक सत्ता को हस्तगत करके सन्तुष्ट नहीं हुये, वे भारत के मैदानों पर केवल विजेता और लुटेरे के रूप में नहीं उतरे, वरन् काफिरों के देश में अपने धर्म का प्रसार करने पर उतारू जेहादी योद्धाओं के रूप में आए। वे नियमित रीति से अपने धर्म को जनता पर बलात् लादने में तत्पर हो गए। हिन्दू मंदिर तोड़े गए, उनकी सुन्दर कलाकृतियों का विध्वंस हुआ, मूर्तियां नष्ट हुई, प्रस्तर-लेख मिटा दिये गए। इस प्रकार से ध्वंस से प्राप्त सामग्री से उन्होंने मसजिदें बनाई। कुफ्र को मिटाने और भारतीय जनता को इस्लाम के दामन में समेटने के लिये इन हृदयहीन और असभ्य धर्माधिकारियों ने हिन्दू धर्म के सार्वजनिक प्रदर्शन की मनाही कर दी तथा उसके अनुयायियों को कठोर दण्ड दिए। हिन्दुओं को अच्छे कपड़े पहनने की इजाजत नही थी और न भले आदमियों की तरह रहने और वैभवशाली दिखने की अनुमति थी। उन पर विक्षुब्ध कर देने वाले कर लगाये जाते थे और उनके अध्ययन और ज्ञान के केन्द्र बरबाद किये जाते थे।[1]

मुस्लिम शासकों की कोप दृष्टि मात्र हिन्दुओं पर ही न थी वरन् समस्त भारतीयों पर उन्होंने जुल्म ढाए थे। अतः उनके अत्याचारों से जैन भी अछूते न रहे और अन्य भारतीय धर्मों की भांति जैन धर्म पर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ा।

'षटप्राभृत टीका' में भट्टारक श्रुतसागर सूरि[2] ने लिखा है कि कलिकाल में म्लेच्छादि (मुसलमान वगैरह) यतियों को नग्न देखकर उपद्रव करते हैं, इस कारण मण्डप दुर्ग (मांडू) में श्री वसन्तकीर्ति स्वामी ने उपदेश दिया कि मुनियों को चर्या आदि के समय चटाई,

---

[1] न्यू हिस्ट्री ऑफ दि मराठाज, २६

[2] नाथूराम प्रेमी ने इनका समय सोलहवीं शती माना है।
— जै० सा० इति०, ३७५

टाट आदि से शरीर ढक लेना चाहिए और फिर चर्या के बाद उस चटाई आदि को छोड़ देना चाहिए । यह अपवाद वेष है ।[१]

मूलसंघ की गुर्वावली में चित्तौड़ की गद्दी के भट्टारकों के जो नाम दिये हैं उनमें वसन्तकीर्ति का नाम आता है जो वि० सं० १२६४ के लगभग हुये हैं । उस समय उस ओर मुसलमानों का आतक भी बढ़ रहा था ।[२] इन्हीं को श्रुतसागर ने अपवाद भेष का प्रवर्त्तक बतलाया है ।

इससे यह प्रतीत होता है कि तेरहवीं शती के अन्त में दिगम्बर साधु बाहर निकलते समय उपद्रवों के डर से चटाई आदि का उपयोग करने लगे थे ।

'परमात्मप्रकाश' की संस्कृत टीका में योगीन्दुदेव शक्ति के अभाव में साधु को तृणमय आवरणादि रखने परन्तु उस पर ममत्व न रखने की बात करते हैं ।[3]

वि० सं० १२९४ में श्वेताम्बर आचार्य महेन्द्रसूरि ने 'शतपदी' नामक ग्रंथ बनाया जो १२६३ में बनी धर्मघोष की 'प्राकृत शतपदी' का अनुवाद है । वे उसके 'दिगम्बर मत विचार' वाले प्रकरण में लिखते हैं –

"यदि तुम दिगम्बर हो तो फिर सादड़ी[४] और योगपट्ट[५] क्यों ग्रहण करते हो ? यदि कहो पंचमकाल होने से और लज्जा परीषह

---

[१] (क) कोऽपवाद वेष : ? कलौ किल म्लेच्छादयो नग्नं दृष्टवोपद्रवं यतीनां कुर्वन्ति तेन मण्डपदुर्गे श्रीबसन्तकीर्तिना स्वामिना चर्यादिवेलायां तट्टीसादरादिकेन शरीरमाच्छाद्य चर्यादिकं कृत्वा पुनस्तन्मुंचतीत्युपदेशः कृतः संयमिनां, इत्यपवादवेषः । – षटप्राभृत टीका, २१

(ख) भ० सं०, लेखांक २२५

[२] जैन हितैषी भाग ६, अंक ७-८

[3] विशिष्टसंहननादिशक्त्यभावे सति यद्यपि तपःपर्यायशरीरसहकारिभूतमन्नपानसंयमशौचज्ञानोपकरणतृणमयप्रावरणादिकं किमपि गृह्णाति तथापि ममत्वं न करोतीति । – प० प्र०, २०६

[४] घास या ताड़ खजूर के पत्तों से बनी हुई चटाई को सादड़ी कहते है ।

[५] योगपट्ट रेशमी कपड़ा रंगा कर बनाया जाता था ।

सहन न होने से आवरण डाल लेते हैं, तो फिर उसे पहनते क्यों नहीं ? क्योंकि ऐसा तो निषेध कहीं है नहीं कि प्रावरण रखना परन्तु पहनना नहीं। और वह प्रावरण भी जैसे-तैसे मिले हुए प्रासुक वस्त्र से क्यों नहीं बनाते हो ? धोबी आदि के हाथ से जीवाकुल नदी तालाब में क्यों धुलवाते हो और बिना सोधे ईंधन से जलाई हुई आग के द्वारा उसे रंगाते भी क्यों हो ?"[1]

इससे स्पष्ट है कि विक्रम की तेरहवीं शती तक सादड़ी और योगपट्ट आ गये थे। आगे चलकर दिगम्बर साधुओं ने वस्त्र धारण करना जायज-सा मान लिया। भट्टारक श्रुतसागर ने तत्त्वार्थसूत्र की संस्कृत टीका में लिखा है कि द्रव्यलिंगी मुनि शीतकाल में कम्बलादि ले लेते हैं और दूसरे समय में उन्हें त्याग देते हैं।[2]

इसके बाद तो वस्त्र धारण में बाहर जाने के समय एवं शीतादि के समय की ही कोई सीमा नहीं रही, उनका खूब खुलकर उपयोग होने लगा। गद्दे-तकिये भी आगये। यहां तक कि पालकी, छत्र-चंवर आदि राजसी ठाटबाट भी परम दिगम्बर मुनियों (भट्टारकों) ने स्वीकार कर लिए।

पूर्वोक्त 'शतपदी' के अनुसार उस समय दिगम्बर साधु मठों में रहते थे, अपने लिए पकाया हुआ (उद्दिष्ट) भोजन करते थे, एक ही स्थान पर महीनों रहते थे, शीतकाल में अंगीठी का सहारा लेते थे, पयाल के बिछौने पर सोते थे, तेल मालिश कराते थे। सर्दी के मारे जिन मंदिरों के गूढ़ मण्डप (गर्भालय) में रहते थे। कपड़े के जूते, धोती, दुपट्टे पहनते और खदिरवटी आदि औषधियाँ रखते थे। मंत्र, तंत्र, ज्योतिष आदि विद्याओं का उपयोग करते थे।[3] इस सम्बन्ध में पंडित आशाधरजी ने एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें

---

[1] जैन० सा० इति०, ४६१

[2] द्रव्यलिंगिन: असमर्थामहर्षय: शीतकालादौ कम्बलादिकं गृहीत्वा न प्रक्षालयन्ते न सीव्यन्ति न प्रयत्नादिकं कुर्वन्ति अपरकाले परिहरंतीति।

— अ० ६ सूत्र ४७

[3] जै० सा० इति०, ४६२

कहा गया है कि भ्रष्ट चरित्र पंडितों और वठर मुनियों ने जिनदेव का निर्मल शासन मलिन कर दिया है।[१]

वह युग ही उथल-पुथल का था। एक ओर शिथिलता बढ़ रही थी तो दूसरी ओर उसकी आलोचना भी डट कर हो रही थी। उस समय मात्र जैनियों में ही नहीं वरन् प्रत्येक भारतीय धर्म मे शिथिलाचार और उसका विरोध क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में हो रहा था। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी लिखते हैं –

"उस समय न केवल बौद्ध तथा जैन ही, अपितु स्वयं वैष्णव, शाक्त, शैव जैसे हिन्दू सम्प्रदायों ने भी अपने-अपने भीतर अनेक मतभेदों को जन्म दे रखा था। इनमें से सबने वेदों को ही अपना अंतिम प्रमाण बना रखा था और उनमें से कतिपय उद्धरण लेकर तथा उन्हें वास्तविक प्रसंगों से पृथक करके वे अपने-अपने मतानुसार उन पर मनमाने अर्थों का आरोप करने लगे थे। इसके सिवाय कुछ मतों ने वेदों की भांति ही पुराणों तथा स्मृतियों को भी प्रधानता दे रखी थी। अतएव इनके पारस्परिक मतभेदों के कारण एक को दूसरे के प्रति द्वेष, कलह या प्रतियोगिता के प्रदर्शन के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन मिला करता था और बहुधा अनेक प्रकार के झगड़े खड़े हो जाते थे।"[२]

इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुये वे लिखते हैं – "इधर बौद्ध धर्म का उस समय पूर्ण ह्रास होने लगा था। शंकराचार्य तथा कुमारिल भट्ट जैसे विरोधी प्रचारकों के यत्नों द्वारा वह प्रायः निर्मूल-सा होता जा रहा था। उस समय जैन धर्म तथा शैव और वैष्णव सम्प्रदायों के भीतर भिन्न-भिन्न संगठन हो रहे थे। इस्लाम के अंदर भी सूफी सम्प्रदाय अपना प्रचार करने लगा था।"[३]

शंकराचार्य के प्रबल प्रहारों से बौद्ध धर्म के तो भारत से पैर ही उखड़ गये। जैन धर्म को भी प्रबल आघात लगा और आगे चल कर

---

[१] पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैर्वठरैश्च तपोधनैः।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम्।। – जै० सा० इति०, ४८८

[२] उ० भा० सं० प०, २८

[३] वही, १२६

उसकी साधना-पद्धति एवं वाह्याचार भी प्रभावित हुये बिना न रहे। शंकराचार्य द्वारा स्थापित मठों के अनुकरण पर भट्टारक गद्दियां स्थापित हो गई। शंकराचार्य के कार्यकलापों का वर्णन करते हुए आचार्य परशुरामजी लिखते हैं –

"शंकराचार्य (सं० ८४५-८७७) ने अपना मुख्य ध्येय बौद्ध तथा जैन जैसे अवैदिक धर्मों का इस देश से बहिष्कार कर अपने धार्मिक समाज में एकता स्थापित करना बना रखा था। इन्होंने अपने मत का मूल आधार श्रुति अर्थात् वैदिक साहित्य को ही स्वीकार किया और उसके प्रतिकूल जान पड़ने वाले मतों का खंडन तथा घोर विरोध किया। उक्त दोनों धर्मों के अनुयायियों को नास्तिक ठहरा कर इन्होंने हिन्दू धर्म के भिन्न-भिन्न प्रचलित संप्रदायों की कटु आलोचना भी की।"[1]

जब विभिन्न संस्कृतियाँ एक क्षेत्र व एक काल में अनुकूल व प्रतिकूल घनिष्टतम सम्पर्क में आती हैं तो उनमें परस्पर न्यूनाधिक प्रभाव पड़ता ही है एवं उनमें परस्पर बहुत कुछ आदान-प्रदान भी होता ही है। जैन धर्म और संस्कृति ने भी प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप में अन्य भारतीय संस्कृतियों को प्रभावित किया है तथा वह भी उनके प्रभावों से अछूती नहीं रही। जैनियों के अल्पसंख्यक होने के कारण उन पर यह प्रभाव विशेष देखने में आता है। भट्टारक युग में व्यापक समाज के साथ अपना तालमेल बैठाने के लिए उन्होंने शैव और वैष्णव क्रियाओं का अनुकरण किया। राजस्थान के इतिहास में इस प्रकार के कई उदाहरण मिल जायेंगे कि एक ही कुल में जैन और शैव साधना चलती थी। विशेषकर वैदिक संप्रदायों का अद्भुत प्रभाव श्रमण संस्कृति पर पड़ा। इससे जैन समाज का ढांचा बिल्कुल ही वदल गया। एक सवर्ण हिन्दू की तरह जैन भी जातिसिद्ध उच्चता पर विश्वास करने लगे। सामाजिक और वैधानिक मामलों में भी जैनियों ने प्रायः पूरी तरह वैदिकों का अनुकरण किया। उस समय की कुछ मांग ही ऐसी ही थी। भट्टारक पीठों में भी कई दृष्टियों से

[1] उ० भा० सं० प०, ३४

वैदिक पद्धतियों का प्रवेश हुआ। पद्मावती आदि देवियों को काली, दुर्गा या लक्ष्मी का ही रूपान्तर माना जाने लगा।[१] भट्टारकों की मंत्र-तंत्र साधना पर तांत्रिकों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। मंत्र और तंत्र ही एक मात्र आत्मरक्षा के उपाय मान लिये गए थे।[२] भट्टारक लोग मंत्रों और तंत्रों के चमत्कार दिखाकर लोगों को चमत्कृत करने लगे थे तथा इन्हीं माध्यमों से अपने प्रभाव का विस्तार कर रहे थे।[३] तांत्रिकों का अन्य धर्मों पर प्रभाव स्पष्ट करते हुए डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं – "तंत्रों का यह प्रभाव केवल ब्राह्मणों पर ही नहीं पड़ा अपितु जैन और बौद्ध सम्प्रदायों पर भी यह प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। बौद्ध धर्म का अन्तिम रूप तो इस देश में तांत्रिक ही रहा।"[४]

जब भारतवर्ष में मंदिर तोड़े जा रहे थे एवं मूर्तियाँ खंडित की जा रही थी, तब प्रायः सभी धर्मों में मूर्ति पूजा विरोधी सम्प्रदाय उठ खड़े हुए थे। कबीर की यह आवाज –

> "पाहन पूजै हरि मिले, तो मैं पूजूं पहार।
> तातें यह चक्की भली, पीस खात संसार।।"

युग की आवाज बन रही थी। तब अर्थात् १५ वी, १६ वीं शती में उक्त जैन सम्प्रदाय में भी एक मूर्ति पूजा विरोधी क्रांति ने जन्म लिया। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में लोकाशाह द्वारा मूर्ति पूजा विरोधी उपदेश प्रारम्भ हुआ, जिसके फलस्वरूप स्थानकवासी सम्प्रदाय की स्थापना हुई। यह सम्प्रदाय ढूंढिया नाम से भी पुकारा जाता है। इस सम्प्रदाय में मूर्ति पूजा का विरोध किया गया है। इनके मंदिर नहीं किन्तु स्थानक होते हैं और ये मूर्ति की नहीं किन्तु आगमों की प्रतिष्ठा करते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ४५ आगमों में से कोई

---

[१] भ० सं० प्रस्तावना, १७

[२] बु० वि०, छंद १३१६-२२

[३] भ० सं० प्रस्तावना, १५

[४] म० का० ध० सा०, ६

बारह चौदह आगमों को वे इस कारण स्वीकार नहीं करते क्योंकि उनमें मूर्ति पूजा का विधान पाया जाता है।[1] इसी सम्प्रदाय में से १८ वीं शती के प्रारम्भ में आचार्य भिक्षु द्वारा तेरहपंथ की स्थापना हुई। वर्तमान में इस सम्प्रदाय के नवम आचार्य तुलसीगणी हैं, जिन्होंने अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया है।

दिगम्बर सम्प्रदाय में भी सोलहवीं शती में तारण स्वामी ने एक ऐसे ही पंथ की स्थापना की, जो तारण पंथ कहलाता है। इस पंथ के अनुयायी विशेष रूप से मध्यप्रदेश में पाये जाते हैं। तारण स्वामी का जन्म विक्रम संवत् १५०५ के अगहन मास की शुक्ला सप्तमी के दिन किसी पुष्पावती नगरी में हुआ था और इनकी जाति परवार थी। इनके पिता गाढ़ामूरी वासल्ल गोत्र के गढ़ाशाह थे। इनकी माता का नाम विमलश्री देवी[2] था। ये आजन्म ब्रह्मचारी रहे और इनकी वृत्ति अपनी बाल्यावस्था से ही बराबर वैराग्यपरक रही। ये एक प्रतिभाशाली एवं संयमशील पुरुष थे। इनका प्रारम्भिक जीवन सेमरखेड़ी[3] के निर्जन में बीता था तथा वेतवा नदी के तटवर्ती मुंगावली (मध्यप्रदेश) के निकट ग्राम निसई (मल्हारगढ़) में निवास करते हुए इन्होंने चौदह ग्रंथ लिखे। तारण स्वामी के ग्रंथों के देखने से पता चला है कि उनमें मूर्ति पूजा के विरोध और समर्थन में कहीं भी कुछ भी नहीं लिखा गया है। उनके सभी ग्रंथ विशुद्ध आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक एवं आचार सम्बन्धी ग्रन्थ हैं किन्तु उनके अनुयायियों द्वारा निर्मित चैत्यालयों में मूर्तियाँ नहीं हैं। अन्य मंदिरों के समान वेदियाँ तो है पर उनमें मूर्तियों के स्थान पर शास्त्र विराजमान रहते हैं। पता नहीं उक्त सम्प्रदाय में मूर्ति पूजा विरोध कब से और कहां से आया? यह एक शोध का विषय है। तारण स्वामी पर साहित्यिक और सामाजिक दृष्टि से भी शोध आवश्यक है। उन पर किया गया शोध कार्य हिन्दी साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण योगदान होगा।

---

[1] भा० सं० जै० यो०, ४५

[2] तारण पंथ के वर्तमान प्रसिद्ध विद्वान पं० जयकुमार शास्त्री छिंदवाड़ा से सम्पर्क करने पर उन्होंने बताया कि तारण स्वामी की मां का नाम वीरश्री था।

[3] यह गांव म० प्र० के सिरोंज नामक नगर से पांच मील दूर है।

इन सब बातों का प्रभाव यह हुआ कि सैद्धान्तिक पक्ष के अतिरिक्त बाह्याचार में साधारण जैनियों और हिन्दुओं में बहुत कम अन्तर रह गया। परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में "उनका (जैनियों का) मुख्य ध्येय पूर्ववत् स्थिर न रह सका और विक्रम की ९ वीं, १०वीं शताब्दी तक आकर उनकी साधना के अन्तर्गत विविध बाह्याचारों का समावेश हो गया। समकालीन हिन्दू और बौद्ध पद्धतियों से वे बहुत कुछ प्रभावित हो गये और इन धर्मों के साधारण अनुयायियों में बहुत कम अन्तर दीख पड़ने लगा।"[1]

उपरोक्त परिस्थितियों में भट्टारकों का स्वरूप साधुत्व से अधिक शासकत्व की ओर झुका और अन्त में यह प्रकट रूप से स्वीकार भी किया गया।[2] वे अपने को राजगुरु कहलाते थे और राजा के समान ही पालकी, छत्र-चंवर, गादी आदि का उपयोग करते थे। वस्त्रों में भी राजा के योग्य ज़री आदि से सुशोभित वस्त्र उपयोग किये जाते थे। कमण्डलु और पिच्छि में सोने-चांदी का उपयोग होने लगा था। यात्रा के समय राजा के समान ही सेवक-सेविकाओं और गाड़ी-घोड़ों का इन्तजाम रखा जाता था तथा अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र का रक्षण भी उसी आग्रह से किया जाता था। इसी कारण भट्टारकों का पट्टाभिषेक राज्याभिषेक की तरह बड़ी धूम-धाम से होता था। इसके लिये पर्याप्त धन खर्च किया जाता था।[3] इनके उपदेश से नये-नये सिद्ध क्षेत्र, अतिशय क्षेत्र आदि स्थापित होने लगे। इन मंदिरों और तीर्थों के व्यय-निर्वाह के लिये धन संग्रह किया जाने लगा। धन संग्रह करने की नई-नई तरकीबें निकाली गईं और प्रबंध के लिए कोठियाँ खोल दी गईं। बहुत सी कोठियों की मालिकी भी

---

[1] उ० भा० सं० प०, ४७

[2] चन्द्रसुकीर्ति पट्टोधर राजसुकीर्ति राया मण रंजी।
बानारसि मध्य विवाद करी धरी मान मिथ्यातको मनकु भंजी॥
पालखी छत्र सुखासन राजित भ्राजित दुर्जन मनकु गजी।
हीरजी ब्रह्म के साहिब सद्गुरु नाम लिए भवपातक भंजी॥२१८॥
— भ० सं०, २८१ एवं लेखांक ७२५

[3] भ० सं० प्रस्तावना, ५

धीरे-धीरे भट्टारकों और महन्तों के अधिकार में आ गई और अन्त में उसने एक प्रकार से धार्मिक दुकानदारी का रूप धारण कर लिया[१]।

इस प्रकार भट्टारकों का प्रभुत्व समाज पर बढ़ता चला गया और समाज इनके शिकंजे में जकड़ता चला गया। मठों, मंदिरों और तीर्थों की व्यवस्था पर भट्टारकों का एकाधिकार हो गया। वे लोग उनकी व्यवस्था में सक्रिय भाग लेने लगे। यहां तक कि मंदिरों को दान में प्राप्त जमीन में खेती-बाडी भी करने लगे। कुछ प्राप्त दानपत्र व शिलालेख इसके ऐतिहासिक प्रमाण हैं[२]। आध्यात्मिकता का स्थान क्रियाकाण्ड ने ले लिया और प्रवृत्ति में शिथिलाचार उत्तरोतर बढ़ता ही चला गया। धार्मिक मान्यताओं में विकृति आगई। साधना के स्थान, आराधना के नाम पर आडम्बर और बाहरी क्रियाकाण्ड के स्थल मात्र बन कर रह गए। मंदिरों में ही जीमन और खेल-कूद होने लगे तथा वहीं पर उठना-बैठना, सोना-रहना और रांधा अन्न भगवान को चढ़ाना आदि वीतरागता के विपरीत क्रियाएं होने लगीं[३]। सांसारिक क्रियाओं में रत और सवस्त्र होते हुए भी भट्टारक लोग अपने को मुनि कहलाते थे। वे श्रावक संघ पर मनमाना शासन करने लगे। बात-बात पर श्रावकों से कर वसूल किया जाने लगा। पंडित टोडरमल संघपट्ट का उद्धरण देते हुए लिखते हैं :- जिनसे जन्म नहीं हुआ, जिन्होंने मोल नहीं लिया, जिनका कुछ कर्ज देना नहीं है, जिनसे किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी ये (भट्टारक) गृहस्थों को बैल के समान जोतते हैं, बलात् दान लेते हैं। इस संसार में कोई पूछने वाला भी नहीं है, कोई न्याय करने वाला भी नहीं है, क्या करें[४] ?

किसी में उनका विरोध करने की हिम्मत न थी। कोई कुछ कहने की हिम्मत करता तो मंदिरों से निकाल दिया जाता, समाज

---

[१] जै० सा० इति०, ४६६

[२] वही, ४८४,४८६

[३] वीरवाणी : टोडरमलांक, २८८

[४] मो० मा० प्र०, २६६

से बहिष्कृत कर दिया जाता। भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति के सांगानेर चातुर्मास के समय अमरचन्द गोदीका एवं उनके पुत्र सिद्धान्त-शास्त्रों के पाठी जोधराज गोदीका को मंदिर से धक्के मारकर मात्र इसलिए निकाल दिया था कि वे अध्यात्मप्रेमी थे और उनके व्याख्यान के बीच में वे उनसे प्रश्न किया करते थे[1]। शिथिलाचार पोषक श्रावकाचारों की रचनाएं भी उन्होंने कीं। तदनुसार श्रावकों में भी भ्रष्टाचार का प्रचार हुआ। विक्रम संवत् १४७८ में वासुपूज्य ऋषि ने 'दान शासन' नाम का एक ग्रन्थ बनाया। उसमें लिखा है :– श्रावकों को चाहिए कि वे मुनियों को दूध, दही, छाछ, घी, शाक, भोजन, आसन और नई, बिना फटी-टूटी चटाई और नये वस्त्र दें[2]। देवोपासना में भी आडम्बर का प्रवेश हुआ। श्रावकों के लिए धर्म-तत्त्व समझने की रोक लगा दी गई। अध्यात्म-ग्रन्थों के पठन-पाठन का भी निषेध कर दिया गया। उन साधुओं के मुख से जो वचन निकले वही ब्रह्म-वाक्य बन गए। मंत्र-तंत्रवाद के घटाटोप में भी जनता को उलझाए रखने का यत्न किया गया।

उक्त दुर्भाग्यपूर्ण राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के कारण जैन सम्प्रदाय में पं० बनारसीदास (वि० सं० १६४३-१७००) के समय तक धार्मिक शिथिलाचार में पर्याप्त वृद्धि हो चुकी थी।

---

[1] (क) सवत सोलासै पचोत्तरे, कातिकमास अमावस कारी।
कीर्तिनरेन्द्र भटारक सोभित, चातुर्मास सागावति धारी॥
गोदीकारा उधरो अमरोसुत शास्त्रसिधन्त पढ़ाइयो भारी।
बीच ही बीच बखानमैं बोलत, मारि निकार दियौ दुख भारी॥
– चन्द्रकवि : अ० क० भूमिका, ५२

(ख) तिनमैं अमरा भौसा जाति गोदीका यह ब्योंक कहाति।
धन को गरव अधिक तिन धरघौ जिनवाणी कौ अविनय करघो॥३१॥
तब ताकौ श्रावकनि बिचारि, जिनमंदिर तैं दयौ निकारि।
– मिथ्यात्व खंडन

[2] दुग्धध्रीधनतक्राज्यशाकभक्ष्यासानदिकं।
नवीनमव्ययं दद्यात्पात्राय कटमम्बरम्॥
– जै० सा० इति०, ४६१

आहार-विहार में, धार्मिक क्रियाओं तथा वस्त्रादि के उपयोग में कोई मर्यादा न रह गई थी। साधुजन अपने प्रत्येक शिथिलाचार को 'आपद्धर्म' कहकर अथवा स्वयं को सुधारवादी कहकर ढकते चले जा रहे थे। धार्मिक दृढ़ता (कट्टरता नहीं) का प्रायः अभाव होता जा रहा था[1]। विक्रम की १७ वीं शती में पं० बनारसीदास ने जिस शुद्धाम्नाय का प्रचार किया और जिसे वि० की उन्नीसवीं शती में पं० टोडरमल ने प्रौढता प्रदान की वह इन भट्टारकों के विरोध में ही था।

श्वेताम्बराचार्य महामहोपाध्याय मेघविजय ने वि० सं० १७५७ के लगभग आगरा में रहकर एक 'युक्तिप्रबोध' नामक प्राकृत ग्रंथ स्वोपज्ञ संस्कृत टीका सहित बनाया था। उसका उद्देश्य बनारसी मत खण्डन ही था। उसका दूसरा नाम भी 'बनारसी मत खण्डन' रखा है। उसमें लिखा है कि बनारसी मत वालों की दृष्टि में दिगंबरों के भट्टारक भी पूज्य नहीं हैं। जिनके तिल-तुष मात्र भी परिग्रह है, वे गुरु नहीं है[2]।

धार्मिक शिथिलता और बाहरी आडम्बर के विरुद्ध यह सफल क्रांति अध्यात्मपंथ या तेरहपंथ (तेरापंथ)[3] के नाम से जानी जाती है। इसने मठपति भट्टारकों की प्रतिष्ठा का अन्त कर दिया और

---

[1] क० ब० जी० कृ०, ७६

[2] तम्हा दिगम्बराणं एए भट्टारगा वि णो पुज्जा।
तिलतुसमेत्तो जेसिं परिग्गहो णेव ते गुरुणो ॥१६॥

[3] तेरापंथ व तेरहपंथ ये दोनों नाम एक ही पंथ के अर्थ मे विभिन्न विद्वानों द्वारा विभिन्न स्थानों पर प्रयुक्त हुए है। जैसे :–

(क) १. कहै जोध अहो जिन **तेरापंथ** तेरा है।
– प्रवचनसार भाषा प्रशस्ति

२ हे भगवान म्हां तो थांका वचना के अनुसार चला हों तातै **तेरापंथी** हों। – ज्ञानानन्द श्रावकाचार

३ पूर्व रीति तेरह थीं, तिनकों उठा विपरीत चले, तातैं **तेरापंथ** भवै। – तेरहपंथ खंडन

४. कपटी **तेरापंथ** है जिनसो कपट कराहिं।
– मिथ्यात्व खंडन

उन्हें जड़ से उखाड़ फेंका[1]। श्री परशुराम चतुर्वेदी लिखते हैं, "ऐसे ही समय जैन धर्मावलम्बियों में कुछ व्यक्ति अपने समय के पाखंड और दुर्नीति की आलोचना करने की ओर अग्रसर हुए और उन्होंने अपनी रचनाओं और सदुपदेशों द्वारा सच्चे आदर्शों को सच्चे हृदय के साथ अपनाने की शिक्षा देना आरम्भ किया। उनका प्रधान उद्देश्य धार्मिक समाज में क्रमशः घुस पड़ीं अनेक बुराइयों की ओर सर्वसाधारण का ध्यान आकृष्ट कर उन्हें दूर करने के लिए उद्यत करना था[2]।"

उक्त तेरहपंथ में वाह्याचार की अपेक्षा आत्मशुद्धि पर विशेष बल दिया गया तथा बिना आत्मज्ञान के वाह्य क्रियाकाण्ड व्यर्थ माना गया। पूज्य के स्थान पर केवल पंचपरमेष्ठी को मान्य किया। पूजन में शुद्ध जलाभिषेक व प्रासुक द्रव्य को अपनाया। मूर्ति पर किसी प्रकार का लेप या पुष्पारोहण अमान्य ठहराया क्योंकि उससे वीतराग छवि में दूषण लगता है[3]।

तेरहपंथ की उत्पत्ति के बारे में पं० टोडरमल के समकालीन व प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी भट्टारकीय परम्परा के पोषक पंडित बखतराम साह विक्रम सम्वत् १८२१ में लिखते हैं कि यह पंथ सबसे पहले

(ख) १. लोगन मिलिकै मतौ उपायो, **तेरहपंथ** नाम अपनायो।
— मिथ्यात्व खंडन

२. या विषे भी **तेरहपंथी** सो अशुद्ध आम्नाय है।
— तेरहपंथ खंडन

३. जैन निबन्ध रत्नावली, प्राक्कथन, २६

[1] जै० सा० इति०, ४८३

[2] उ० भा० सं० प०, ४७

[3] (क) जिण पड़िमाणं भूषणमल्लारुहणाइ अंगपरियरणं।
बाणारसिओ बारइ दिगम्बरस्सागमाणाए ॥२०॥
— युक्तिप्रबोध

(ख) केसर जिनपद चरचिबो, गुरु नमिबो जगसार।
प्रथम तजी यह दोइ विधि मनमहि गणी असार॥
— मिथ्यात्व खंडन

वि० सं० १६८३ में आगरा में चला[१]। श्वेताम्बराचार्य मेघविजय (विक्रम की अठारवीं शती) ने वि० सं० १६८० में इसकी उत्पत्ति मानी है[२]। पं० टोडरमल के अनन्य सहयोगी साधर्मी भाई ब्र० रायमल लिखते हैं कि तेरापंथ तो अनादिनिधन है। जैन शास्त्रानुसार चला आया है। कोई नया पंथ नहीं है[३]।

वस्तुतः तेरहपंथ जैनियों का आध्यात्मिक मूलमार्ग है किन्तु कालवश आई हुई विकृतियों के विरुद्ध जो आध्यात्मिक क्रांति हुई और जिसे तेरहपंथ से पुकारा गया वह पं० बनारसीदास (वि० सं० १६४३–१७००) से आरंभ होती है, हालांकि उक्त धारा अपने क्षीणतम रूप में उसके पहिले भी प्रवाहित हो रही थी। बनारसीदास का इतना प्रभाव था कि जो भी व्यक्ति उनके सम्पर्क में आता, उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। व्यापारी लोग व्यापार के लिए आगरा आते थे और वहां से आध्यात्मिक रुचि लेकर वापिस जाते थे। इन आध्यात्मिक लोगों की प्रवृत्ति अध्ययन-मनन-चिन्तन और निरन्तर तत्त्वचर्चा करने की रहती थी[४]।

आगरा के बाद इसका प्रचार कामां[५] में हुआ[६]। एक पत्र प्राप्त हुआ है, जो वि० सं० १७४६ में कामां वालों ने सांगानेर के भाइयों के

---

[१] प्रथम चल्यो मत आगरे, श्रावक मिले कितेक।
सौलह से तीयासिए, गही कितू मिलि टेक ॥२०॥
– मिथ्यात्व खंडन

[२] सिरि विक्कम नरनाहा गएहिं सोलस सएहिं वासेहिं।
असि उत्तरेहिं जायं वाणारसि यस्य मयमेयं ॥१८॥
– युक्तिप्रबोध

[३] ज्ञानानन्द श्रावकाचार, ११६

[४] किते महाजन आगरे, जात करण व्यौपार।
बनि आवै अध्यातमी, लखि नूतन आचार ॥२६॥
ते मिलिके दिन रात बांचे चरचा करत नित ॥२७॥
– मिथ्यात्व खंडन

[५] कामां राजस्थान में भरतपुर के पास में है।

[६] फिर कामां में चलि पर्‌यौ, ताहीं के अनुसारि ॥२२॥
– मिथ्यात्व खंडन

नाम लिखा है[1]। इसमें लिखा गया है कि हमने इतनी बातें छोड़ दी हैं सो आप भी छोड़ देना – जिन-चरणों में केसर लगाना, बैठ कर पूजन करना, चैत्यालय भंडार रखना, प्रभु को जलौटपर रख कर कलश ढालना, क्षेत्रपाल और नवग्रहों का पूजन करना, मंदिर में जुआ खेलना और पंखे से हवा करना, प्रभु की माला लेना, मंदिर में भोजकों को आने देना, भोजकों द्वारा बाजे बजवाना, रांधा हुआ अनाज चढ़ाना, मंदिर में जीमन करना, रात्रि को पूजन करना, रथ-यात्रा निकालना, मंदिर में सोना आदि।

जयपुर के निकट सांगानेर में इसका प्रचार भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति के समय में हुआ[2]। भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति की उपस्थिति पं० नाथूराम प्रेमी, तर्क-वितर्क के बाद १७०३ वि० सं० में स्थिर करते हैं[3] जो युक्तिसंगत प्रतीत होती है। सांगानेर में उक्त तेरहपंथ के प्रचार के आरंभ होने का दिलचस्प वर्णन प्राप्त होता है जिसका उल्लेख आगे किया गया है।

तेरहपंथ के नामकरण के सम्बन्ध में भी विभिन्न अभिप्राय मिलते हैं। बखतराम साह लिखते हैं कि तेरह व्यक्तियों ने मिल कर यह पथ चलाया अतः इसका नाम तेरहपंथ पड़ गया। उनका कहना है कि सांगानेर में एक अमरचंद गोदीका (अमरा भौंसा) नामक सेठ थे, उन्हें धन का बहुत घमंड था। उन्होंने जिनवाणी का अविनय

---

[1] आई सांगानेर, पत्री कामां तैं लिखी।
फागुन चौदसि हेर, सत्रह सौ उनचास सुदी।।

– अ० क० भूमिका, ५२

नोट – यह पत्र लिखने वाले है कामां वाले हरिकिसन, चिन्तामणि, देवीलाल और जगन्नाथ। सांगानेर के जिन भाइयों के नाम यह पत्र लिखा गया, उनके नाम है – मुकुन्ददास, दयाचंद, महासिंह, छाजू, कल्ला, सुन्दर और बिहारीलाल।

[2] भट्टारक आमेर के नरेन्द्रकीर्ति सु नाम।
यह कुपंथ तिनके समय नयो चल्यो अघधाम।।२५।।

– मिथ्यात्व खंडन

[3] अ० क० भूमिका (शुद्धिपत्र), ११

किया था और उन्हें मंदिर से निकाल दिया गया था। तब उन्होंने क्रुद्ध होकर प्रतिज्ञा की कि मैं नया पंथ चलाऊँगा। उनके साथ बारह अध्यात्मी और शामिल हो गए। उनमें एक राजमंत्री भी था। उन्होंने एक नया मंदिर बना लिया। इस तरह एक नया पंथ चला दिया[१]।

इसी बात को चन्द्रकवि इस प्रकार लिखते हैं कि जब सांगानेर में नरेन्द्रकीर्ति भट्टारक का चातुर्मास था तब उनके व्याख्यान के समय अमरचंद गोदीका का पुत्र (जोधराज) जो सिद्धान्तशास्त्रों का ज्ञाता था, बीच-बीच में बहुत बोलता था। उसे व्याख्यान में से जूते मार कर निकाल दिया गया था। इससे चिढ़ कर अनादि से चली अन्य तेरह बातों का उत्थापन करके उसने तेरहपंथ चलाया[२]। यद्यपि

---

[१] तिनिमे अमरा भौसा जाति, गोदीका यह व्योक कहाति।
धन को गौरव अधिक तिन धर्यो, जिनवाणी को अविनय करयो ॥३१॥
तब वाकों श्रावकनि विचारि, जिन मंदिर ते दियो निकारि।
जब वाने कीनो क्रोध अनंत, कही चले हों नूतन पंथ ॥३२॥
तब वे अध्यातमी कितेक, द्वादश मिले सबै भए एक।
नये देहुरो बान्यो और........................
लोगन मिलिके मतो उपायो, तेरहपंथ नाम ठहरायो।
तिनि में मिलि नृपमंत्री एक, बांधी नये पंथ की टेक ॥३५॥
– मिथ्यात्व खंडन

[२] संवत् सोलासै पचोत्तरे कातिक मास अमावस कारी।
कीर्तिनरेन्द्र भट्टारक सोभित, चातुर्मास सांगावति धारी।
गोदीकारा उधरो अमरोसुत, सास्त्रसिधत पढ़ाइयो भारी।
बीच ही बीच बखानमैं बोलत, मारि निकार दियौ दुख भारी ॥
तदि तेरह बात उथापि धरी, इह आदि अनादि को पंथ निवार्यो।
हिन्दू के मारे मलेच्छ ज्यों रोवत, तैसे त्रयोदस रोय पुकार्यो।
पागरख्यां मारि जिनालय से बिडारि दिए,
तातैं कुभाव धारि न मानै गुरु जती कों।
झूठो दंभ धरै फिरै झूठ ही विवाद करे
छोड़े नांहि रीस जानहार कुगती कों ॥
– अ० क० भूमिका, ५२

चन्द्रकवि ने अमरचंद के पुत्र का नाम स्पष्ट रूप से जोधराज नहीं लिखा है, तथापि सिद्धान्तशास्त्रों के विशेष विद्वान् जोधराज गोदीका ने उनके द्वारा लिखित सम्यक्तकौमुदी[१] और प्रवचनसार भाषा[२] दोनों में ही स्वयं को सांगानेर निवासी अमरचंदजी का पुत्र बताया है। उक्त ग्रंथों का निर्माण-काल भी जो क्रमशः वि० संवत् १७२४[३] एवं १७२६[४] है, भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति के समय से मिलता है। 'धर्म सरोवर' ग्रंथ में भी ऐसे ही उल्लेख है[५]।

इस तरह का कठोर व्यवहार भट्टारकों के अनुयायी श्रावक लोग ही नहीं करते थे किन्तु भट्टारक लोग स्वयं भी उसमें प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से सक्रिय रहते थे। वे ऐसा करने के लिये श्रावकों को मात्र उकसाते ही नही थे वरन् स्पष्ट आदेश तक देते थे। उनके द्वारा लिखित टीका ग्रन्थों में भी इस प्रकार के उल्लेख पाए जाते हैं। सोलहवी शती के भट्टारक श्रुतसागर सूरि ने कुंदकुंदाचार्य के पवित्रतम ग्रंथ 'षट्पाहुड़' (षट्प्राभृत) की टीका करते हुए इस प्रकार की अनर्गल बाते लिखी हैं :-

"जब ये जिनसूत्र का उल्लंघन करे तब आस्तिकों को चाहिए कि युक्तियुक्त वचनों से इनका निषेध करें, फिर भी यदि ये कदाग्रह

---

[१] अमरपूत जिनवर-भगत, जोधराज कवि नाम।
वासी सांगानेर कौ, करी कथा सुखधाम।।

[२] ताकै राज सुचैन सौ कियो ग्रंथ यह जोध।
सांगानेर सुथानमैं हिरदै धारि सुबोध।।

[३] सवत् सत्तरहसौ चौबीस, फागुन बदी तेरस सुभ दीस।
सुकरवार को पूरन भई, इहै कथा समकित गुण ठही।।

[४] सत्रह से छब्बीस सुभ, विक्रम साक प्रमान।
अरु भादों सुदी पंचमी, पूरन ग्रंथ बखान।।

[५] जोध कवीश्वर होय वासी सांगानेर को।
अमरपूत जगसोय, वणिक जात जिनवर भगत।।

न छोड़ें तो समर्थ आस्तिक इनके मुंह पर विष्ठा से लिपटे हुए जूते मारें, इसमें जरा भी पाप नहीं है[१] ।"

स्वयंलिखित 'प्रवचनसार भाषा' के अन्त में जोधराज गोदीका तेरहपंथ की व्याख्या करते हुए लिखते हैं :- सब लोग, सती, क्षेत्रपाल आदि बारहपंथों में भटक रहे हैं परन्तु जोध कवि कहता है कि हे जिनदेव ! उक्त बारहपंथों से अलग आपके द्वारा बताया गया पंथ (मार्ग) ही 'तेरापंथ' है[२] ।

उक्त कथनों के आधार पर यह तो स्पष्ट है कि जयपुर निर्माण के पूर्व जयपुर के समीप सांगानेर में तेरहपंथ का प्रचार पं० टोडरमल के पूर्व अमरचंद भौंसा (गोदीका) या उनके पुत्र जोधराज गोदीका द्वारा हो चुका था। बखतराम साह उक्त घटना का सम्बन्ध अमरचंद गोदीका (अमरा भौंसा) से जोड़ते हैं, तो चन्द्रकवि अमरचंदजी के पुत्र कविवर जोधराज गोदीका से । हो सकता है कि जब उक्त घटना घटित हुई तब अमरचंद गोदीका और उनके पुत्र जोधराज गोदीका दोनों ही विद्यमान हों और दोनों से ही उक्त अप्रिय प्रसंग सम्बन्धित रहा हो । किसी ने पिता होने से अमरचंद गोदीका का उल्लेख कर दिया एवं किसी ने अधिक बुद्धिमान, विद्वान् एवं कवि होने से तथा धार्मिक कार्यों में विशेष सक्रिय होने से जोधराज के नाम का उल्लेख किया ।

---

[१] यदि जिनसूत्रमुल्लंघंते तदाऽऽस्तिकैर्युक्तिवचनेन निषेधनीयाः । तथापि यदि कदाग्रहं न मुञ्चन्ति तदा समर्थैरास्तिकैरुपानद्भिः गूथलिप्ताभिर्मुखैः ताडनीयाः तत्र पापं नास्ति । — षटप्राभृत टीका, ३

[२] कोई देवी खेतपाल बीजासनि मानत है,
कोई सती पित्र सीतला सौं कहै मेरा है ।
कोई कहै सांवलौ, कबीर पद कोई गावै,
केई दादूपंथी होई परे मोह घेरा है ।।
कोई ख्वाजै पीर माने, कोई पंथी नानक के,
केई कहै महाबाहू महारुद्र चेरा है ।
याही बारा पंथ में भरमि रह्यो सबै लोक,
कहै जोध अहो जिन तेरापंथ तेरा है ।।

उक्त विश्लेषण से दो प्रकार के मत सामने आते हैं। तेरापंथ के अनुयायी उसकी व्याख्या यह करते रहे कि अनादि से चला आया शुद्ध जैन अध्यात्म मार्ग ही तेरापंथ है, वह जिनेश्वर का ही पंथ है, उससे भिन्न नहीं। जोधराज के शब्दों में, "हे जिन ! तेरापंथ तेरा है"। पं० टोडरमल के अनन्य सहयोगी ब्र० रायमल 'ज्ञानानन्द श्रावकाचार' में लिखते हैं कि "हे भगवान म्हां तो थांका वचना के अनुसार चलां हों तातै तेरापंथी हों। ते सिवाय और कुदेवादिक कों म्हां नाहीं सेवे हैं (पृ० १११) तुमही ने सैवौ सौ तेरापंथी सों म्हां तुम्हारों आज्ञाकारी सेवक हों (पृ० ११५) सो तेरा प्रकार के चारित्र के धारक ऐसे निर्ग्रंथ दिगम्बर गुरु को माने और परिग्रहधारी गुरु को नाहीं माने ताते गुरु अपेक्षा भी तेरापंथी संभवे हैं" (पृ० ११२)। दूसरी ओर भट्टारक पंथी यथास्थितिवादी उसकी अलग व्याख्या करते है। पं० बखतराम साह तेरह मनुष्यों के मिलने से इसका नाम तेरापंथ पड़ा, कहते हैं। इसी प्रकार, चन्द्रकवि और पंडित पन्नालाल तेरह बातों को छोड़ देने से तेरहपंथ नाम पड़ा कहते हैं। पंडित पन्नालाल अपने 'तेरहपंथ खण्डन' नामक ग्रंथ में लिखते हैं कि तेरह बातें हटाकर नई रीति चलाने के कारण इसका नाम तेरहपथ पड़ा। उनके अनुसार वे तेरह बातें[1] ये हैं :–

(१) दश दिग्पालों को नहीं मानना।
(२) भट्टारकों को गुरु नहीं मानना।
(३) भगवान के चरणों में केसर का लेपन नहीं करना।
(४) सचित्त फूल भगवान को नही चढ़ाना।

---

[1] पूर्व रीति तेरह थी, तिनको उठा विपरीत चले, ताते तेरापथी भवे। तेरह पूर्व किसी ताका समाधान :–

दसदिकपाल उथापि[1] गुरुचरणां नहि लागे।[2]
केसरचरणां नहि धरै[3] पुष्पपूजा फुनि त्यागै[4] ॥
दीपक अर्चा छांडि[5] आसिका[6] माल न करही[7]।
जिन न्हावण ना करै[8] रात्रिपूजा परिहरही[9] ॥
जिन शासन देव्यां तजी[10] रांध्यौ अन्न चहौड़ै नहीं[11]।
फल न चढ़ावै हरित[12] फुनि बैंठिर पूजा करै नहीं[13] ॥
ये तेरै उर धारि पंथ तेरै उरथप्पे।
जिनशासन सूत्र सिद्धांतमांहि ला वचन उथप्पे ॥

(५) दीपक से पूजा नहीं करना।
(६) आसिका नहीं लेना।
(७) फूलमाल नहीं करना।
(८) भगवान का अभिषेक (पंचामृत अभिषेक) नहीं करना।
(९) रात में पूजन नहीं करना।
(१०) शासन देवी को नहीं पूजना।
(११) रांधा अन्न भगवान को नहीं चढ़ाना।
(१२) हरे फलों को नहीं चढ़ाना।
(१३) बैठ कर पूजन नहीं करना।

उक्त सन्दर्भ में पं० नाथूराम प्रेमी लिखते है, "बहुत संभव है कि ढूढ़ियों (श्वेताम्बर स्थानकवासियों) में से निकले हुए तेरापंथियों के जैसे निंद्य बतलाने के लिए भट्टारकों के अनुयायी इन्हें तेरापंथी कहने लगे हों और धीरे-धीरे उनका दिया हुआ यह कच्चा 'टाइटल' पक्का हो गया हो – साथ ही वे स्वयं तेरह से बड़े बीसपंथी कहलाने लगे हों। यह अनुमान इसलिए भी ठीक जान पड़ता है कि इधर के सौ-डेढ़सौ वर्ष के ही साहित्य में तेरापंथ के उल्लेख मिलते है, पहले के नहीं[१]।

प० नाथूराम प्रेमी का उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि उसके पहले के दिगम्बर तेरापंथ सम्बन्धी कई उल्लेख प्राप्त हैं। लगभग ३०० वर्ष पूर्व के कविवर जोधराज गोदीका के 'प्रवचनसार भाषा प्रशस्ति' एवं कामां वालों के सांगानेर वालों को लिखे गए पत्र के उल्लेख किए जा चुके हैं। पं० बखतराम साह ने वि० सं० १६८३ में तथा श्वेताम्बराचार्य मेघविजय ने वि० सं० १६८० में दिगम्बर जैन तेरापंथ की उत्पत्ति मानी है, इनकी चर्चा भी की जा चुकी है। दूसरी ओर श्वेताम्बर तेरापंथ की स्थापना ही विक्रम की १९वी शती के पूर्वार्द्ध में हुई है[२]। इस प्रकार, दिगम्बर तेरहपंथ, श्वेताम्बर तेरापंथ से

[१] जै० सा० इति०, ४६३
[२] (क) जैन सा० इति०, ४६३
(ख) वल्लभ संदेश, १६

प्राचीन है। अतः अधिक संभावना यही है कि क्रांतिकारी सुधारवादी दिगम्बर तेरापंथियों, जिन्होंने भट्टारकों के विरुद्ध सफल आध्यात्मिक क्रांति की थी, के अनुकरण पर श्वेताम्बर तेरापंथियों ने अपना नाम तेरापंथी रखना ठीक समझा हो।

तेरापंथ के नामकरण के सम्बन्ध में हुए विचार-विमर्श से सही रूप में यह पता तो नहीं चलता कि इस नामकरण का वास्तविक रहस्य क्या है? किन्तु यह पता अवश्य चलता है कि तेरापंथ प्राचीन शुद्धाम्नायानुसार जैन पंथ है एवं उसमें आई हुई विकृतियों के विरुद्ध जो आन्दोलन हुआ वह सत्रहवीं शती में आरंभ हुआ; तथा भट्टारकीय प्रवृत्ति के यथास्थितिवादी लोग इसे एक नवीन पंथ कह कर आलोचना करते रहे और इसे जैन मार्ग से अलग घोषित करते रहे। तेरापंथ को नया पंथ कहकर उपेक्षा करने वालों के प्रति पं० टोडरमल कहते हैं, "जो अपनी बुद्धि करि नवीन मार्ग पकरै, तौ युक्त नाही। जो परम्परा अनादिनिधन जैनधर्म का स्वरूप शास्त्रनिविषैं लिख्या है, ताकि प्रवृत्ति मेटि बीचि में पापी पुरुषा अन्यथा प्रवृत्ति चलाई, तौ ताकौ परम्परा मार्ग कैसे कहिए। बहुरि ताकौं छोड़ि पुरातन जैन शास्त्रनिविषैं जैसा धर्म लिख्या था, तैसैं प्रवर्तें, तो ताकौं नवीन मार्ग कैसें कहिए[1]।"

पंडित टोडरमल के पूर्व यह आध्यात्मिक पंथ पांच-सात स्थानों पर फैल चुका था। जगह-जगह इसका जोरदार विरोध भी हो रहा था। भट्टारकों और विषम (बीस) पंथियों[2] के हाथ शक्ति थी, जिसका वे प्रयोग भी करते थे। मंदिरों से निकलवा देते थे, मारपीट भी करते थे। ज्यों-ज्यों इस क्रांति का दमन किया जा रहा था, त्यों-त्यों यह उतने ही उत्साह से बढ़ भी रही थी। पंडित टोडरमल के

[1] मो० मा० प्र०, ३१५

[2] 'बीसपंथ' को 'विषमपंथ' के नाम से भी जाना जाता है। इसके २०० वर्ष पूर्व के उल्लेख प्राप्त है। वि० सं० १८२८ में कविवर टेकचन्दजी ने 'तीनलोक मंडल पूजा' की प्रशस्ति में 'विषमपंथ' का उल्लेख किया है।
— जैन निबन्ध रत्नावली, ३४३

समय यह संघर्ष अपने चरम बिन्दु पर था। भट्टारकीय प्रवृत्ति के विद्वान अस्तित्व के संघर्ष में लगे हुए थे। वि० सं० १८१८ में, जब पंडित टोडरमल ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका' समाप्त की थी, तब 'तेरहपंथ खंडन' नामक पुस्तक जयपुर में ही लिखी गई। इसी प्रकार वि० सं० १८२१ में जब पंडित टोडरमल के निर्देशन में 'इन्द्रध्वज विधान महोत्सव' हो रहा था– जिसमें सारे भारतवर्ष के लाखों जैनी आये थे एवं जिसका विस्तृत वर्णन ब्र० रायमल द्वारा लिखित 'इन्द्रध्वज विधान महोत्सव आमंत्रण पत्रिका'[1] में मिलता है – तब इसी जयपुर में पं० बखतराम साह 'मिथ्यात्व खंडन' नामक ग्रंथ में तेरहपंथ का खंडन बड़ी ही कटुता से कर रहे थे। उन्होंने लिखा है :–

"कपटी तेरापंथ है जिनसौं कपट करंत"[2]

उस समय पं० टोडरमल और उनके सहयोगी कई विद्वान् महान ग्रंथों का निर्माण कर रहे थे। सारे भारतवर्ष में तेरापंथ का डंका बजाने वाले साधर्मी भाई ब्र० रायमल, अनेक पुराण-ग्रंथों के जनप्रिय वचनिकाकार पं० दौलतराम कासलीवाल, बीसों न्याय व सिद्धान्त-ग्रंथों के समर्थ टीकाकार पं० जयचंद छाबड़ा आदि विद्वान् पं० टोडरमल के सहयोग से तैयार हुए थे। इन सभी विद्वानों ने जनभाषा में रचनाएँ कीं। उक्त महान् प्रयासों के फलस्वरूप यह पंथ देशव्यापी हो गया और इसके प्रभाव से मठाधीशों की प्रतिष्ठा का एक तरह से अन्त ही हो गया।

---

[1] परिशिष्ट १

[2] उक्त कथन पूरा इस प्रकार है :–

जैसे बिल्ली ऊँदरा, बैर भाव को संग।
तैसैं बैरी प्रगट है, तेरापंथ निसंग।।
बीसपंथ तैं निकलकर, प्रगट्यौ तेरापंथ।
हिन्दुन मैं से ज्यों कढ्यौ, यवनलोक को पंथ।।
हिन्दुलोक की ज्यों क्रिया, यवन न मानै लोक।
तैसैं तेरापंथ भी, किरिया छांडी बोक।।
कपटी तेरापंथ है, जिनसौं कपट करंत।
गिरी चहोड़ी दीप कहैं, खोटो मत कौ पंथ।।

दिगम्बर जैनियों में तेरापंथियों की संख्या ही सर्वाधिक है। ये सारे उत्तर भारत में फैले हुए हैं।

पंडित टोडरमल के बाद उनके द्वितीय पुत्र पंडित गुमानीराम ने शिथिलाचार दूर करने के उद्देश्य से उनसे भी कठोर कदम उठाए। उन्होंने पूजन-पद्धति में आए वाह्याडम्बर को बहुत कम कर दिया एवं धर्म के नाम पर होने वाले राग-रंग को समाप्तप्रायः करने का यत्न किया। मंदिरों में होने वाले लौकिक कार्यों पर प्रतिबंध लगाया। धर्मायतनों की पवित्रता कायम रखने के लिए उन्होंने एक आचार-संहिता बनाई। उनके नाम पर एक पंथ चल पड़ा जिसे गुमानपंथ कहा जाता है। इस पंथ का एक मंदिर जयपुर में है[१] जो गुमानपंथ की गतिविधियों का केन्द्र था। इस पंथ के और भी मंदिर जयपुर में और जयपुर के आस-पास के स्थानों में है[२]।

पंडित गुमानीरामजी की बनाई गुमानपंथी आचार-संहिता की कुछ बातें निम्नलिखित हैं:-

(१) सूर्योदय या काफी प्रकाश होने के पहले मंदिरजी की कोई क्रिया न करें।

(२) जो सप्त व्यसन का त्यागी हो, वही श्रीजी[३] का स्पर्श करे।

---

[१] यह मंदिर घी वालों के रास्ते में स्थित है एवं दीवान भदीचंदजी का मंदिर कहलाता है। इसका निर्माण दीवान रतनचंदजी ने कराया था और अपने भाई के नाम पर इसका नाम प्रचलित किया था।

[२] गुमानपंथी मंदिर के वर्तमान व्यवस्थापक श्री सरदारमलजी साह के अनुसार गुमानपंथ के मंदिर निम्न स्थानों पर हैं:-
जयपुर में बडे दीवानजी का मंदिर, छोटे दीवानजी का मंदिर, दीवानजी की नसियाँ, मंदिर श्री बुधचंदजी बज, मंदिर श्री बज बगीची।
जयपुर के अतिरिक्त आमेर, सांगानेर, जगतपुरा, माधोराजपुरा, लाम्बा आदि स्थानों पर भी हैं।

[३] भगवान की मूर्ति को श्रीजी भी कहते हैं।

(३) जिन-प्रतिमा के चरणों पर चन्दन, केसर आदि चर्चित न करें।

(४) गंधोदक[1] लगा कर हाथ धोवें।

(५) भगवान का पूजन खड़े होकर करे।

(६) पूजन में फलों में नारियल और बादाम आदि – सूखे फल ही चढ़ावें। उन्हें भी साबित न चढ़ावें।

(७) रात को जिन प्रतिमा के पास दीपक न जलावें।

(८) चमड़े की व ऊनी चीजें मंदिर में न ले जावें।

(९) मंदिर में बुहारी देना, पूजा के बर्तन माजना, बिछायत बिछाना आदि मंदिर का सम्पूर्ण कार्य श्रावक स्वयं अपने हाथों से करें, माली या नौकर आदि से न करावें।

(१०) मदिरजी की वस्तु लौकिक काम में न लावें।

पंडित गुमानीराम की बताई गई कई बातों का पालन तो प्रायः सभी तेरापंथी मंदिरों में होता है, पर कुछ बातें जो बहुत कठोर थीं वे चल न सकीं। वैसे गुमानपंथ का पंथ के नाम से कोई विशेष प्रचार नहीं हुआ है और न ही पंडित गुमानीराम का कोई पंथ चलाने का उद्देश्य ही था। वे तो वाह्याडंबर और हिंसामूलक प्रवृत्ति के विरुद्ध थे। उनके विरोधियों ने ही उनके बताए रास्ते को 'गुमानपंथ' कहना आरंभ कर दिया था और वे उनमें श्रद्धा रखने वालों को 'गुमानपंथी' कहने लगे थे।

इस तरह हम देखते हैं कि पंडितजी के पूर्व एवं समकालीन धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ विषम थीं और अन्य भारतीय धर्मों की भांति जैनधर्म भी कई शाखा–उपशाखाओं में विभक्त था। जिस दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में पंडितजी ने जन्म लिया उसमें भी भट्टारकों का साम्राज्य था और दर्शन का मूल तत्त्व लुप्तप्रायः था। कहीं-कहीं पं० बनारसीदास द्वारा प्रज्वलित अध्यात्मज्योति टिमटिमा रही थी। पंडित टोडरमल ने उसमें तेल ही नहीं दिया अपितु उसे शतगुणी करके प्रकाशित किया।

---

[1] भगवान के अभिषेक के जल को गंधोदक कहते हैं।

राजनीतिक परिस्थिति

ऐतिहासिक दृष्टि से यह काल औरंगजेब का शासनकाल था, जिसमें मुगल सत्ता उतार पर थी। राजस्थान के शासक भी निष्क्रिय थे। यही कारण है कि मुगल साम्राज्य के उस विघटनकाल में भी ये अपनी शक्तियों को संचित और एकत्र करके हिन्दू प्रभुत्व स्थापित न कर पाए[1]। फिर भी तत्कालीन जयपुर नरेश सवाई जयसिंह (शासनकाल–१६९९-१७४३ ई०)[2] ने स्थिति का लाभ उठाया। उन्होंने मारवाड़ और मेवाड़ के राजाओं के सहयोग से न केवल मुगल सत्ता से आत्मरक्षा की प्रत्युत उनके विघटन का लाभ भी उठाया। इन लोगों ने दिल्ली के शासन के संकट के प्रति अपनी आँखें बन्द कर लीं। वहाँ होने वाले संघर्षों, षड़यन्त्रों और राजनीतिक हत्याओं से जैसे इनका सरोकार ही नहीं था। एक ओर नादिरशाह दुर्रानी और अहमदशाह अब्दाली जैसे क्रूर आक्रांता लुटेरे दिल्ली को लूटते रहे, तो दूसरी ओर मरहठों और जाटों आदि ने भी कम लूट-पाट नहीं की। उक्त राजात्रयी इस राजनीतिक हलचल और खूनी लूट-खसोट में सम्पूर्ण रूप से तटस्थ-द्रष्टा थी। वे अपने राज्यों की शक्ति, समृद्धि और व्यवस्था के पुख्ता बनाने में लगे रहे। सवाई जयसिह पर यह बात पूर्णतः लागू होती है[3]। उन्होंने अपने राज्य के चौमुखी विकास के लिए बहुत कुछ किया। वर्तमान जयपुर का निर्माण उनकी ही देन है। अपने परम्परागत राज्य को आदर्श जन-कल्याणकारी और प्रगतिशील बनाने की दिशा में वे अपने समकालीन देशी-विदेशी शासकों की तुलना में बहुत आगे थे। धर्म-सहिष्णुता और विद्वानों के सम्मान करने में कोई उनकी होड़ नहीं कर सकता था। प्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल टॉड ने लिखा है :– इस राजा को जैनधर्म के

---

[1] रीतिकाव्य की भूमिका, ७

[2] राजस्थान का इतिहास, ६३७

[3] भा० इ० एक दृष्टि, ५६२-५६३

सिद्धान्तों एवं इतिहास का अच्छा ज्ञान था और उनकी विद्या-बुद्धि के कारण भी वह जैनियों का काफी सम्मान एवं आदर करता था। इस राजा की ज्योतिष-विषयक गवेषणाओं में भी उसका प्रधान सहायक विद्याधर नामक जैन विद्वान् था[1]।

सवाई जयसिंह के पश्चात् उसका बड़ा पुत्र ईश्वरसिंह (शासन-काल–१७४४-१७५० ई०) राजा हुआ[2]। उन दिनों जयपुर के राजकीय गगन में गृहकलह की काली घटा छाई हुई थी। यद्यपि ईश्वरसिंह एक सज्जन राजा था तथापि गृहशत्रुओं के कुचक्र से उसका अन्त हुआ और उसका अनुज माधोसिंह (शासनकाल–१७५१-१७६७ ई०) राजा बना[3]।

यद्यपि जयसिंह के राज्यकाल के समान माधोसिंह के राज्यकाल में भी शासन-व्यवस्था में जैनियों का महत्त्वपूर्ण योगदान एवं प्रभाव रहा, शासन के उच्चपदों पर अधिकांश जैन थे, जैनियों की अहिंसात्मक संस्कृति जयपुर नगर में स्पष्ट प्रतिबिम्बित थी तथा शासकीय आदेश से जीवहिंसा, वेश्यावृत्ति एवं मद्यपान निषिद्ध थे[4] तथापि साम्प्रदायिक उपद्रवों की दृष्टि से माधोसिंह का शासनकाल अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण रहा। इसमें जैनियों को दो बार साम्प्रदायिक विद्वेष का शिकार होना पड़ा। अपने समस्त उदार आश्वासनों के बावजूद भी शासन उन्हें सुरक्षा और न्याय देने में असमर्थ रहा।

[1] एनल्स एण्ड एन्टीक्विटीज ऑफ राजस्थान, २९७

[2] राजस्थान का इतिहास, ६५०

[3] वही

[4] "और ई नग्र विषै सात विसन का अभाव है। भावार्थ–ई नग्र विषै कलाल कसाई वेश्या न पाईए है। अर जीव हिंसा की भी मनाई है। राजा का नाम माधवसिंह है। ताके राज विषै वर्तमान एते कुविसन दरबार की आज्ञातैं न पाईए है। अर जैनी लोग का समूह बसै है। दरबार के मुतसद्दी सर्व जैनी है। और साहूकार लोग सर्व जैनी है। यद्यपि और भी है परि गौणता रूप है। मुख्यता रूप नाहीं। छह सात वा आठ दस हजार जैनी महाजनां का घर पाईए है।"

– इ० वि० पत्रिका, परिशिष्ट १

वि० सं० १८१८ में जिस समय पानीपत के मैदान में मराठा और अफगानों के युद्ध में दिल्ली की टूटती बादशाहत का भाग्य निर्णय हो रहा था, उस समय राजा माधोसिंह का मुँहलगा पुरोहित श्याम तिवाड़ी जयपुर के जैनियों को साम्प्रदायिक द्वेष की ज्वाला मे भून रहा था[1]। जैन स्रोतों के अनुसार लगभग अठारह माह तक यह 'श्याम गर्दी' चली[2], जिसके बाद राजा को सुमति आई, पश्चाताप हुआ। श्याम तिवाड़ी को अपमानित कर राज्य से निर्वासित किया गया[3]। जैनियों के समाधान के लिए राज्य की ओर से पूरे प्रयत्न किये गए, उनकी स्थिति पूर्ववत् बना देने का प्रयास किया गया।

इस घटना का विवरण जयपुर के तत्कालीन इतिहास में नही मिलता। ऐसे विवरण की अपेक्षा उस समय के इतिहास से की भी नही जा सकती। फिर भी एक प्रशासकीय आदेशपत्र में जैनियों की क्षतिपूर्ति करने और उनके प्रति सहानुभूति का दृष्टिकोण अपनाने का आदेश दिया गया; इससे उक्त घटना की ऐतिहासिकता प्रमाणित होती है। यह आदेश विक्रम संवत् १८१९ मार्गशीर्ष कृष्णा २

---

[1] सवत् अट्ठारह सै गये, ऊपरि जकै अठारह भये।
तब इक भयो तिवाड़ी श्याम, डिंभी अति पाखंड को धाम ।।१२८६।।
करि प्रयोग राजा वसि कियो, माधवेश नृप गुरु पद दियो ।।१२६१।।
दिन कितेक बीते हैं जबै, महा उपद्रव कीन्हो तबै ।।१२६२।।
— बु० वि०

[2] "संवत् १८१७ के सालि असाढ़ के महैने एक स्यामराम ब्राह्मण वाके मत का पक्षी पापमूर्ति उत्पन्न भया। राजा माधवसह का गुर ठाहरया, ताकरि राजानै वसि कीया पीछैं। जिन धर्म सूं द्रोह करि या नग्र के वा सर्व ढूंढाड देश का जिन मंदिर तिनका विघ्न कीया। सर्व कू वैसनूं (वैष्णव) करनें का उपाय कीया। ताकरि लाखा जीवां नै महा घोरानघोर दुख हुवा अर महापाप का बंध भया सो एह उपद्रव वरस ड्योढ पर्यंत रह्या।"
— जीवन पत्रिका, परिशिष्ट १

[3] अकस्मात कोप्यो नृप भारो, दियो दुपहरा देश निकारो।
दुपटा धोति धरे द्विज निकस्यो, तिय जुत पापनि लखि जग बिगस्यो ।।१२६६।।
— बु० वि०

के दिन जयपुर राज्य के तेतीस परगनों के नाम जारी हुआ था[1]। वि० सं० १८२१ में 'इन्द्रध्वज विधान महोत्सव' के नाम से एक विशाल और वैभवपूर्ण सार्वजनिक जैन महोत्सव कराया गया, जिसमें राज्य की ओर से पूरा समर्थन, सहयोग एवं सहायता प्राप्त हुई[2]।

राजा माधोसिंह के राज्यकाल में ही वि० सं० १८२३-२४ में एक बार पुनः साम्प्रदायिक उपद्रव भड़के, जिनकी अंतिम परिणति पं० टोडरमल के निर्मम प्राणान्त के रूप में हुई।

माधोसिंह के पश्चात् शासन पृथ्वीसिंह (१७६८-१७७७ ई०) के हाथ में आया। उसके शासनकाल में वि० सं० १८२६ में फिर साम्प्रदायिक उपद्रव हुआ, जिसमें जैनियों को अपार क्षति उठानी पड़ी[3]।

---

[1] "**हुक्मनामा** – सनद करार मिति मगसिर बदी २ संवत् १८१९ अप्रंच हद सरकारी में सरावगी वगैरह जैनधर्म साधबा वाला सू धर्म में चालबा को तकरार छो, सो याको प्राचीन जान ज्यों का त्यो स्थापन करवो फरमायो छै सो माफिक हुक्म श्री हुजूर के लिखा छै। बीसपंथ तेरापथ परगना में देहरा बनाओ व देव गुरु शास्त्र आगे पूजैं छा जी भांति पूजौ। धर्म में कोई तरह की अटकाव न राखे। अर माल मालियत वगैरह देवरा को जो ले गया होय सो ताकीद कर दिवाय दीज्यो। केसर वगैरह को आगे जहां से पावैं छा तिठासू भी दिवावो कीज्यो। मिति सदर"

– टोडरमल जयंती स्मारिका, ६४-६५

[2] "ए कार्य दरबार की आज्ञासू हुवा है। और ए हुकम हुवा है जो थाकै पूजाजी कै अर्थि जो वस्तु चाहिजे सो ही दरबार सू ले जावो। सो ए बात उचित ही है। ए धर्म राजा का चलाया ही चालै है। राजा की सहाय बिनां ऐसा महंत परम कल्याणरूप कार्य बणै नांही। अर दोन्यू दिवान रतनचंद वा बालचद या कार्य विषै अग्रेश्वरी है। तातै विशेष प्रभावना होइगी।······ मिति माह बदी ६ सम्वत् १८२१"

– इ० वि० पत्रिका, परिशिष्ट १

[3] फुनि भई छब्बीसा के साल, मिले सकल द्विज लघुरविसाल।
द्विजन आदि बहुमेल हजार, बिना हुकम पाये दरबार।
दौरि देहुरा जिन लिए लूटि, मूरति विघन करी बहु फूटि ।।

– बु० वि०

साहित्यिक परिस्थिति

आलोच्यकाल की साहित्यिक गतिविधियाँ संतोषजनक नही थी। लड़भिड़ कर मुगल सेना और हिन्दू राजे अपनी शक्ति खो चुके थे। विशाल राष्ट्रीय कल्पना या उच्च नैतिक आदर्श की आस्था उनमे नहीं थी। यही स्थिति आध्यात्मिक चिंतन और साधना के क्षेत्र में थी। भक्तिकाल के बाद रीतियुग (शृंगारकाल) की मूल चेतना शृंगार थी। अधिकांश रीति-कवियों के आलम्बन राधा-कृष्ण थे। विशाल भारतीय समाज का ही एक अङ्ग होने से जैन समाज भी इन प्रभावों से अछूता नही था। वीतरागता के प्रति प्रतिबद्ध होने के कारण यद्यपि उसकी साधना में शृंगार चेतना तो प्रविष्ट नहीं हो सकी तथापि भट्टारकवाद की स्थापना उसमें हो ही गई। शुद्ध शृंगार काव्य की रचना के विचार से जैन साहित्य नगण्य-सा है। यद्यपि ऐसे कवि मिलते है, जिन्होंने विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से शृंगार रचनाएँ लिखी है तथापि बाद में वे अपनी लौकिक शृंगारपरक रचनाओं को नष्ट कर आध्यात्मिक काव्य साधना करने लगे[1]। जैन कवियों ने शृंगारमूलक प्रवृत्तियों की कड़ी आलोचना की। उनका कहना था कि क्या सरस्वती के वरदान का यही फल है? क्या इसका ही नाम काव्य है?

मांस की ग्रंथि कुच कंचन-कलश कहे,
 कहे मुख चन्द्र जो सलेषमा को घरु है।
हाड़ के दशन आंहि हीरा मोती कहें तांहि,
 मांस के अधर ओंठ कहें बिम्बफरु है॥
हाड़ थंभ भुजा कहें कैल नाल काम जुधा,
 हाड़ ही की थंभा जंघा कहे रंभातरु है।
यों ही झूठी जुगति बनावै औ कहावैं कवि,
 एते पै कहैं हमें शारदा का वरु है[2]॥

---

[1] अ० क०, ३०–३१

[2] वीरवाणी : कवि बनारसीदास विशेषांक, ४८

जब रीतिकाल में वृद्ध कवि भी अपने सफेद बालों को देख कर खेद व्यक्त कर रहे थे[१] और 'रसिकप्रिया' जैसे श्रृंगार काव्य का निर्माण कर रहे थे तब जैन कवि उन्हें संबोधित कर रहे थे :–

बडी नीति लघु नीति करत है, बाय सरत बदबोय भरी ।
फोड़ा आदि फुन गुनी मंडित, सकल देह मनु रोग दरी ।।
शोणित हाड़ मांस मय मूरत, ता पर रींभत घरी-घरी ।
ऐसी नारि निरख कर केशव, 'रसिकप्रिया' तुम कहा करी[२] ।।

नारी और 'रसिकप्रिया' विषयक ऐसे ही सशक्त कथन दादूपंथी सुन्दरदासजी ने भी किए हैं[३] । विष्णोई कवि परमानन्ददासजी वणियाल भी काव्य में, चाहे वह किसी भी प्रकार का हो, 'हरि नांव' चर्चा ही मुख्य मानते है, शेष कथन तो केवल 'इन्द्रीरत ग्यान' है[४] ।

---

१ "केशव" केशन अस करी जस अरि हू न कराहिं ।
चन्द्रवदन मृगलोचनी, बाबा कहि कहि जाहि ।।

२ ब्रह्मविलास, १८४

३ (क) रसिक प्रिया रस मजरी, और सिगारहिं जानि ।
चतुराई करि बहुत विधि, विषै बनाई आंनि ।।
विषै बनाई आंनि, लगत विषयनि कौ प्यारी ।
जागै मदन प्रचण्ड, सराहै नखशिख नारी ।।
ज्यौ रोगी मिष्ठान खाई, रोगहिं बिस्तारै ।
सुन्दर यह गति होई, जुतौ रसिकप्रिया धारै ।।
– सुन्दर ग्रन्थावली : द्वितीय खण्ड, ३३६

(ख) सुन्दर ग्रन्थावली : द्वितीय खण्ड, ४३७–४४०
प्रथमखण्ड भूमिका, ९८–१०६

४ हरिजस कथा साखी कहो, कवत छद सिरळोक ।
परमानन्द हरि नांव की, सोभा तीन्यौं लोक ।।
निजपद की नासति करै, कथ इन्द्रीरत ग्यान ।
जैसे कूवो नीर विण्य, पढ़िबो निरफळ जाण्य ।
– जाम्भोजी विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य
(जम्भवाणी के पाठ संपादन सहित) : दूसरा भाग, ८५६ व ८६७

उक्त कथन मे उनका उद्देश्य नारी की निन्दा करना नहीं था किन्तु वासना की आग में स्वयं जल रहे मानवों को और उसी में न धकेल देने के प्रति सावधान करना था। क्योंकि :–

> राग उदै जग अंध भयौ, सहजै सब लोगन लाज गवांई।
> सीख बिना नर सीखत है, विसनादिक सेवन की सुघराई।।
> ता पर और रचैं रस काव्य, कहा कहिए तिनकी निठुराई।
> अंध असूझन की अंखियान में, झौकत हैं रज राम दुहाई[१] ।।

भगवान नेमिनाथ और राजुल के प्रसंग को लेकर शृंगार रस की कविताएँ जैन कवियों की भी मिलती हैं पर उनमें मर्यादा का उल्लंघन कहीं भी देखने को नही मिलता।

जैन साहित्य की मूल प्रेरणा धर्म है। जैन साहित्य ही क्या प्रायः सम्पूर्ण मध्ययुगीन भारतीय साहित्य धार्मिक भावना से ओत-प्रोत है। धर्म से साहित्य का अच्छेद्य सम्बन्ध है। साहित्य को धर्म से पृथक् नही किया जा सकता है। धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्य कोटि से अलग नही की जा सकती[२]। चाहे जिस काल का साहित्य हो उसमें तत्कालीन अवस्था का चित्र अवश्य अंकित होगा[३]। साहित्य का बहुत बड़ा भाग धर्म पर अवलम्बित है। धार्मिक सिद्धांतों के आधार पर एवं धार्मिक आन्दोलनों के कारण साहित्य के विशिष्ट अङ्गों की उत्पत्ति एवं विकास हुआ है[४]।

विद्वानों के ये कथन जैन साहित्य के अतिरिक्त राजस्थान में उद्‌भूत अनेक संप्रदायों[५] और उनके कवियों आदि पर भी पूर्णतः लागू हैं। विष्णोई सम्प्रदाय, दादू पंथ, निरंजनी सम्प्रदाय, चरणदासी सम्प्रदाय और इनके कवियों की भी मूल प्रेरणा धर्म और अध्यात्म है। यहाँ इनमें से कतिपय का नामोल्लेख ही किया जा सकता है, यथा :– पदम,

[१] जैन शतक, छन्द ६४
[२] हिन्दी साहित्य का आदिकाल, ११
[३] जीवन और साहित्य, ६७
[४] हि० सा० इति० रसाल, १४
[५] राजस्थानी भाषा और साहित्य, २७२–२६४

ऊदोजी नैण, मेहोजी गोदारा, वील्होजी, कैसोजी, सुरजनदासजी पूनिया, परमानन्ददासजी, (विष्णोई सम्प्रदाय[1]); बखनाजी[2], रज्जबजी[3], बाजिन्दजी[4], सुन्दरदासजी[5], (दादू पंथी[6]); तुरसीदास, सेवादास, मनोहरदास, भगवानदास, (निरंजनी सम्प्रदाय[7]); तथा सहजोबाई[8], दयाबाई[9], (चरणदासी संप्रदाय[10]) आदि।

जैन साहित्य में मानव हितविधायनी अध्यात्मपरक अनेक बहुमूल्य चर्चाएँ हैं। इन साहित्यकारों ने साहित्य-साधना के माध्यम से धन प्राप्ति का यत्न कभी नहीं किया और न ही उन्हें लोकेषणा आकर्षित कर सकी। ये लोग राजदरबारों और धनिकों की गोष्ठियों से दूर ही रहे, इनकी अपनी अलग आध्यात्मिक गोष्ठियाँ थीं, जिन्हें 'सैली' कहा जाता था। इन सैलियों के सदस्यों द्वारा उस युग में महत्त्वपूर्ण विपुल साहित्य का निर्माण हुआ पर वह साहित्य शांतरस प्रधान आध्यात्मिक साहित्य है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि ये लोग सामाजिक समस्याओं के प्रति उदासीन थे। वे तत्कालीन समाज और उसमें आगत विकृतियों से पूर्ण परिचित एवं उनके प्रति

---

[1] जाम्भोजी विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य [जम्भवाणी के पाठ-सम्पादन सहित] भाग १-२;
५१२-५२२, ५५८-५७८, ६१९-६३५, ६३६-६८६, ७०१-८२५, तथा ८५७-८८९

[2] बखनाजी की वाणी

[3] रज्जब बानी

[4] पचामृत मे संग्रहीत, बाजिन्द की वाणी

[5] सुन्दर ग्रन्थावली भाग १. २

[6] श्री दादू महाविद्यालय रजत-जयन्ती ग्रंथ

[7] (क) मकरन्द, १६३-१७६; (ख) योग प्रवाह में एतद् विषयक निबन्ध; (ग) श्री महाराज हरिदासजी की वाणी; (घ) निरंजनी सम्प्रदाय और सत तुरसीदास निरंजनी

[8] सहजोबाई की बानी

[9] दयाबाई की बानी

[10] (क) अलवर क्षेत्र का हिन्दी साहित्य (अप्रकाशित) (वि० सं० १७०० से २०००), १३-१८ तथा ९६-१८६
(ख) भक्ति सागर

सजग थे। इन लोगों ने उनके विरुद्ध सशक्त आन्दोलन चलाए। इन सबमें पद्य साहित्य के क्षेत्र में पंडित बनारसीदास का नाम सबसे पहले आता है तथा गद्य साहित्य में पंडित टोडरमल अग्रणी रहे।

इस तरह आलोच्यकाल में राजनीतिक और साहित्यिक परिस्थितियाँ भी उत्साहवर्द्धक नही थीं। राजनीतिक अस्थिरता और साहित्यिक शृंगारिकता दोनों ही अध्यात्मप्रधान शान्तरसपूर्ण साहित्य के निर्माण के अनुकूल वातावरण प्रदान नही करती हैं। इन दोनों के संकेत पंडितजी के साहित्य में मिल जाते है। यद्यपि ये संकेत अप्रत्यक्ष रूप में है, जैसे क्रोध के प्रकरण में निरंकुश साम्प्रदायिकता का जिक्र इस प्रकार आता है :– "तहाँ क्रोध का उदय होतें पदार्थनि विषै अनिष्टपनौ वा ताका बुरा होना चाहै। कोऊ मंदिरादि अचेतन पदार्थ बुरा लागै तब फोरना तोरना इत्यादि रूपकरि वाका बुरा चाहै[1]।

इसी प्रकार 'भगवान रक्षा करता है' इस मान्यता की समीक्षा करते हुए लिखते है :– "हम तो प्रत्यक्ष म्लेच्छ मुसलमान आदि अभक्त पुरुषनिकरि भक्त पुरुष पीड़ित होते देखि व मंदिरादिक कौ विघ्न करते देखि पूँछे है कि इहां सहाय न करे है सो शक्ति ही नाहीं, कि खबर नाही[2]। बहुरि अबहू देखिए है। म्लेच्छ आय भक्तनि कौ उपद्रव करै हैं, धर्म विध्वंस करै हैं, मूर्ति को विघ्न करै हैं, सो परमेश्वर कौ ऐसे कार्य का ज्ञान न होय तो सर्वज्ञपनों रहै नाहीं[3]।"

इस प्रकार पडितजी के चारों ओर विरुद्ध और संघर्ष का वातावरण था। उस समय राजनीति में अस्थिरता, संप्रदायों मे तनाव, साहित्य मे शृंगार, धर्मक्षेत्र में भट्टारकवाद, आर्थिक जीवन में विषमता और समाज में रूढ़िवाद – ये सब अपनी चरम सीमा पर थे जो कि आध्यात्मिक चिन्तन में चट्टान की तरह अड़े थे। उन सबसे पडितजी को संघर्ष करना था, उन्होने डट कर किया और प्राणों की बाजी लगा कर किया।

---

[1] मो० मा० प्र०, ५६
[2] वही, १५७
[3] वही, २५०

द्वितीय अध्याय

जीवनवृत्त

व्यक्तित्व

जीवनवृत्त

नाम

आचार्यकल्प पंडित टोडरमल के अतिरिक्त इस नाम के अन्य उल्लेख भी मिलते हैं। जैसे – एक हैं 'ब्रह्म टोडर' या 'टोडर', जिनका एक भजन 'उठो तेरो मुख देखूं नाभि के नन्दा' राजस्थान के कई जैन शास्त्र-भण्डारों के गुटकों में मिलता है[१]। एक रामानुज मतानुयायी पंडित टोडरमल भी हुए हैं, जिनकी कुछ पुस्तकें जयपुर राजमहल के पोथीखाने में पाई जाती हैं[२]।

इनके नाम का उल्लेख भी कई प्रकार से मिलता है। कही 'टोडरमल'[3] और कहीं 'टोडरमल्ल'[४]। कहीं-कहीं 'टोडर'[५] का भी प्रयोग मिलता है। आदर के साथ आपको लोग 'मल्लजी'[६]

---

[१] राजस्थान के जैन ग्रन्थ-भण्डारों की ग्रन्थसूची, चतुर्थ भाग; ५८२, ६१४, ६२३, ७६७, ७७६ तथा ७७७

[२] ज्ञानसागर, भक्तविलास, भक्तिप्रिया, पदसंग्रह

[3] "अर **टोडरमलजी** सूं मिले, नाना प्रकार के प्रश्न कीए।"

– जीवन पत्रिका, परिशिष्ट १

[४] "नाम धर्यो तिन हर्षित होय, **टोडरमल्ल** कहें सब कोय।।"

– स० चं० प्र०

[५] "निजमति अनुसारि अर्थ गहे **टोडर** हू,
भाषा बनवाई यातें अर्थ गहै सगरे।।"

– गोम्मटसार कर्मकाण्ड भाषाटीका प्रशस्ति

[६] "यह टीका खरड़ा की नकल उतरी है। **मल्लजी कृत** पीठबंध आदि संपूर्ण नहीं भई है। मूल को अर्थ सम्पूर्ण आय गयो है, परन्तु सोधि अर **मल्लजी** को फरि उतरावणी छै।"

– त्रि० भा० टी० (ह० लि०) बम्बई, अन्तिम पृष्ठ

या 'मलजी'[१] भी कहा करते थे । इनका वास्तविक नाम 'टोडरमल' ही है । टोडर और टोडरमल्ल तो छन्दानुरोध के कारण लिखे गए हैं क्योंकि इनके उल्लेख पद्य में ही प्राप्त होते हैं । इनके नाम के साथ 'पंडित' शब्द का प्रयोग विद्वत्ता के अर्थ में हुआ है । जैन परम्परा में 'पंडित' शब्द का प्रयोग किसी के भी साथ जातिगत अर्थ में नहीं होता है, सर्वत्र पंडित शब्द का प्रयोग विद्वत्ता के अर्थ में ही होता रहा है । आपके नाम के साथ 'आचार्यकल्प' की उपाधि भी लगी मिलती है[२] तथा जैन समाज में आप 'आचार्यकल्प पंडित टोडरमल' के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध है । ये रीतिकाल में अवश्य हुए पर इनका सम्बन्ध रीतिकाव्य से दूर का भी नहीं है और न यह उपाधि 'काव्यशास्त्रीय आचार्य' की सूचक है । इनका सम्बन्ध तो उन महान दिगम्बराचार्यों से है, जिन्होंने जैन साहित्य की वृद्धि मे अभूतपूर्व योगदान किया है । उनके समान सम्मान देने के लिए इन्हें 'आचार्यकल्प' कहा जाता है । इनका काम जैन आचार्यों से किसी भी प्रकार कम नही है, किन्तु जैन परम्परा में 'आचार्यपद' नग्न दिगम्बर साधु को ही प्राप्त होता है, अतः इन्हें आचार्य न कहकर 'आचार्यकल्प' कहा गया है ।

जन्मतिथि

पंडित टोडरमल की जन्मतिथि के बारे मे कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है । पंडित चैनसुखदासजी ने उनका जन्म वि० सं० १७९७ (सन् १७४० ईस्वी) लिखा है[३] जबकि प० नाथूराम प्रेमी[४] और डॉ० कामताप्रसाद[५] जैन के अनुसार वि० सं० १७९३ है । उक्त विद्वानों

---

[१] "दक्षिण देस सूं पाच सात और ग्रंथ ताडपत्रां विषै कर्णाटी लिपि मैं लिख्या इहां पधारे है, ताकूं **मलजी** वांचै है, वाका यथार्थ व्याख्यान करै है ।
— इ० वि० पत्रिका, परिशिष्ट १

[२] अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला बम्बई एव सस्ती ग्रन्थमाला दिल्ली से प्रकाशित मोक्षमार्ग प्रकाशक के मुखपृष्ठ पर तथा दि० जैन स्वाध्याय मंदिर, सोनगढ़ से प्रकाशित मोक्षमार्ग प्रकाशक के कवर पृष्ठ पर पं० टोडरमल के नाम के आगे 'आचार्यकल्प' की उपाधि लगी हुई है ।

[३] वीरवाणी : टोडरमलांक, २६६, २६८, २७७

[४] हि० जै० सा० इति०, ७२

[५] हि० जै० सा० सं० इति०, १८७

ने अपने मत की पुष्टि में कोई विचारणीय प्रमाण प्रस्तुत नही किए हैं। प० परमानन्द शास्त्री[1] और पं० मिलापचंद कटारिया[2] का कहना है कि पंडितजी का जन्म हर हालत में वि० सं० १७९७ से १५–२० वर्ष पूर्व होना चाहिए।

पंडित टोडरमल ने अपनी जन्मतिथि के बारे में कहीं कुछ नहीं लिखा है, किन्तु गोम्मटसार पूजा की जयमाल में राजा जयसिंह के नाम का उल्लेख अवश्य है तथा गोम्मटसार आदि ग्रन्थों की भाषा-टीका बन जाने का भी संकेत है[3]। उक्त आधार पर इस रचना एवं भाषाटीकाओं को सवाई जयसिंह के राज्यकाल में विरचित मानने पर ये रचनाएँ वि० स० १८०० के पूर्व की माननी होंगी, क्योंकि सवाई जयसिह का राज्यकाल वि० स० १८०० तक ही है। यदि उक्त तथ्य को सही माना जाय तो पंडित टोडरमल का जन्म इससे २५-३० वर्ष पूर्व अवश्य मानना होगा, क्योंकि २५-३० वर्ष की उम्र के पूर्व गोम्मटसारादि ग्रन्थों की भाषाटीका बना पाना संभव नही लगता।

उक्त भाषाटीकाओं को वि०सं० १८०० से पूर्व की मानने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि 'सम्यक्ज्ञानचंद्रिका प्रशस्ति' में उक्त ग्रन्थों की भाषाटीका वि० सं० १८१८ में समाप्त होने का स्पष्ट उल्लेख है[4]। अतः यह निश्चित है कि गोम्मटसार पूजा वि० सं० १८१८ के बाद की रचना है तथा उक्त पूजा की जयमाल एवं उसमें राजा जयसिह का उल्लेख प्रामाणिक नहीं लगते। इस पर विस्तृत विचार तीसरे अध्याय में उक्त कृति के अनुशीलन में किया जायगा।

---

[1] सन्मति सन्देश : टोडरमल विशेषांक, ८३

[2] सन्मति सन्देश : दिसम्बर १९६८, पृ० ५

[3] यह वरणत भये परम्पराय, तिहि मार्ग रची टीका बनाय।
भाषा रचि 'टोडरमल्ल' शुद्ध, सुनि रायमल्ल जैनी विशुद्ध ॥१०॥
जयपुर जयसिह महीपराज, तहं जिनधर्मी जन बहुत भाज।
यह बनी विशद जयमाल जैन, पहिरै परमानंद भव्य चैन ॥११॥

[4] संवत्सर अष्टादश युक्त, अष्टादशशत लौकिक युक्त।
माघशुक्ल पंचमि दिन होत, भयो ग्रन्थ पूरन उद्योत ॥

दि० जैन बड़ा मंदिर तेरापंथियान, जयपुर में प्राप्त भूधरदास के चर्चा-समाधान नामक हस्तलिखित ग्रंथ पर आसोज कृष्णा ५ विक्रम संवत् १८१५ के एक उल्लेख से पता चलता है कि वि० सं० १८१५ के पूर्व पंडित टोडरमल उक्त ग्रन्थों की साठ हजार श्लोक प्रमाण टीका लिख चुके थे एवं महान विद्वान् के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे[1]। ऐसा लगता है कि वि० संवत् १८१५ व १८१८ के बीच के तीन वर्ष संशोधनादि कार्य में लगे होंगे। ब्र० रायमल के अनुसार उक्त टीकाओं को बनाने में तीन वर्ष का समय लगा[2]। इससे सिद्ध होता है कि वि० सं० १८१२ में इन महान ग्रन्थों की टीका का कार्य प्रारम्भ हो गया था।

ब्र० रायमल व्यक्तिगत रूप से पंडित टोडरमल के सम्पर्क में सिंघाणा में ही आए किन्तु पंडितजी की विद्वत्ता व कीर्ति से वे कम से कम उससे ३-४ वर्ष पहले परिचित हो चुके थे। वे लिखते हैं :–

"पीछैं केताइक दिन रहि टोडरमल जैपुर के साहूकार का पुत्र ताकै विशेष ज्ञान जानि वासूं मिलने के अर्थि जैपुर नगरि आए। सो इहां वाकूं नहीं पाया। अर एक बंसीधर······तासूं मिले। पीछै वानैं छोड़ि आगरै गए। उहां स्याहगंज विषै भूधरमल्ल साहूकार······ वासूं मिलि फेरि जैपुर पाछा आए। पीछैं सेखावाटी विषै सिंघांणां नग्र तहां टोडरमल्लजी एक दिली का बड़ा साहूकार साधर्मी ताकै समीप कर्मकार्य कै अर्थि वहां रहै, तहां हम गए अर टोडरमलजी सूं मिले, नाना प्रकार के प्रश्न कीए। ताका उत्तर एक गोमट्टसार नामा ग्रंथ की साखि सूं देते भए। ता ग्रंथ की महिमां हम पूर्वे सुणी थी तासूं विशेष देखी। अर टोडरमल्लजी का ज्ञान की महिमा अद्भुत देखी। पीछैं उनसूं हम कही – तुम्हारै यां ग्रंथां का परचै निर्मल भया है। तुम करि याकी भाषा टीका होय तौ घणां जीवां का कल्याण होइ······[3]।"

---

[1] जीवन पत्रिका, परिशिष्ट १

[2] वही

[3] वही

श्री दि० जैन मंदिर भदीचंदजी, घी वालों का रास्ता, जयपुर में उपलब्ध साधर्मी भाई ब्र० रायमल द्वारा लिखित 'जीवन पत्रिका' की मूलप्रति का एक महत्त्वपूर्ण पृष्ठ, जिसमें गोम्मटसारादि ग्रंथों की टीका के निर्माण की चर्चा है।

श्री दि० जैन मंदिर (बड़ा धड़ा), अजमेर में प्राप्त, वि० सं० १७६३ में लिपिबद्ध, 'सामुद्रिक पुरुष लक्षरण' नामक हस्तलिखित ग्रन्थ का अंतिम पृष्ठ

इस कथन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ब्र० रायमल विक्रम संवत् १८१२ में उक्त टीका आरंभ होने के ३-४ वर्ष पूर्व अर्थात् विक्रम संवत् १८०८-९ से पंडित टोडरमलजी से मिलने के लिए अत्यन्त उत्सुक व प्रयत्नशील थे। तात्पर्य यह कि पंडितजी तब तक बहुचर्चित विद्वान् हो चुके थे। इस तथ्य की पुष्टि उनकी प्रथम कृति 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' से भी होती है। यह चिट्ठी वि० संवत् १८११ में लिखी गई थी। उसकी शैली, प्रौढ़ता एवं उसमें प्रतिपादित गंभीर तत्त्वचिंतन देखकर प्रतीत होता है कि वे उस समय तक बहुश्रुत विद्वान् एवं तात्त्विक-विवेचक के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। दूर-दूर के लोग उनसे शंका-समाधान किया करते थे।

यातायात-साधनों से विहीन उस युग में सुदूरवर्ती प्रदेशों में उनकी प्रसिद्धि एवं गोम्मटसारादि ग्रन्थों का तलस्पर्शी ज्ञान, उनकी प्रौढ़ता को सिद्ध करता है। वे उस समय ३५-३६ वर्ष से कम किसी हालत में नहीं रहे होंगे।

अजमेर के बड़े धड़े के दिगम्बर जैन मंदिर के शास्त्र-भण्डार में वि० संवत् १७९३ का एक हस्तलिखित 'सामुद्रिक पुरुष लक्षण' नामक ग्रन्थ है। इसमें लिखा है :–यह ग्रन्थ शनिवार भाद्रपद शुक्ला ४ वि० संवत् १७९३ को जोबनेर में 'पंडितोत्तम पंडितप्रवर पंडितजी श्री टोडरमलजी' के पढ़ने के लिए लिखा गया है।

उक्त कथन में पंडित टोडरमल के नाम का सम्मान के साथ उल्लेख है। यदि वह इन्ही पंडित टोडरमल के बारे में है, तो स्वयंसिद्ध है कि वि० संवत् १७९३ तक वे पंडितोत्तम व पंडितप्रवर के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुके थे। संभावना भी यही है क्योंकि उस समय इतनी प्रसिद्धि प्राप्त कोई अन्य टोडरमल नहीं हुए हैं। उक्त स्थिति में पंडितजी का जन्म वि० सं० १७९३ से कम से कम १७-१८ वर्ष पूर्व का अवश्य मानना होगा। यह कहना कोई अर्थ नहीं रखता कि 'सामुद्रिक पुरुष लक्षण' ग्रन्थ से इन आध्यात्मिक रुचि वाले विद्वान् को क्या प्रयोजन? क्योंकि उनकी रचनाओं में जगह-जगह वैद्यक, ज्योतिष, काव्यशास्त्र आदि के अनेक उल्लेखों के साथ-साथ काम-शास्त्र

तक के उल्लेख मिलते हैं। उन्होंने काम-विकार का वर्णन करते हुए रस-ग्रन्थों में वर्णित काम की दश दशाओं का व वैद्यक-शास्त्रों में वर्णित ज्वर के भेदों में काम-ज्वर तक की चर्चा की है[१]। अतः सिद्ध है कि उनका अध्ययन सर्वांगीण था और हो सकता है कि उन्होंने उक्त ग्रंथ का भी अध्ययन किया हो।

ब्र० रायमल ने गोम्मटसार ग्रन्थ की टीका करने की प्रेरणा देते समय कहा था कि "आयु का भरोसा नाही"[२] एवं इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका में लिखा है कि "और पांच-सात ग्रन्थां की टीका बरणायवे का उपाय है सो आयु की अधिकता हूवां वर्णेगा[३]।" ये शब्द ४०-४५ वर्ष से कम उम्र वाले व्यक्ति के लिए कहे जाना संभव नहीं हैं।

इन्हीं ब्र० रायमल द्वारा विरचित चर्चा-संग्रह की एक प्रति अलीगंज (जिला ऐटा – उ० प्र०) में प्राप्त हुई है। इस हस्तलिखित प्रति के लिपिकार श्री उजागरदास हैं व इसको उन्होंने अलीगंज में ही मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी, रविवार, वि० संवत् १८५४ को पूर्ण की है – ऐसा ग्रन्थ के अन्त में लिखा है। ११,२०० श्लोकप्रमाण[४] के इस ग्रन्थ के पृष्ठ १७३ पर पंडित टोडरमल की चर्चा करते हुए उनका निधन ४७ वर्ष की आयु पूर्ण करने के उपरांत होना लिखा है। उक्त उल्लेख इस प्रकार है :–

"बहुरि बारा हजार त्रिलोकसारजी की टीका वा बारा हजार मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ अनेक शास्त्रां के अनुस्वारि अर आत्मांनुसासनजी की टीका हजार तीन यां तीना ग्रन्थां की टीका भी टोडरमलजी सैंतालीस बरस की आयु पूर्ण करि परलोक विषै गमन की।"

---

[१] मो० मा० प्र०, ७६

[२] जीवन पत्रिका, परिशिष्ट १

[३] इ० वि० पत्रिका, परिशिष्ट १

[४] चरचा संग्रह ग्रन्थ की संख्या करी सुजान।
एकादश हजार है द्वै सै ऊपर मान॥

श्री दि० जैन मंदिर, अलीगंज (जि० ऐटा–उ० प्र०) में उपलब्ध, विक्रम संवत् १८५४ में लिपिबद्ध
'चर्चा-संग्रह' ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति के पृष्ठ १७३ का पूर्वार्द्ध

श्री दि० जैन मंदिर, अलीगंज (जि० ऐटा–उ० प्र०) में उपलब्ध, विक्रम संवत् १८५४ में लिपिबद्ध
'चर्चा-संग्रह' ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति के पृष्ठ १७३ का उत्तरार्द्ध

उपर्युक्त सभी तथ्यों की गवेषणा के बाद मेरा निश्चित मत है कि पंडित टोडरमल का जन्म वि० संवत् १७७६-७७ में हुआ और मृत्यु समय उनकी आयु ४७ वर्ष की थी।

जन्मस्थान

पंडित टोडरमल की जन्मतिथि के समान जन्मस्थान के सम्बन्ध में भी कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु ब्र० रायमल ने उन्हें जयपुर के साहूकार का पुत्र बताया है[1] तथा 'शान्तिनाथ पुराण वचनिका प्रशस्ति' में पं० सेवारामजी ने उन्हें जयपुर का वासी लिखा है :–

"वासी श्री जयपुर तनौ टोडरमल्ल क्रिपाल।"

अतः यह तो प्रमाणित है कि उनके जीवन का अधिकांश भाग जयपुर में ही बीता। उन्होंने स्वयं लिखा है :–

देश ढूंढारह माहि महान, नगर सवाई जयपुर जान।
तामे ताकौ रहनौ घनो, थोरो रहनो औठे बनो[2] ।।

उक्त छन्द में पंडितजी ने कुछ समय के लिए जयपुर के बाहर रहना भी स्वीकार किया है जो उनके सिंघाणा प्रवास की ओर इंगित करता है। ब्र० रायमल ने उनके सिंघाणा निवास की चर्चा अपनी जीवन पत्रिका में स्पष्ट रूप से की है। जहां तक उनके जन्म-स्थान का प्रश्न है, वह तो जयपुर में होना संभव नही लगता, क्योंकि उस समय जयपुर बसा ही नहीं था। जयपुर का निर्माण वि० संवत् १७८४ में हुआ है।

मृत्यु

पंडित टोडरमल की मृत्यु जयपुर में ही हुई। उनके अपूर्ण टीकाग्रन्थ 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' की भाषाटीका विक्रम संवत् १७२७ में पूर्ण करनेवाले पंडित दौलतराम कासलीवाल ने उसकी प्रशस्ति में इसका स्पष्ट उल्लेख किया है,[3] पर कब और कैसे के संबंध में वे

---

[1] जीवन पत्रिका, परिशिष्ट १

[2] सं० चं० प्र०

[3] "वे तो परभव कूं गये, जयपुर नगर मझारि।"

एकदम मौन हैं। वे राजकर्मचारी थे[१], अतः उन्होंने राजकीय अविवेक से हुई उनकी असामयिक मृत्यु के सम्बन्ध में कुछ भी लिखना ठीक न समझा होगा क्योंकि यह तो संभव नहीं है कि उन्हें उक्त काण्ड की जानकारी ही न हो, जब कि वि० सं० १८२७ में ही पंडित बखतराम शाह ने 'बुद्धि विलास' समाप्त किया था और उन्होंने उसमें पंडित टोडरमल को दिये गए मृत्युदण्ड का विस्तृत वर्णन किया है। बखतराम शाह के अनुसार कुछ मतांध लोगों द्वारा लगाये गए शिवपिण्डी को उखाड़ने के आरोप के संदर्भ में राजा द्वारा सभी श्रावकों को कैद कर लिया गया था और तेरापंथियों के गुरु, महान धर्मात्मा, महापुरुष, पंडित टोडरमल को मृत्युदण्ड दिया गया था। दुष्टों के भड़काने में आकर राजा ने उन्हें मात्र प्राणदण्ड ही नही दिया वल्कि गंदगी में गड़वा दिया था[२]। यह भी कहा जाता है कि उन्हें हाथी के पैर के नीचे कुचला कर मारा गया था[३]।

विक्रम की उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में जयपुर में तीन बार साम्प्रदायिक उपद्रव हुए। प्रथम विक्रम संवत् १८१८ में व तृतीय

---

[१] "भृत्य भूप को कुल वणिक, जाको बसवो धाम।"
– पु० भा० टी० प्र०

[२] "तब ब्राह्मणनु मतौ यह कियौ, सिव उठांन कौ टौंना दियौ।
तामैं सबै श्रावगी कैद, करिकै दंड किए नृप फैद[१] ॥१३०३॥
यक[१] तेरह पंथिनु मैं[२] ध्रमी[३], हो तौ महा जोग्य साहिमी[४]।
कहै खलनि कै नृप रिसि ताहि, हति कैं धर्‌यौ असुचि थल वाहि[५] ॥१३०४॥"
– बु० वि०

पाठान्तर :– १३०३–(१) तामैं सबै श्रावगी कैद,
डंड कियो नृप करिकैं फैद।
१३०४–(१) गुरु (२) कौं (३) भ्रमी
(४) टोडरमल्ल नांम साहिमी
(५) ताहि भूप मार्‌यौ पल मांहि,
गाड़्यौ मद्धि गंदगी तांहि॥

[३] (क) वीरवाणी : टोडरमलांक, २८५-२८६
(ख) हि० सा० द्वि० खं०, ५००

वि० सं० १८२६ में हुआ[1]। द्वितीय इन दोनों के बीच विक्रम संवत् १८२३ या १८२४ में हुआ था। इसके तिथि सम्बन्धी उल्लेख नहीं मिलते हैं। पंडित टोडरमल का शोचनीय व दुःखद अन्त द्वितीय उपद्रव का ही परिणाम था। इतना तो निश्चित है कि यह उपद्रव राजा माधोसिंह के राज्यकाल में हुआ था[2]। राजा माधोसिंह की मृत्यु तिथि चैत्र कृष्णा ३ वि० संवत् १८२४ है[3]। उक्त तिथि के बाद पंडितजी की विद्यमानता स्वीकार नहीं की जा सकती है।

वि० संवत् १८२१ के माघ माह में होने वाले इन्द्रध्वज विधान महोत्सव में पंडित टोडरमलजी उपस्थित थे[4]। अतः वि० संवत् १८२१ के माघ माह और वि० संवत् १८२४ के चैत्र माह के बीच किसी समय पंडितजी की मृत्यु हुई होगी।

जयपुर के सांगाकों के मंदिर में केशरीसिंह पाटनी सांगाकों का एक हस्तलिखित गुटका है, जिसमें निम्नानुसार उल्लेख मिलता है :–

"मिती कातिक सुदी ५ ने (को) महादेव की पिंडि सहैंरमांहीं कछु अमारगी उपाड़ि नाखि तीह परि राजा रोष करि सुरावग धरम्या परि दंड नाख्यौ[5]।"

उक्त उल्लेख के आधार पर उनकी मृत्यु वि० संवत् १८२२-२३ या २४ की कार्तिक सुदी पंचमी के आसपास संभव हो सकती है। पर 'ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन, बम्बई की तृतीय वार्षिक रिपोर्ट और ग्रन्थसूची तथा प्रशस्ति संग्रह' पृ० ७४-७६ पर मुद्रित है कि त्रिलोकसार की एक प्रति श्रावण कृष्णा ४ वि० संवत् १८२३ की लिखी हुई है (इति श्री त्रिलोकसार भाषा टीका पीठबंध सम्पूर्ण

---

[1] देखिये प्रस्तुत ग्रंथ, ३४-३५

[2] वीरवाणी : टोडरमलांक, २८५

[3] राजस्थान का इतिहास, ६५०

[4] इ० वि० पत्रिका, परिशिष्ट १

[5] वीरवाणी : टोडरमलांक, २८५

संवत् १८२३ का मिती श्रावण बद ४ दिने एषा पुस्तिका लिपी-कृत्वा ।), जिसमें निम्नानुसार उल्लेख पाया जाता है :–

"यह टीका खरड़ा की नकल उतरी है। मल्लजी कृत पीठबंध आदि सम्पूर्ण नहीं भई है। मूलको अर्थ सम्पूर्ण आय गयो है। परन्तु सौधि अर मल्लजी को फरि उतरावणी छै। बीछति होवाके वास्ते जेतै खरड़ा ही उतार लिया है। तिहिस्यौ और परती इहीस्यौ उतरवाज्यौ मती"।

इससे सिद्ध होता है कि श्रावण कृष्णा ४ वि० सं० १८२३ तक पंडित टोडरमल विद्यमान थे और उसके बाद उन्होंने त्रिलोकसार का संशोधन भी किया। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पंडित टोडरमल की मृत्यु कार्तिक शुक्ला ५ वि० सं० १८२३ या २४ के बाद दस-पांच दिन के भीतर ही हुई होगी।

परिवार

पंडितजी के पिता का नाम जोगीदास एवं माता का नाम रम्भादेवी था[१]। ये जाति से खंडेलवाल थे[२] और गोत्र था गोदीका,

---

[१] "रम्भापति स्तुत गुन जनक, जाको जोगीदास।
सोई मेरो प्रान है, धारै प्रगट प्रकाश ॥३७॥"

– स० चं० प्र०

[२] खण्डेलवाल जाति का इतिहास श्वेताम्बर यति श्रीपालचन्द्र 'जैन सम्प्रदाय शिक्षा' (पृष्ठ ६५६) में इस प्रकार बताते हैं :– खण्डेलानगर मे सूर्यवंशी चौहान खण्डेलगिरि राजा राज्य करता था। उक्त राज्य के अंतर्गत ८४ ठिकाने लगते थे। एक समय वहाँ भयंकर महामारी का प्रकोप हुआ। हजारों लोग काल-कवलित होने लगे। वहाँ का राजा दिगम्बर आचार्य जिनसेन की शरण में गया और उनके प्रताप से शान्ति हुई। परिणामस्वरूप राजा ने ८४ ठिकानों के उमरावों सहित जैन धर्म स्वीकार कर लिया। खण्डेला से सम्बन्धित होने से सभी खण्डेलवाल कहलाए। राजा का गोत्र शाह रखा गया तथा बाकी लोगों के गोत्र ग्राम के अनुसार रखे गए।

जिसे भौंसा व बड़जात्या भी कहते हैं[१] । इनके वंशज 'ढौलाका' भी कहलाते थे[२] । वे विवाहित थे, लेकिन उनकी पत्नी व ससुराल पक्ष वालों का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता । उनके दो पुत्र थे – हरिचंद और गुमानीराम । गुमानीराम उनके ही समान उच्चकोटि के विद्वान् और प्रभावक आध्यात्मिक प्रवक्ता थे । उनके पास बड़े-बड़े विद्वान् भी तत्त्व का रहस्य समझने आते थे । घुमक्कड़ विद्वान् पंडित देवीदास गोधा ने 'सिद्धान्तसार टीका प्रशस्ति' में इसका स्पष्ट उल्लेख किया है[३] । पंडित टोडरमल की मृत्यु के उपरान्त वे पंडित टोडरमल द्वारा संचालित धार्मिक क्रान्ति के सूत्रधार रहे ।

जैसे – अजमेर निवासी अजमेरा कहलाए । इसी से मिलता-जुलता विवरण पंडित लक्ष्मीचन्दजी लश्कर वालों ने अपने लक्ष्मी विलास में दिया है । वीरवाणी (सन् १९४७-४८) में श्री राजमल संघी द्वारा लिखित 'खण्डेलवाल जाति की उत्पत्ति का इतिहास' शीर्षक एक लेखमाला क्रमशः कई अंकों में प्रकाशित हुई है, उसमें भी इससे मिलता-जुलता वर्णन है ।

[१] विभिन्न जातियों की वंशावली को सुरक्षित रखने के लिए अलग-अलग जातियों के अपने भाट, पाटिया, पंडे आदि होते हैं । खण्डेलवाल जाति के भी अपने भाट हैं । उनके अनुसार गोदीका, भौंसा, बड़जात्या ये तीनों गोत्र एक ही हैं । इनमें आपस में शादी-विवाह भी नहीं होते हैं । इन तीनों गोत्रों के एक ही होने का दिलचस्प विवरण इस प्रकार है :–

खण्डेलगिरि के राजा का गोत्र 'शाह' और उनके भाई का गोत्र 'भाई शाह' रखा गया था, जो कि बिगड़ते-बिगड़ते 'भावसा', फिर 'भौंसा' हो गया । भौंसा को लोग भैंसा कहकर मजाक उड़ाने लगे । तब सब ने निर्णय किया कि ये बड़ी जाति के है, भैंसा शब्द अच्छा नहीं लगता, अतः उनका गोत्र 'बड़जात्या' कर दिया जाय । तब वे बड़जात्या कहलाने लगे । उनमें से कोई किसी की गोद चला गया तो गोद जाने वाले को 'गोदीका' कहने लगे ।

[२] ढोलाका बैंक है, गोत्र नहीं ।

[३] "......तथा तिनिके पीछे टोडरमलजी के बड़े पुत्र हरीचंदजी तिनितें छोटे गुमानीरामजी महाबुद्धिमान वक्ता के लक्षण कूं धारै तिनिके पास किछू रहस्य सुनि करि कछू जानपना भया ।"

उनके नाम से एक पंथ भी चला जो गुमान-पंथ के नाम से जाना जाता है[१]।

शिक्षा और शिक्षागुरु

वे मेधावी और प्रतिभासम्पन्न थे एवं सदा अध्ययन, मनन, चिंतन में अपना समय सार्थक करते थे। थोड़ा बहुत समय खाने-खेलने में गया होगा, उसके लिये उन्होंने स्वयं खेद व्यक्त किया है[२]। उनकी शिक्षा जयपुर में ही हुई। स्वयं उन्होंने अपने गुरु का उल्लेख कहीं भी नहीं किया है। अन्यत्र भी स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं हैं।

तत्कालीन समाज में धार्मिक अध्ययन के लिए आज के समान सुव्यवस्थित विद्यालय, महाविद्यालय नही चलते थे। लोग स्वयं ही 'सैलियों' के माध्यम से तत्त्वज्ञान प्राप्त करते थे। तत्कालीन समाज में जो आध्यात्मिक चर्चा करने वाली दैनिक गोष्ठियाँ होती थीं, उन्हें सैली कहा जाता था। ये सैलियाँ सम्पूर्ण भारतवर्ष में यत्रतत्र थी। महाकवि बनारसीदास भी आगरा की एक सैली में ही शिक्षित हुए थे[३]। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं :–

"बीकानेर जैनलेख-संग्रह में अध्यात्मी सम्प्रदाय का उल्लेख भी ध्यान देने योग्य है। वह आगरे के ज्ञानियों की मण्डली थी, जिसे सैली कहते थे। ज्ञात होता है कि अकबर की 'दीने-इलाही' प्रवृत्ति भी इसी प्रकार की आध्यात्मिक खोज का परिणाम थी। बनारस में भी आध्यात्मियों की एक सैली या मण्डली थी। किसी समय राजा टोडरमल के पुत्र गोवर्धनदास इसके मुखिया थे[४]।"

---

[१] (क) "तेरापंथिन में भी बरस पच्चीसेक सूं गुमानीराम भेद थाप्या है।"
– बृ० वि०, १२८

(ख) हि० ग० वि०, १८८

[२] "ऐसौ यह मानुष पर्याय, बधत भयो निज काल गमाय।"
– स० चं० प्र०

[३] (क) अ० क० भूमिका, २५

(ख) जैन शोध और समीक्षा, १५१

[४] मध्यकालीन नगरों का सांस्कृतिक अध्ययन : जैन संदेश शोधांक, जून १९५७

उपनिषद् काल से ही भारतवर्ष में इस तरह की परिषदों या स्वाध्याय-मण्डलों का उल्लेख मिलता है। यह आलोच्य युग की सैली भी उन्हीं का विकसित और परिवर्द्धित रूप जान पड़ता है[१]।

पंडितप्रवर जयचन्द छाबड़ा ने 'सर्वार्थसिद्धि वचनिका प्रशस्ति' में जयपुर की तेरापंथी सैली में शिक्षित होने की चर्चा इस प्रकार की है :–

"निमित्त पाय जयपुर में आय, बड़ी जु सैली देखी भाय।
गुणी लोक साधरमी भले, ज्ञानी पंडित बहुते मिले।।
पहले थे बंशीधर नाम, धरै प्रभावन-भाव सुठाम।
'टोडरमल' पंडित मतिखरी, 'गोम्मटसार' वचनिका करी।।
ताकी महिमा सब जन करें, बांचें-पढ़ें बुद्धि विस्तरें।
'दौलतराम' गुणी अधिकाय, पंडितराय राज में जाय।।
ताकी बुद्धि लसै सब खरी, तीन पुरान वचनिका करी।
'रायमल्ल' त्यागी गृहवास, 'महाराम' व्रत शील निवास।।
मैं हूँ इनकी संगति ठानि, बुद्धि सारू जिनवाणी जानि।
शैली तेरापंथ सुपंथ, तामें बड़े गुणी गुन-ग्रन्थ।
तिनकी संगति में कछु बोध, पायो मै अध्यातम सोध।।

पंडित टोडरमल ने भी जयपुर की सैली में ही शिक्षा प्राप्त की थी। उन्होंने बाद में उक्त सैली का सफल संचालन भी किया। उनके पूर्व बाबा बंशीधरजी उक्त सैली के संचालक थे। वे पुरुषों, महिलाओं और बच्चों को धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ न्याय, व्याकरण, छंद,

---

[१] "इन लोगों ने अपने विचारों के अनुयायी राष्ट्रों में परिषदें स्थापित की थीं और व्रात्य-संघों के सदृश ही इनके भी स्वाध्याय-मण्डल थे, जो व्रात्य-संघों से पीछे के नहीं, अपितु पहले के थे।"

– काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, ५३

अलंकार, काव्य आदि विषय भी पढ़ाते थे[१]। अतः संभावना यही है कि उनके शिक्षागुरु बाबा बंशीधर ही रहे होंगे। उक्त सैलियों में विधिवत् निर्वाचित नेता कोई नही होता था। प्रायः तत्त्वप्रेमी बराबरी के रूप में रहते थे, किन्तु विद्वान् और प्रामाणिक वक्ता के रूप में कुछ व्यक्तित्व स्वयं उभर आते थे और उनके निर्देश में गोष्ठियाँ संचालित होने लगती थी। अतः नेतृत्व या गुरु-शिष्य परम्परा सम्बन्धी कोई उल्लेख मिलना संभव नहीं है। जो भी कथन मिलते हैं वे सामान्य रूप से सैलियों के मिलते है। यही कारण है कि पं० टोडरमल ने व्यक्ति विशेष का गुरु रूप में उल्लेख नहीं किया तथा उनसे ज्ञान लाभ लेने वालों ने भी उनका सीधे गुरु रूप में स्मरण न कर सैली में प्रमुख वक्ता एवं लेखक के रूप में उल्लेख किया है तथा सैली में आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करने के उल्लेख किए हैं। 'रत्नकरण्डश्रावकाचार भाषा वचनिका प्रशस्ति' में पं० सदासुखदास कासलीवाल लिखते हैं :-

> गोत कासलीवाल है, नाम सदासुख जास।
> सैली तेरापंथ में, करें जु ज्ञान अभ्यास ॥११॥

गूढ़ तत्त्वों के तो पं० टोडरमल स्वयंबुद्ध ज्ञाता थे। 'लब्धिसार' व 'क्षपणासार' की संदृष्टियाँ आरम्भ करते हुए वे स्वयं लिखते हैं, "शास्त्र विषैं लिख्या नाही और बतावने वाला मिल्या नाही।"

कन्नड़ भाषा और लिपि का ज्ञान एवं अभ्यास भी उन्होंने स्वयं किया। उसमें अध्यापकों के सहयोग की सम्भावना भी नहीं की जा सकती है क्योंकि उस समय उत्तर भारत में कन्नड़ के अध्यापन की

---

[१] (क) "अर एक बंसीधर किंचित् संजम का धारक विशेष व्याकरणादि जैनमत के शास्त्रां का पाठी, सौ-पचास लड़का-पुरुष-बायां जानवै व्याकरण, छन्द, अलंकार काव्य चरचा पढ़ै तासूं मिले।"

– जीवन पत्रिका, परिशिष्ट १

(ख) "अर अबै वर्तमान काल विषै बाबा बंसीधरजी व मलजी साहिब ये दोय सैलीनि विषैं मुख्य हैं।"

– टो० ज० स्मा०, ४

व्यवस्था दुस्साध्य कार्य था। कन्नड़ एक कठिन लिपि है, द्राविड़ परिवार की सभी लिपियाँ कठिन हैं। उसको किसी की सहायता के बिना सीखना और भी कठिन था पर उन्होंने उसका अभ्यास कर लिया और साधारण अभ्यास नहीं – वे कन्नड़ भाषा के ग्रन्थों पर व्याख्यान करते थे एवं उन्हें कन्नड़ लिपि में लिख भी लेते थे। ब्र० रायमल ने लिखा है, "दक्षिण देस सूं पांच-सात और ग्रंथ ताड़पत्रां विषै कर्णाटी लिपि मैं लिख्या इहां पधारे हैं, ताकूं मलजी बांचै है, वाका यथार्थ व्याख्यान करै है वा कर्णाटी लिपि मैं लिखि लेहैं[1]।"

व्यवसाय

उनकी आर्थिक स्थिति साधारण थी। उनको अपनी आजीविका के लिये जयपुर छोड़कर सिंघाणा जाना पड़ा था। सिंघाणा जयपुर के पश्चिम में करीब १५० किलोमीटर दूर वर्तमान खेतड़ी प्रोजेक्ट के पास स्थित है। वहाँ भी उनका कोई स्वतंत्र व्यवसाय नहीं था। वे दिल्ली के एक साहूकार के यहाँ कार्य करते थे[2] और निश्चित रूप से वे वहां चार-पाँच वर्ष से कम नहीं रहे।

उनके व्यवसाय और आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्तियाँ प्रचलित है। कहा जाता है कि वे आर्थिक दृष्टि से बहुत सम्पन्न थे। उनको पढ़ाने के लिए बनारस से विद्वान् बुलाया गया था[3]। उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर उनके अध्ययन की व्यवस्था अमरचंदजी दीवान ने की थी। दीवान अमरचंदजी के कारण उनको राज्य में सम्माननीय पद प्राप्त था[4]। इस राजकर्मचारी पद से राज्य और प्रजा के हित के उन्होंने अनेक कार्य किए[5]। उनका प्रखर पाण्डित्य

---

[1] इ० वि० पत्रिका, परिशिष्ट १

[2] "पीछै सेखावाटी विषै सिंघाणां नम्र तहा टोडरमल्लजी एक दिली का बड़ा साहूकार साधर्मी ताकै समीप कर्मकार्य के अर्थि वहां रहै, तहां हम गए अर टोडरमलजी सू मिले।" – जीवन पत्रिका, परिशिष्ट १

[3] सन्मति सन्देश : टोडरमल विशेषांक, वर्ष १० अंक ५, पृ० ७२

[4] हि० सा० स० इति०, १८५, १८६

[5] (क) वही, १८८
(ख) रहस्यपूर्ण चिट्ठी की भूमिका, ६-१०

राज्य की विद्वत्परिषद् को अखरने लगा और कई बार पराजित होने से वे उन पर द्वेषभाव रखने लगे[1]।

यह बात सम्भव नहीं है कि जिस व्यक्ति को उस युग में – जब कि कोई व्यक्ति घर से बाहर जाना पसन्द नहीं करता था और यातायात के समुचित साधन उपलब्ध नहीं थे – अपनी अल्पवय में आजीविका के लिये बाहर जाना पड़ा हो, वह आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न रहा होगा और वह भी इतना कि उसकी शिक्षा के लिए उसके माता-पिता बनारस से विद्वान् बुला सकने की स्थिति में हों।

दूसरे यह भी संभव नहीं कि दीवान, अमरचन्दजी ने उनके पढ़ाने की व्यवस्था की हो या उन्हें राज्य में कोई अच्छा पद दिलाया हो क्योंकि पं० टोडरमल के दिवंगत होने तक अमरचन्दजी दीवान-पद पर प्रतिष्ठित नहीं हुए थे। पंडितजी के राजकर्मचारी पद से राजा और प्रजा के हित में अनेक कार्य करने की बात निरी कल्पना ही लगती है। न तो लेखक ने इसके संबंध में कोई प्रमाण ही प्रस्तुत किया है और न इस संबंध में अन्य कोई जानकारी उपलब्ध है। राजा की विद्वत्परिषद् में जाने एवं वहाँ वाद-विवाद करने के कोई उल्लेख नहीं मिलते और न यह सब उनकी प्रकृति के अनुकूल ही था।

अध्ययन और जीवन

पंडितजी का अध्ययन विस्तृत और गंभीर था। वे थोड़े ही समय में न्याय, व्याकरण, छन्द, अलंकार, गणित आदि विषयों एवं प्राकृत संस्कृत भाषा के विद्वान हो गए थे तथा जैन-सिद्धान्त और अध्यात्म का गहन अभ्यास उन्होंने कर लिया था। ब्र० रायमल ने उनके विषय में लिखा है :–

"ढूंढाड देश विषै सवाई जैपुर नगर ता विषै तेरापंथ्या का देहरा विषै टोडरमल्लजी बड़े पुण्यवांन श्रेष्टी अवर्तसम्यकदृष्टी न्याय

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक : अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला बम्बई, भूमिका, २३

व्याकरण छंद अलंकार गणित आदि शास्त्र के पारगामी विशेष तत्वज्ञानी आत्मअनुभवी बड़े अध्यात्मी[१]........।"

वे स्वयं लिखते हैं :–

"हमारे पूर्व संस्कार तें वा भला होनहार तें जैन शास्त्रनिविषें अभ्यास करने का उद्यम होत भया। तातैं व्याकरण, न्याय, गणित, आदि उपयोगी ग्रन्थनि का किंचित् अभ्यास करि टीकासहित समयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, गोमट्टसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार, तत्त्वार्थसूत्र इत्यादि शास्त्र अर क्षपणासार, पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय, अष्टपाहुड़, आत्मानुशासन आदि शास्त्र अर श्रावक मुनि का आचार के प्ररूपक अनेक शास्त्र अर सुस्ठुकथा सहित पुराणादि शास्त्र इत्यादि अनेक शास्त्र हैं तिनि विषें हमारै बुद्धि अनुसारि अभ्यास वर्ते है[२]।"

जैन दर्शन के साथ-साथ आपको समस्त भारतीय दर्शनों का अध्ययन भी था। मोक्षमार्ग प्रकाशक के पाँचवें अधिकार में प्रयुक्त अनेकों भारतीय दर्शन-ग्रन्थों के उद्धरण इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्राकृत, संस्कृत और हिन्दी भाषा के तो वे विशेष विद्वान् थे ही, साथ ही कन्नड़ भाषा और लिपि का भी उन्हें अभ्यास था। प्राकृत और संस्कृत के गंभीर ग्रन्थों की टीकाएँ तो उन्होंने जनभाषा में लिखी ही हैं, कन्नड़ ग्रन्थों पर भी उन्होंने जयपुर की जैन सभाओं में प्रवचन दिए थे[३]।

गार्हस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भी उनकी वृत्ति सात्विक, निरीह एवं साधुता की प्रतीक थी।[४] उनका जीवन आध्यात्मिक जीवन था। उनका अध्ययन, मनन, पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं,

---

[१] देखिये प्रस्तुत ग्रंथ, ५१–५२

[२] मो० मा० प्र०, १६–१७

[३] इ० वि० पत्रिका, परिशिष्ट १

[४] "भाषाटीका ता उपरि, कीनी टोडरमल्ल।
मुनिवत वृत्ति ताकी रहे, वाके मांहि अचल्ल।।"
–पु० भा० टी० प्र०, १२६

वरन् अपने दोषों को दूर कर जीवन को परम पवित्र बनाने के लिए था। मोक्षमार्ग प्रकाशक में अनेक प्रकार के मिथ्यादृष्टियों (अज्ञानियों) का वर्णन करने के उपरान्त वे लिखते हैं :–

"यहाँ नाना प्रकार मिथ्यादृष्टीनि का कथन किया है। याका प्रयोजन यह जानना, जो इन प्रकारनिकौ पहिचानि आपविषैं ऐसा दोष होय तौ ताकौं दूर करि सम्यक्श्रद्धानी होना। औरनिही के ऐसे दोष देखि कषायी न होना। जातै अपना भला बुरा तौ अपने परिणामनि तें हो है। औरनिकौ तो रुचिवान देखिए, तो किछू उपदेश देय वाका भी भला कीजिए। तातें अपने परिणाम सुधारने का उपाय करना योग्य है[१]।"

कार्यक्षेत्र और प्रचार कार्य

आत्मस्वरूप की प्राप्ति[२] और आध्यात्मिक तत्त्व-प्रचार ही उनका एकमात्र लक्ष्य था। लौकिक कार्यों में आपकी कोई रुचि न थी। साहित्य निर्माण तो तत्त्व-प्रचार का माध्यम था[३]। यही कारण है कि आप अपने जीवन का अधिकांश समय स्वानुभव प्राप्ति के यत्न और शास्त्राध्ययन, मनन, चिन्तन, लेखन, तत्त्वोपदेश एवं तत्सम्बन्धी साहित्य-निर्माण में ही लगाते थे। अपने पाठकों और श्रोताओं को भी निरन्तर इसी की प्रेरणा दिया करते थे[४]। वे सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका की पीठिका में लिखते हैं :–

"परन्तु अभ्यासविषै आलसी न होना। देखो, शास्त्राभ्यास की महिमा जाकौ होतें परम्परा आत्मानुभव दशा कौ प्राप्त होइ। सो मोक्षमार्ग रूप फल निपजै है, सो तौ दूर ही तिष्ठौ, तत्काल ही इतने गुण हो हैं, क्रोधादि कषायनि की तौ मंदता हो है, पंचेन्द्रियनि की विषयनि विषैं प्रवृत्ति रुकै है, अति चंचल मन भी एकाग्र हो है, हिंसादि पंच पाप न प्रवर्त्तै है"........।

---

[१] मो० मा० प्र०, ३६२

[२] क्षपणासार भाषाटीका, अन्तिम वाक्य

[३] मो० मा० प्र०, २६-३०

[४] रहस्यपूर्ण चिट्ठी

यद्यपि उनके जीवन का अधिकांश समय जयपुर और सिंघाणा में ही बीता था तथापि उनके द्वारा अध्यात्म-तत्त्व का प्रचार सुदूरवर्ती क्षेत्रों में भी हुआ था।[१] दूर-दूर से लोग उनसे चर्चा करने आते और उनसे अपनी शंकाओं का समाधान प्राप्त कर अपने को कृतार्थ मानते थे। साधर्मी भाई ब्र० रायमल शाहपुरा से उनसे मिलने सिंघाणा गए तथा उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर तीन वर्ष तक वहीं तत्त्वाभ्यास करते रहे। जो व्यक्ति उनके पास न आ सकते थे, वे पत्र-व्यवहार द्वारा अपनी शंकाओं का समाधान किया करते थे[२]। इस संदर्भ में मुलतान वालों की शंकाओं के समाधान में लिखा गया पत्र अपने आप में एक ग्रन्थ[३] बन गया है। 'शान्तिनाथ पुराण बचनिकाकार' पं० सेवाराम[४] और गंभीर न्याय सिद्धान्त-ग्रन्थों के टीकाकार पं० जयचन्दजी छाबड़ा[५] जैसे कई बड़े-बड़े विद्वान् भी आपके द्वारा सुपंथ में लगे थे एवं कई विद्वानों ने आपसे प्रेरणा पाकर अपना जीवन माँ सरस्वती की सेवा में समर्पित कर दिया था।

उनकी आत्मसाधना और तत्त्वप्रचार का कार्य सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित था। मुद्रण की सुविधा न होने से तत्सम्बन्धी अभाव की पूर्ति हेतु दश-बारह सवैतनिक कुशल लिपिकार शास्त्रों की प्रतिलिपियाँ करते रहते थे। पण्डित टोडरमल का व्याख्यान सुनने उनकी

---

[१] "देश ढुंढारह आदि दे, सम्बोधे बहु देश।
रचि-रचि ग्रन्थ कठिन किए, टोडरमल्ल महेश॥"
— शा० पु० ब० प्र०

[२] "देश-देश का प्रश्न यहां आवै तिनका समाधान होय उहां पहुंचे"।
— जीवन पत्रिका, परिशिष्ट १

[३] 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' जिसका विस्तृत परिचय तीसरे अध्याय में दिया गया है।

[४] "वासी श्री जयपुर तनों, टोडरमल्ल क्रिपाल।
ता प्रसंग को पायकै, गह्यो सुपंथ विशाल॥
तिनही को उपदेश लहि, सेवाराम समान।
रच्यो ग्रन्थ शुभकीर्ति को, बड़े हर्ष अधिकान॥"
—शा० पु० ब० प्र०

[५] सर्वार्थसिद्धि बचनिका प्रशस्ति

शास्त्रसभा में हजार-बारह सौ स्त्री-पुरुष प्रति दिन आते थे। बालक-बालिकाओं एवं प्रौढ़ पुरुष एवं महिला वर्ग के धार्मिक अध्ययन-अध्यापन की पूरी-पूरी व्यवस्था थी। उक्त सभी व्यवस्था की चर्चा ब्र० रायमल ने विस्तार से की है[1]।

उनका कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण भारतवर्ष था। उनका प्रचार कार्य ठोस था। यद्यपि उस समय यातायात की कोई सुविधाएँ नहीं थीं, तथापि उन्होंने दक्षिण भारत मे समुद्र के किनारे तक धवलादि सिद्धान्त-शास्त्रो की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया था। उक्त संदर्भ में ब्र० रायमल लिखते हैं, "और दोय-च्यार भाई धवल, महाधवल, जयधवल लेने कूं दक्षिण देशविषैं जैनबद्रीनगर वा समुद्र ताई गये थे[2]।"

बहुत परेशानी उठाने के बाद भी, यहाँ तक कि एक व्यक्ति की जान भी चली गई, उन्हे उक्त शास्त्र प्राप्त करने में सफलता नहीं मिली, किन्तु उन्होंने प्रयास करना नही छोड़ा। ब्र० रायमल इसी संदर्भ में आगे लिखते हैं :-

"तातैं ईं देश मैं सिद्धान्तां का आगमन हूवा नांहीं। रुपया हजार दोय २०००) पांच-सात आदम्यां कै जावें आवै खरचि पड्या। एक साधर्मी डालूराम की उहां ही पर्याय पूरी हुई।.......... बहुरि या बात के उपाय करने में बरस च्यारि पांच लागा। पांच विश्वा औरूं भी उपाय वर्तै है। औरंगाबाद सूं सौ कोस परै एक मलयखेड़ा है तहां भी तीनूं सिद्धान्त विराजै है।..........मलयखेड़ा सू सिद्धान्त मंगायवे का उपाय है सो देखिए ए कार्य बरणनें विषै कठिनता विशेष है"[3]।

सम्पर्क और साहचर्य

पण्डित टोडरमल के अद्वितीय सहयोगी थे साधर्मी भाई ब्र० रायमल जिन्होंने अपना जीवन तत्त्वाभ्यास और तत्त्वप्रचार के लिए ही समर्पित कर दिया था। उनकी प्रेरणा से ही पं० टोडरमल ने

---

[1] जीवन पत्रिका, परिशिष्ट १

[2] इ० वि० पत्रिका, परिशिष्ट १

[3] वही

श्री दि० जैन मंदिर मदीचंदजी, घी वालों का रास्ता, जयपुर में उपलब्ध, साधर्मी भाई ब्र० रायमल द्वारा लिखित 'जीवन पत्रिका' व 'इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका' की मूल प्रति का क्रमशः अंतिम व प्रथम पृष्ठ

गोम्मटसारादि ग्रन्थों की टीका बनाई थी[१]। जब ये दोनों "मल्ल" (टोडरमल और रायमल) तत्त्वप्रचार के अखाड़े में उतरकर आए तो फिर और मल्लों की आवश्यकता ही नहीं रही थी[२]।

इन दोनों महानुभावों ने मात्र ग्रन्थों की रचनाएँ ही नहीं कीं, वरन् उन्हें पढ़ाया, उन पर प्रवचन दिए[३], उनकी बहुत सी प्रतिलिपियाँ कराईं और जहाँ-जहाँ आवश्यकता समझी, पहुँचाईं[४]। इस प्रकार उन्होंने सर्वत्र आध्यात्मिक वातावरण बना दिया।

सिंघाणा से जयपुर लौटने के बाद तत्कालीन जयपुर नरेश माधोसिंह के दीवान रतनचंद और बालचंद छाबड़ा उनके सम्पर्क में आए। वे उनकी दैनिक सभा के श्रोता थे। पं० टोडरमल के सान्निध्य में वर्तमान में राजस्थान की राजधानी गुलाबी नगर जयपुर में वि० सं० १८२१ में 'इन्द्रध्वज विधान महोत्सव' नामक विशाल उत्सव का सफल संचालन दीवान रतनचंदजी एवं दीवान बालचंदजी छाबड़ा ने ही किया था[५]। दीवान रतनचंदजी की पंडित टोडरमलजी के प्रति

---

[१] "रायमल्ल साधर्मी एक, धर्म सधैया सहित विवेक।
सो नाना विधि प्रेरक भयो, तब यहु उत्तम कारज थयो।।"
– स० चं० प्र०

[२] "वासी श्री जयपुर तनों, टोडरमल्ल क्रिपाल।
पुनि ताकै तट दूसरो रायमल्ल बुधराज।
जुगल मल्ल जब ये जुरे, और मल्ल किह काज।।"
– शा० पु० ब० प्र०

[३] "सभाविषै गोमट्टसारजी का व्याख्यान होय है।............एह व्याख्यान टोडरमल्लजी करै हैं।"
– इ० वि० पत्रिका, परिशिष्ट १

[४] "तहाँ गोम्मटसारादि च्यारों ग्रंथा कूं सोधि याकी बहोत प्रति उतराई, जहाँ सैली छीं तहाँ-तहाँ सुधाई-सुधाई पधराई।"
– इ० वि० पत्रिका, परिशिष्ट १

[५] "अर दोन्यूं दीवान रतनचंद व बालचंद या कार्य विषै अग्रेसरी हैं।"
– इ० वि० पत्रिका, परिशिष्ट १

अपार श्रद्धा थी। उन्होंने पंडित टोडरमल की मृत्यु के उपरान्त उनके अपूर्ण टीका ग्रन्थ 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषाटीका' को पूर्ण करने का आग्रह पंडित दौलतराम कासलीवाल, जयपुर से किया[१]। उन्हीं की प्रेरणा के फलस्वरूप पंडित दौलतराम कासलीवाल ने उक्त टीका को विक्रम संवत् १८२७ में पूर्ण किया।

दीवान रतनचंद और बालचंद छाबड़ा के अतिरिक्त उदासीन श्रावक महाराम ओसवाल, अजबराय, त्रिलोकचंद पाटनी, त्रिलोकचंद सौगाणी, नयनचंद पाटनी आदि पंडित टोडरमल के सक्रिय सहयोगी एवं उनकी दैनिक सभा के श्रोता थे[२]।

प्रमेयरत्नमाला, आप्तमीमांसा, समयसार, अष्टपाहुड़, सर्वार्थसिद्धि आदि अनेकों गंभीर न्याय और सिद्धान्तग्रन्थों के सफल टीकाकार पंडितप्रवर जयचंद छाबड़ा[३]; आदिपुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण आदि अनेक पुराणों के लोकप्रिय बचनिकाकार पंडित दौलतराम कासलीवाल; गुमानपंथ के संस्थापक पं० गुमानीराम तथा अत्यन्त उत्साही और घुमक्कड़ विद्वान् पं० देवीदास गोधा[४] ने पंडित टोडरमल की संगति से लाभ उठाया था।

---

[१] "आनन्द सुत तिनकौ सखा, नाम जु दौलतराम।
तासूं रतन दीवान नें, कही प्रीति धर एह।
करिए टीका पूरणा, उर धरि धर्म सनेह।।"
— पु० भा० टी० प्र०

[२] "सो टोडरमलजी के श्रोता विशेष बुद्धिमान दीवान रतनचंदजी, अजबरायजी, त्रिलोकचंदजी पाटनी, महारामजी विशेष चर्चावान ओसवाल क्रियावान उदासीन तथा त्रिलोकचंदजी सौगाणी, नयनचंदजी पाटनी इत्यादि……"
— सिद्धान्तसार संग्रह बचनिका प्रशस्ति

[३] सर्वार्थसिद्धि बचनिका प्रशस्ति

[४] सिद्धान्तसार संग्रह बचनिका प्रशस्ति

व्यक्तित्व

पंडित टोडरमल गंभीर प्रकृति के आध्यात्मिक महापुरुष थे। वे स्वभाव से सरल, ससार से उदास, धुन के धनी, निरभिमानी, विवेकी, अध्ययनशील, प्रतिभावान, बाह्याडम्बर-विरोधी, दृढ़श्रद्धानी, क्रांतिकारी, सिद्धान्तो की कीमत पर कभी न झुकने वाले, आत्मानुभवी, लोकप्रिय प्रवचनकार, सिद्धान्त-ग्रन्थो के सफल टीकाकार एव परोपकारी महामानव थे।

उनका जीवन आध्यात्मिक था। वे अपने दैनिक पत्र-व्यवहार में भी लोगों को आध्यात्मिक प्रेरणाएं दिया करते थे। मुलतान की चिट्ठी मे लिखे गए निम्नलिखित वाक्य उनके जीवन के प्रतिबिम्ब है :–

"इहा जिथा संभव आनन्द है, तुम्हारे चिदानन्दघन के अनुभव से सहजानन्द की वृद्धि चाहिजे।"

इस बात का उन्हे बहुत दु:ख था कि वर्तमान मे आध्यात्मिक रसिक बिरले ही है। अध्यात्म की चर्चा करने वालों से उन्हे सहज अनुराग था[१]। वे व्यर्थ की लौकिक चर्चाओं से युक्त पत्र-व्यवहार करना पसन्द नही करते थे, पर अध्यात्म और आगम की चर्चा उन्हें बहुत प्रिय थी। अत इस प्रकार के पत्रों को पाकर उन्हें प्रसन्नता होती थी और अपने स्नेहियों को इस प्रकार के पत्र देने के लिए प्रेरणा भी दिया करते थे[२], किन्तु सर्वोपरि प्रधानता आत्मानुभव को ही देते थे। अत वे अपने पत्रों मे बार-बार यह प्रेरणा देना आवश्यक समझते थे कि "अर निरन्तर स्वरूपानुभव मे रहना।" स्वरूपानुभव के बाद द्वितीय वरीयता देते हुए वे लिखते है, "तुम अध्यात्म तथा आगम ग्रन्थों का अभ्यास रखना।"

---

[१] "अबार वर्तमान काल मे अध्यातम के रसिक बहुत थोडे है। धन्य है जे स्वात्मानुभव की वार्ता भी करै है।" – रहस्यपूर्ण चिट्ठी

[२] "और अध्यातम आगम की चर्चागर्भित पत्र तो शीघ्र-शीघ्र देवौ करौ। मिलाप कभी होगा तब होगा।" – रहस्यपूर्ण चिट्ठी

अध्ययन और ध्यान यही उनकी साधना थी। निरन्तर आध्यात्मिक अध्ययन, चिन्तन, मनन के फलस्वरूप 'मैं टोडरमल हूँ' की अपेक्षा 'मैं जीव हूँ' की अनुभूति उनमें अधिक प्रबल हो उठी थी। यही कारण है कि जब वे सम्यग्ज्ञानचंद्रिका प्रशस्ति में अपना परिचय देने लगे तो सहज ही लिखा गया :–

मैं तो जीव-द्रव्य हूँ। मेरा स्वरूप तो चेतना (ज्ञानदर्शन) है। मै अनादि से ही कर्मकलंक-मल से मैला हूँ। कर्मों के निमित्त से मुझमे राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। राग-द्वेष मेरे स्वभाव में नहीं है। राग-द्वेष के निमित्त से दुष्ट की संगति के समान इस शरीर का संग हो गया है। मै तो रागादि और शरीर दोनों से ही भिन्न ज्ञान-स्वभावी जीव तत्त्व हूँ। रागादि भावो के निमित्त से कर्म बंध और कर्मोदय के निमित्त से रागादि भाव होते हैं। इस प्रकार इनका यत्रवत चक्र चल रहा है। इसी चक्र मे मै मनुष्य हो गया हूँ। निज पद (परमात्म पद) प्राप्ति का उपाय यदि बन सकता है तो इस मनुष्य पर्याय में ही बन सकता है[1]।

मै एक आत्मा और शरीर के अनेक पुद्गल स्कंध मिल कर एक असमान जाति पर्याय का रूप बन गया है, जिसे मनुष्य कहते है। इस मनुष्य पर्याय मे जो जानने-देखने वाला ज्ञानांश है, वह मै हूँ। मैं अनादि अनन्त एक अमूर्तिक अनन्त गुणों से युक्त जीव-द्रव्य हूँ। कर्मोदय का निमित्त पाकर मुझमें रागादिक दुःखदायी भावों की

---

[1] मैं हूँ जीव-द्रव्य नित्य चेतना स्वरूप मेर्यो,
लग्यो है अनादि तैं कलंक कर्म मल को।
ताहि को निमित्त पाय रागादिक भाव भये,
भयो है शरीर को मिलाप जैसे खल को॥
रागादिक भावनि को पायकें निमित्त पुनि,
होत कर्म बध ऐसौ है बनाव जैसे कल को।
ऐसें ही भ्रमत भयो मानुष शरीर जोग,
बनै तो बनै यहा उपाव निज थल को॥३६॥

उत्पत्ति होती है। ये रागादिक भाव मेरे स्वभाव भाव नहीं हैं, ये तो औपाधिक भाव हैं, यदि ये नष्ट हो जावें तो में पूर्ण परमात्मा ही हूँ[१]।

प्रतिभा के धनी और आत्मसाधना-सम्पन्न होने पर भी उन्हें अभिमान छू भी नहीं गया था। अपनी रचनाओं के कर्तृत्व के संबंध मे वे लिखते हैं :–

बोलना, लिखना तो जड़ (पुद्गल) की क्रिया है। पाँचों इन्द्रियाँ और मन भी पुद्गल के ही बने हुए हैं। इनसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि मैं तो चेतन द्रव्य आत्मा हूँ और ये जड़ पुद्गल हैं, अतः में इनका कर्त्ता कैसे हो सकता हूँ[२] ?

बोलने के भावरूप राग और बोलने में निमित्त की अपेक्षा से कारण-कार्य सम्बन्ध है, अतः जगत को इनकी भिन्नता भासित नही होती है। इनमें भिन्नता तो विवेक की आँख से ही दिखाई देती है और सारा जगत विवेक के बिना अंधा हो रहा है[३]।

वे आगे लिखते है :– उक्त टीका ग्रन्थों का मात्र मैं ही कर्त्ता नही हूँ, क्योंकि इनकी रचना तो कागजरूप पुद्गल-स्कन्धों पर स्याही के परमाणुओं के बिखरने से हुई है। मैंने तो मात्र इसे जाना है और मुझे उक्त ग्रन्थों की टीका करने का राग भी हुआ है। अत. इसकी रचना में ज्ञानांश और रागांश तो मेरा है, बाकी सब पुद्गल

---

१ मै आतम अरू पुद्गल खंध, मिलकैं भयो परस्पर बंध।
सो असमान जाति पर्याय, उपज्यो मानुष नाम कहाय ।।३८।।
तिस पर्याय विषै जो कोय, देखन-जानन हारो सोय।
मैं हूं जीव-द्रव्य गुण भूप, एक अनादि अनन्त अरूप ।।४२।।
कर्म उदय को कारण पाय, रागादिक हो है दु.खदाय।
ते मेरे औपाधिक भाव, इनिकौं विनसैं मैं शिवराय ।।४३।।

२ वचनादिक लिखनादिक क्रिया, वर्णादिक अरू इन्द्रिय हिया।
ये सब है पुद्गल के खेल, इनमें नाहिं हमारो मेल ।।४४।।
– स० च० प्र०

३ रागादिक वचनादिक घनां, इनके कारण कारिज पनां।
तातैं भिन्न न देख्यो कोय, बिनु विवेक जग अंधा होय ।।४५।।
– स० च० प्र०

(जड़) की परिणति है । यह शास्त्र तो एक पुद्गल का पिण्ड मात्र है, फिर भी इसमें श्रुतज्ञान निबद्ध है[1] ।

वे विनम्र थे, पर दीन नहीं । स्वाभिमान उनमें कूट-कूट कर भरा था । विद्वानों का धनवानों के सामने झुकना उन्हें कदापि स्वीकार न था । 'सम्यग्ज्ञानचंद्रिका' की पीठिका में धन के पक्षपाती को लक्ष्य करके वे कहते हैं :–

"तुमने कहा कि धनवानों के निकट पडित आकर रहते हैं सो लोभी पंडित हो और अविवेकी धनवान हो वहाँ ऐसा होता है । शास्त्राभ्यास वालों की तो इन्द्रादिक भी सेवा करते हैं । यहाँ भी बड़े-बड़े महन्त पुरुष दास होते देखे जाते हैं, इसलिए शास्त्राभ्यास वालों से धनवानों को महन्त न जान ।"

वे सरल स्वभाव के साधु पुरुष थे । पंडित दौलतराम कासलीवाल ने उनको मुनिवरवत वृत्ति लिखा है[2] । वे लोकेषणा से दूर रहनेवाले लोकोत्तर महापुरुष थे । उन्होंने साहित्य का निर्माण लोक-बड़ाई और आर्थिक लाभ के लिए नहीं किया था । यह कार्य उनकी परोपकार वृत्ति का सहज परिणाम था । मोक्षमार्ग प्रकाशक के आरंभ में वे स्वयं लिखते है :– "बहुरि इहाँ जो मैं यहु ग्रन्थ बनाऊं हूँ सो कषायनि तें अपना मान बधावने कौं वा लोभ साधने कौं वा यश होने कौ वा अपनी पद्धति राखने कौ नाही बनाऊँ हूँ ।........ इस समय विषैं मंदज्ञानवान जीव बहुत देखिये हैं तिनिका भला होने के अर्थि धर्मबुद्धि तें यह भाषामय ग्रन्थ बनाऊँ हूँ[3] ।"

अपने विषय के अधिकारी एवं अद्वितीय विद्वान् और सबके द्वारा सम्मानित होने पर भी 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका' जैसी महान टीका

---

[1] "ज्ञान राग तो मेरौ मिल्यौ, लिखनौ करनौ तनु को मिल्यौ ।
कागज मसि अक्षर आकार, लिखिया अर्थ प्रकाशन हार ।।
ऐसौ पुस्तक भयो महान, जातै जानें अर्थ सुजान ।
यद्यपि यहु पुद्गल कौ खंद, है तथापि श्रुतज्ञान निबंध ।।"
–सं० चं० प्र०

[2] "मुनिवत वृत्ति बाकी रही, ताकं मांहि अचल्ल ।" –पु० भा० टी० प्र०

[3] मो० मा० प्र०, २६

लिखने के उपरान्त वे लिखते हैं – "विशेष ज्ञानवान पुरूषनि का प्रत्यक्ष संयोग है नाहीं, तातें परोक्ष ही तिनिसों विनती करों हों कि मैं मंदबुद्धि हों, विशेष ज्ञानरहित हों, अविवेकी हों, शब्द, न्याय, गणित, धार्मिक आदि ग्रन्थनि का विशेष अभ्यास मेरे नाही है तातै शक्तिहीन हों तथापि धर्मानुराग के वशतैं टीका करने का विचार किया है सो या विषैं जहां चूक होई अन्यथा अर्थ होई तहाँ-तहाँ मो ऊपरि क्षमाकरि तिस अन्यथा अर्थ कों दूरिकरि यथार्थ अर्थ लिखना, ऐसी विनती करि जो चूक होइगी ताकै शुद्ध होने का उपाय कीया है[1]।"

इसी प्रकार रहस्यपूर्ण चिट्ठी में गूढ़ और गंभीर शंकाओं का समुचित समाधान करने के उपरान्त लिखते है :– "अर मेरी तो इतनी बुद्धि नाहीं।" तथा गोम्मटसार टीका की प्रस्तावना में वे लिखते हैं :– "ऐसे यहु टीका बनेगी ता विषै जहां चूक जानों तहां बुधजन संवारि शुद्ध करियौ छद्मस्थ के ज्ञान मावर्ण हो है, ताते चूक भी परै। जैसे जाकों थोरा सूझै अर वह कहीं विषम मार्ग विषै स्खलित होई तो बहुत सूझने वाला वाकी हास्य न करै।"

पंडितजी द्वारा रचित मौलिक ग्रन्थो और टीकाओ मे उनकी प्रतिभा के दर्शन सर्वत्र होते हैं। उनकी प्रतिभा के सम्बन्ध में उनके सम्पर्क मे आने वाले समकालीन विद्वानों ने स्पष्ट उल्लेख किए हैं। ब्र० रायमल लिखते है – "अर टोडरमलजी के ज्ञान की महिमा अद्‌भुत देखी[2]। ऐसे महन्तबुद्धि का धारक ईकाल विषै होना दुर्लभ है[3]।" पंडित देवीदास गोधा ने उन्हे महाबुद्धिमान लिखा है[4]। पंडितप्रवर जयचदजी ने भी उनकी प्रतिभा को सराहा है[5]।

तत्कालीन जैन समाज मे जैन सिद्धान्त के कथन में उनका प्रमाणिकता प्रसिद्ध थी। विवादस्थ विषयो में उनके द्वारा प्रतिपादित

---

[1] स० च० पी०

[2] जीवन पत्रिका, परिशिष्ट १

[3] इ० वि० पत्रिका, परिशिष्ट १

[4] सिद्धान्तसार संग्रह भाषा बचनिका

[5] सर्वार्थसिद्धि भाषा वचनिका, प्रशस्ति

वस्तुस्वरूप प्रमाणिक माना जाता था। श्री दि० जैन बड़ा मंदिर तेरापंथियान, जयपुर में वि० संवत् १८१५ की लिखित भूधरकृत 'चरचा समाधान' ग्रन्थ की एक प्रति प्राप्त हुई है, जिसमें उनकी प्रमाणिकता के सम्बन्ध में निम्नानुसार उल्लेख है :—

"यह चरचा समाधान ग्रंथ भूधरमल्लजी आगरा मध्ये वनाया। सु एक सो अड़तीस १३८ प्रश्न का उत्तर है या ग्रन्थ विषै। सु सवाई जयपुर विषै टोडरमल्लजी नै बाच्या। सु प्रश्न बीस-तीस का उत्तर तो आमनाय मिलता है। अबसेष प्रश्न का उत्तर आमनाय मिलता नाही। सु बुधजन कु यह ग्रन्थ बांचि अर भरम नही खानां औरां मूल ग्रंथां सौं मिलाय लेणा। सु भूधरमल्लजी बीच टोडरमल्लजी विशेष ग्याता है। जिनौने गोमट्टसारजी वा त्रिलोकसारजी वा लब्धिसारजी वा क्षिपणासारजी संपूर्ण खोल्या अर ताकी भाषा साठि हजार ६०,००० बचनका बनाई अर और भी ग्रन्थ घना देख्या। सु इहां ईका वचन प्रमान है यामे सन्देह नाहीं।......"

अपनी विद्वत्ता और प्रामाणिकता के आधार पर वे तेरापंथियों के गुरु कहलाते थे। उनके समकालीन प्रमुख प्रतिद्वंद्वी विद्वान् पंडित बखतराम शाह तक ने उनको धर्मात्मा और तेरापंथियों का गुरु लिखा है[1]।

इस प्रकार पंडित टोडरमल का जीवन चिंतन और साहित्य-साधना के लिये समर्पित जीवन है। केवल अपने कठिन परिश्रम एवं प्रतिभा के बल पर ही उन्होंने अगाध विद्वत्ता प्राप्त की व उसे बांटा भी दिल खोलकर। अत: तत्कालीन धार्मिक समाज में उनकी विद्वत्ता व कर्तृत्व की धाक थी।

जगत के सभी भौतिक द्वन्द्वों से दूर रहने वाले एवं निरन्तर आत्मसाधना व साहित्यसाधना रत इस महामानव को जीवन की मध्यवय में ही साम्प्रदायिक विद्वेष का शिकार होकर जीवन से हाथ धोना पड़ा।

---

[1] गुर तेरह पंथिन को भ्रमी, टोडरमल्ल नाम साहिमी — बु० वि०, १५३

श्री दि० जैन बड़ा मंदिर तेरा पंथियान, जयपुर में प्राप्त, विक्रम संवत् १८१५ में लिखित, 'चर्चा समाधान' नामक हस्तलिखित ग्रंथ का अंतिम पृष्ठ

तृतीय अध्याय

रचनाएँ और उनका वर्गीकरण

रचनाओं का परिचयात्मक अनुशीलन

पद्य साहित्य

रचनाएँ और उनका वर्गीकरण

पंडित टोडरमल आध्यात्मिक साधक थे। उन्होंने जैन दर्शन और सिद्धान्तों का गहन अध्ययन ही नहीं किया, अपितु उसे तत्कालीन जनभाषा में लिखा भी है। इसमें उनका मुख्य उद्देश्य अपने दार्शनिक चिन्तन को जनसाधारण तक पहुँचाना था। पंडितजी ने प्राचीन जैन ग्रंथों की विस्तृत, गहन परन्तु सुबोध भाषा टीकाएँ लिखीं। इन भाषा टीकाओं में कई विषयों पर बहुत ही मौलिक विचार मिलते हैं, जो उनके स्वतंत्र चिन्तन के परिणाम थे। बाद में इन्हीं विचारों के आधार पर उन्होंने कतिपय मौलिक ग्रंथों की रचना भी की।

अभी तक पंडित टोडरमल की कुल ११ रचनाएँ ही प्राप्त थीं। उनके नाम कालक्रम से निम्नलिखित है :–

(१) रहस्यपूर्ण चिट्ठी (वि० सं० १८११)
(२) गोम्मटसार जीवकाण्ड भाषाटीका
(३) गोम्मटसार कर्मकाण्ड भाषाटीका
(४) अर्थसंदृष्टि अधिकार
(५) लब्धिसार भाषाटीका
(६) क्षपणासार भाषाटीका
[(२) से (६) : सम्यग्ज्ञानचंद्रिका (वि०सं० १८१८)]
(७) गोम्मटसार पूजा (वि० सं० १८१५–१८१८)
(८) त्रिलोकसार भाषाटीका (वि०सं० १८१५–१८२३)
(९) मोक्षमार्ग प्रकाशक [अपूर्ण] (वि०सं० १८१८-१८२३-२४)
(१०) आत्मानुशासन भाषाटीका (वि०सं० १८१८-१८२३)
(११) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषाटीका [अपूर्ण] (वि०सं० १८२१-१८२७)

ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, बम्बई में प्राप्त त्रिलोकसार में एक २० पृष्ठीय 'समोसरण रचना वर्णन' नामक रचना और प्राप्त हुई है, जो कालक्रम में त्रिलोकसार भाषाटीका के बाद आती है।

इनमें से सात तो टीका ग्रंथ हैं और पांच मौलिक रचनाएँ हैं।

उनकी रचनाओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है :–

(१) मौलिक रचनाएँ (२) व्याख्यात्मक टीकाएँ

मौलिक रचनाएँ गद्य और पद्य दोनों रूपों में हैं। गद्य रचनाएँ चार शैलियों में मिलती हैं :–

(क) वर्णनात्मक शैली (ख) पत्रात्मक शैली

(ग) यंत्र-रचनात्मक (चार्ट) शैली (घ) विवेचनात्मक शैली

वर्णनात्मक शैली में समोसरण आदि का सरल भाषा में सीधा वर्णन है। पंडितजी के पास जिज्ञासु लोग दूर-दूर से अपनी शंकाएँ भेजते थे, उनके समाधान में वह जो कुछ लिखते थे, वह लेखन पत्रात्मक शैली के अंतर्गत आता है। इसमें तर्क और अनुभूति का सुन्दर समन्वय है। इन पत्रों में एक पत्र बहुत महत्त्वपूर्ण है। १६ पृष्ठों का यह पत्र 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' के नाम से प्रसिद्ध है। यंत्र-रचनात्मक शैली में चार्टों द्वारा विषय को स्पष्ट किया गया है। 'अर्थसंदृष्टि अधिकार' इसी प्रकार की रचना है। विवेचनात्मक शैली में सैद्धान्तिक विषयों को प्रश्नोत्तर पद्धति में विस्तृत विवेचन करके युक्ति व उदाहरणों से स्पष्ट किया गया है। 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' इस श्रेणी में आता है।

पद्यात्मक रचनाएँ दो रूपों में उपलब्ध है :–

(क) भक्तिपरक (ख) प्रशस्तिपरक

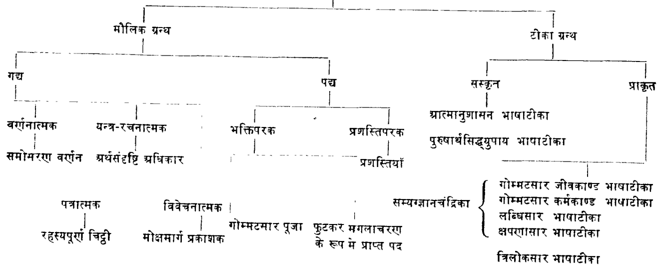
भक्तिपरक रचनाओं में गोम्मटसार पूजा एवं ग्रंथों के आदि, मध्य और अन्त में प्राप्त फुटकर पद्यात्मक रचनाएँ हैं। ग्रंथों के अन्त में लिखी गई परिचयात्मक प्रशस्तियाँ प्रशस्तिपरक श्रेणी में आती हैं।

पं० टोडरमल की व्याख्यात्मक टीकाएँ दो रूपों में पाई जाती हैं :–

(क) संस्कृत ग्रंथों की टीकाएँ (ख) प्राकृत ग्रंथों की टीकाएँ

संस्कृत ग्रंथों की टीकाएँ आत्मानुशासन भाषाटीका और पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय भाषाटीका है। प्राकृत ग्रंथों में गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार-क्षपणासार और त्रिलोकसार है, जिनकी भाषाटीकाएँ उन्होंने लिखी है।

उपर्युक्त वर्गीकरण इस चार्ट द्वारा समझा जा सकता है :—


पंडित टोडरमल कृत रचनाएँ
मौलिक ग्रन्थ
टीका ग्रन्थ
गद्य
पद्य
संस्कृत
प्राकृत
वर्णनात्मक
यन्त्र-रचनात्मक
भक्तिपरक
प्रशस्तिपरक
आत्मानुशासन भाषाटीका
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषाटीका
समोसरण वर्णन
अर्थसंदृष्टि अधिकार
प्रशस्तियाँ
पत्रात्मक
विवेचनात्मक
सम्यग्ज्ञानचंद्रिका
गोम्मटसार जीवकाण्ड भाषाटीका
गोम्मटसार कर्मकाण्ड भाषाटीका
लब्धिसार भाषाटीका
क्षपणासार भाषाटीका
रहस्यपूर्ण चिट्ठी
मोक्षमार्ग प्रकाशक
गोम्मटसार पूजा
फुटकर मंगलाचरण के रूप में प्राप्त पद
त्रिलोकसार भाषाटीका

रचनाओं का परिचयात्मक अनुशीलन

रहस्यपूर्ण चिट्ठी

यह पत्रशैली में लिखी गई सोलह पृष्ठों की छोटी सी रचना है। इसमें सैद्धान्तिक प्रश्नों का तर्कसम्मत समाधान प्रस्तुत किया गया है। इस चिट्ठी का महत्त्व इस बात में है कि यह दो सौ बीस वर्ष पूर्व लिखित एक ऐसी चिट्ठी है, जिसमें आध्यात्मिक अनुभूति का वर्णन है। यह मोक्षमार्ग प्रकाशक के साथ तो कई बार प्रकाशित हो चुकी है[1], स्वतंत्र रूप से भी इसका प्रकाशन हुआ है[2]। टोडरमल जयंती स्मारिका में भी यह अविकल रूप से छपी है[3]। इस पर सौराष्ट्र के आध्यात्मिक संत कानजी स्वामी ने कई बार आध्यात्मिक प्रवचन दिए जो कि 'अध्यात्म संदेश' नाम से हिन्दी[4] और गुजराती[5] में प्रकाशित हो चुके है।

---

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक के निम्नलिखित सस्करणों में प्रकाशित :-

(क) सस्ती ग्रंथमाला, नया मंदिर, धरमपुरा, दिल्ली के पांच संस्करणों मे – ६५००

(ख) आचार्यकल्प पंडित टोडरमल ग्रथमाला, ए-४, बापूनगर, जयपुर-४ के प्रथम संस्करण मे – ३३००

(ग) श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ के प्रथम व द्वितीय संस्करणों मे – १८०००

[2] (क) दिगम्बर जैन पुस्तकालय, कापड़िया भवन, सूरत

(ख) कर्त्तव्य प्रबोध कार्यालय, खुरई

[3] टो० ज० स्मा०, २६१

[4] आचार्यकल्प पडित टोडरमल ग्रंथमाला, ए-४ बापूनगर, जयपुर-४

[5] श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़

इसका नाम अधिकांश विद्वानों ने 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' ही माना है किन्तु कहीं-कही इसका नाम 'आध्यात्मिक पत्रिका' और 'आध्यात्मिक पत्र' भी मिलता है। दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत से प्रकाशित संस्करणों में आवरण पृष्ठ पर 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' नाम है पर भीतर मुखपृष्ठ पर 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी अर्थात् आध्यात्मिक पत्रिका' नाम भी मिलता है। पंडित परमानन्द ने अपने प्रकाशनों[1] में 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' ही नाम दिया है। डॉ० लालबहादुर शास्त्री ने इसका उल्लेख 'आध्यात्मिक पत्र' नाम से किया है परंतु उन्होने इसकी प्रसिद्धि 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' नाम से स्वीकार की है[2]।

पडित टोडरमल ने स्वयं इस रचना का कोई नामकरण नही किया है क्योकि उनकी दृष्टि में यह तो एक सामान्य पत्र है, कोई कृति नही। परन्तु विषय की गंभीरता और शैली की प्रौढ़ता की दृष्टि से इसका महत्त्व किसी कृति से कम नही है। लेखक की ओर से नाम के सम्बन्ध में कोई निर्देश न होने से लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न नामों से इसे पुकारने लगे। अत्यधिक प्रसिद्धि के कारण हमने इसे 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' नाम से ही अभिहित किया है।

इस रचना का प्रेरणा-स्रोत मुलतान निवासी भाई खानचंद, गंगाधर, श्रीपाल और सिद्धारथदास का वह पत्र है, जिसमें उन्होंने कुछ सैद्धान्तिक और अनुभवजन्य प्रश्नों के उत्तर जानना चाहे थे और जिसके उत्तर में यह रहस्यपूर्ण चिट्ठी लिखी गई। चिट्ठी के आरम्भ में इसकी चर्चा की गई है। मुलतान नगर के पाकिस्तान में चले जाने से वहां के जैन बन्धु देश के बंटवारे के समय सन् १९४७ ई० में जयपुर आ गए थे। वे अपने साथ कई जिन-प्रतिमाएँ एवं शास्त्र-भंडार भी लाए थे। उन्होंने आदर्शनगर, जयपुर में एक दि० जैन मंदिर बनाया है, उसमें रहस्यपूर्ण चिट्ठी की एक बहुत प्राचीन प्रति प्राप्त है, जिसे वे मूल प्रति कहते हैं। उक्त प्रति की प्राचीनता असंदिग्ध होने पर भी उसके मूल प्रति होने के ठोस व स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होते।

---

[1] मो० मा० प्र० के अन्त मे प्रकाशित

[2] मो० मा० प्र० मथुरा, प्रस्तावना, ४३

तत्त्वजिज्ञासु अध्यात्मप्रेमी मुमुक्षु भाइयों की शंकाओं का समाधान करना ही इस रचना का मूल उद्देश्य रहा है। यह रहस्यपूर्ण चिट्ठी फाल्गुन कृष्णा ५ वि० सं० १८११ को लिखी गई थी, जैसा कि उसके अन्त मे स्पष्ट उल्लेख है।

यह सम्पूर्ण रचना पत्रशैली में लिखी गई है। अतः चिट्ठी का आरम्भ तत्कालीन समाज में लिखे जाने वाले पत्रो की पद्धति से होता है। इसमे सामान्य शिष्टाचार के उपरान्त आत्मानुभव करने की प्रेरणा देते हुए आगम और अध्यात्म चर्चा से गर्भित पत्र देते रहने का आग्रह किया गया है। तदुपरान्त पूछे गये प्रश्नो का उत्तर आगम, युक्ति और उदाहरणों द्वारा दिया गया है।

सर्वप्रथम अनुभव का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। उसके उपरान्त आत्मानुभव के सम्बन्ध मे उठने वाले प्रत्यक्ष-परोक्ष, सविकल्पक-निर्विकल्पक सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर दिये गए हैं। अन्त मे लिखा है कि विशेष कहाँ तक लिखें, जो बात जानते है, सो लिखने मे आती नही, मिलने पर कुछ कहा जा सकता है, पर मिलना सहज सम्भव नही है। अतः समयसारादि अध्यात्मशास्त्र व गोम्मटसारादि सिद्धान्तशास्त्रों का अध्ययन करना और स्वरूपानन्द में मग्न रहने का यत्न करना। इस प्रकार अलौकिक औपचारिकता के साथ चिट्ठी समाप्त हो जाती है। इसमें पंडित टोडरमल की आध्यात्मिक रुचि के दर्शन सर्वत्र होते है।

शैली के क्षेत्र में दो सौ बीस वर्ष पूर्व का यह अभिनव प्रयोग है। शैली सहज, सरल और बोधगम्य है। विषय की प्रामाणिकता के लिए आवश्यक आगम प्रमाण[1], विषयों को पुष्ट करने के लिए समुचित तर्क तथा गम्भीर विषय पाठकों के गले उतारने के लिए लोकप्रचलित उदाहरण यथाप्रसंग प्रस्तुत किये गए हैं। शुभाशुभ परिणाम के काल में सम्यकत्व की उत्पत्ति सिद्ध करते हुए वे लिखते है :–

---

[1] पद्मनंदि पंचविंशतिका, वृहन्नयचक्र, समयसार नाटक, तत्त्वार्थसूत्र, तर्कशास्त्र, अष्टसहस्री, गोम्मटसार, समयसार, आत्मख्याति आदि आगम ग्रंथों के उद्धरण रहस्यपूर्ण चिट्ठी मे दिये गए है।

"जैसे कोई गुमास्ता साहू के कार्यविषै प्रवर्तें है, उस कार्य को अपना भी कहै है, हर्ष-विषाद को भी पावै है, तिस कार्य विषै प्रवर्त्तते अपनी और साहू की जुदाई कौ नाहीं विचारै है, परन्तु अन्तरंग श्रद्धान ऐसा है कि यह मेरा कारज नाहीं। ऐसा कार्य करता गुमास्ता साहूकार है, परन्तु वह साहू के धन कू चुराय अपना मानै तो गुमास्ता चोर ही कहिए। तैसें कर्मोदयजनित शुभाशुभ रूप कार्य को करता हुआ तद्रूप परिणमै, तथापि अंतरंग ऐसा श्रद्धान है कि यह कार्य मेरा नाहीं। जो शरीराश्रित व्रत संयम को भी अपना मानै तो मिथ्यादृष्टि होय[1]।"

सम्यग्ज्ञानचंद्रिका

'सम्यग्ज्ञानचंद्रिका' पंडित टोडरमल के गम्भीर अध्ययन का परिणाम है। यह ३४०९ पृष्ठों का एक महान् ग्रंथ है जिसमें करणानुयोग के गम्भीर ग्रंथों को सरल, सुबोध एवं देशभाषा में समझाने का सफल प्रयत्न किया गया है। इसमें गणित के माध्यम से विषय स्पष्ट किया गया है। विषय को स्पष्ट करने के लिए यथास्थान सैकड़ों चार्ट्स जोड़े गए हैं तथा एक 'अर्थसंदृष्टि अधिकार' नाम से अलग अधिकार लिखा गया है। इसमें उनका अगाध पाण्डित्य और अद्भुत कार्यक्षमता प्रगट हुई है। यह टीकाग्रंथ अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। उस समय सारे भारतवर्ष में चलने वाली प्रसिद्ध 'सैलियों' में इसका स्वाध्याय होता था। आज भी विद्वद् समाज में इसका पूर्ण समादर है। इसकी महिमा के सम्बन्ध में ब्र० रायमल ने लिखा है :-

"ताका नांम सम्यक्ज्ञानचंद्रका है। ताकी महिमां वचन अगोचर है, जो कोई जिनधर्म की महिमा अर केवलग्यान की महिमा जाणी चाहौ तौ या सिद्धांत का अनुभवन करौ। घणी कहिवा करि कहा[2]।"

यह महाग्रंथ जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित हो चुका है। इसके आधार पर बनाई गई संक्षिप्त टीकाएँ भी

[1] मो० मा० प्र०, ५०५

[2] देखिए प्रस्तुत ग्रंथ, पृ० ५२

प्रकाशित हो चुकी है। इसकी पीठिका का पूर्वार्द्ध अलग पंडित भागचंद छाजेड़ के 'सत्तास्वरूप' के साथ भी प्रकाशित हो चुका है[1]।

गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार और क्षपणासार की भाषाटीकाएँ पंडित टोडरमल ने अलग-अलग बनाई थी, किन्तु उक्त चारों टीकाओं को परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित एवं परस्पर एक का अध्ययन दूसरे के अध्ययन में सहायक जान कर, उक्त चारों टीकाओं को मिलाकर उन्होंने एक कर दिया तथा उसका नाम 'सम्यग्ज्ञानचंद्रिका' रख दिया। इसका उल्लेख उन्होंने प्रशस्ति में स्पष्ट रूप से किया है[2] तथा पीठिका में उक्त चारों ग्रंथों की टीका मिला कर एक कर देने के सम्बन्ध में उन्होंने सयुक्ति समर्थ कारण प्रस्तुत किए हैं[3]।

इन चारों ग्रंथों की भाषाटीकाओं का एक नाम 'सम्यग्ज्ञानचंद्रिका' रख दिए जाने के अनन्तर भी इनके नाम पृथक्-पृथक् – गोम्मटसार जीवकाण्ड भाषाटीका, गोम्मटसार कर्मकाण्ड भाषाटीका एवं लब्धिसार-क्षपणासार भाषाटीका भी चलते रहे। कारण कि इतने विशाल ग्रंथ न तो एक साथ छापे ही गए एवं न ही हस्तलिखित प्रतियों में एक साथ लिखे गए और न शास्त्र-भंडारों में रखे गए, तथा मूल ग्रंथों के नाम अपने आप मे अधिक लोकप्रिय होने से उन्हें लोग उन्हीं नामों के आगे 'भाषाटीका' शब्द लगा कर ही प्रयोग में लाते रहे। अतः 'सम्यग्ज्ञानचंद्रिका' वास्तविक नाम होने पर भी प्रयोग में कम आया।

---

[1] प्रकाशक : श्री दि० जैन मुमुक्षु मण्डल, सनावद (म० प्र०)

[2] या विधि गोम्मटसार लब्धिसार ग्रन्थनि की,
भिन्न-भिन्न भाषाटीका कीनी अर्थ गायकै।
इनिकै परस्पर सहायकपनौ देख्यौ,
तातै एक करि दई हम तिनकौ मिलाइकै॥
सम्यग्ज्ञान चद्रिका धर्यो है याकौ नाम,
सोई होत है सफल ज्ञानानन्द उपजायकै।
कलिकाल रजनी मे अर्थ को प्रकाश करै,
यातै निजकाज कीजै इष्ट भाव भायकै॥३०॥

[3] स० चं० पी०, ५०

पंडित टोडरमल ने पूर्ण सम्यग्ज्ञानचंद्रिका की पीठिका एक साथ लिखी और वह स्वभावतः प्रथम ग्रंथ गोम्मटसार जीवकाण्ड भाषाटीका के आरम्भ में लिखी व छापी गई, अतः लोग उसे 'गोम्मटसार भाषाटीका पीठिका' ही कहते रहे। इसी प्रकार लब्धिसार भाषाटीका के साथ ही क्षपणासार भाषाटीका लिखी गई, जिसे उन्होंने स्वयं 'क्षपणासार गर्भित लब्धिसार भाषाटीका' कहा, वे छपी भीं इसी रूप में, अतः वे अकेले 'लब्धिसार भाषाटीका' नाम से चल पड़ीं। लब्धिसार-क्षपणासार भाषाटीका, सम्यग्ज्ञानचंद्रिका का अंतिम भाग था, अतः ग्रंथ की अंतिम ६३ छन्दों वाली प्रशस्ति सहज ही उसके अंत में लिखी गई। अतः उक्त प्रशस्ति को 'लब्धिसार भाषाटीका प्रशस्ति' भी कहा व लिखा जाता रहा।

ऐसी स्थिति में हम उक्त पीठिका व सर्वांत की वृहद् प्रशस्ति को सम्यग्ज्ञानचंद्रिका पीठिका व प्रशस्ति कहना सही मानते है तथा हमने उक्त पीठिका व प्रशस्ति का प्रयोग इसी नाम से किया है। किन्तु पंडितजी ने गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार-क्षपणासार की भाषाटीकाओं की छोटी-छोटी प्रशस्तियाँ भी लिखी हैं, जिन्हें हमने गोम्मटसार जीवकाण्ड भाषाटीका प्रशस्ति आदि कहना उपयुक्त समझा है तथा संदर्भों में भी पृष्ठ संख्या देने की सुविधा को ध्यान में रखते हुए गोम्मटसार भाषाटीका आदि नामों का ही यथास्थान प्रयोग किया है। सम्यग्ज्ञानचंद्रिका की आदि से अंत तक लगातार पृष्ठ संख्या न होने से ऐसा करना आवश्यक हो गया।

गोम्मटसार जैन समाज का एक बहुत ही सुप्रसिद्ध सिद्धान्त-ग्रंथ है जो जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड नाम के दो बड़े भागों में विभक्त है। वे भाग एक प्रकार से अलग-अलग ग्रंथ समझे जाते हैं, वे अलग-अलग मुद्रित भी हुए हैं। जीवकाण्ड की अधिकार संख्या २२ और गाथा संख्या ७३३ है और कर्मकाण्ड की अधिकार संख्या ९ एवं गाथा संख्या ९७२ है। इस समूचे ग्रंथ का दूसरा नाम 'पंचसंग्रह' भी है[1],

---

[1] पु० जै० वा० सू० प्रस्तावना, ६८

क्योंकि इसमें निम्नलिखित पांच बातों का वर्णन है :–

१. बंध २. बध्यमान, ३. बंधस्वामी, ४. बंधहेतु,
५. बंधभेद।

सम्यग्ज्ञानचंद्रिका प्रशस्ति मे पंडित टोडरमल ने दोनों नामो का उल्लेख इस प्रकार किया है :–

"बंधकादि संग्रह तै नाम पंचसग्रह है,
ग्रथवा गोम्मटसार नाम को प्रकाश है।"

इसके आगे का भाग लब्धिसार-क्षपणासार है, उसकी गाथा संख्या ६५३ है।

इन ग्रंथों का निर्माण राजा चामुण्डराय की प्रेरणा से उनके पठनार्थ हुआ था। वे गंगवंशी राजा राजमल्ल के प्रधान मंत्री एव सेनापति थे। उन्होंने श्रवणबेलगोला में बाहुबलि की सुप्रसिद्ध विशाल और अनुपम मूर्ति का निर्माण कराया था। चामुण्डराय का दूसरा नाम गोम्मटराय भी था, अतः इस ग्रंथ का नाम गोम्मटसार पड़ा[१]। यह महाग्रंथ जैन परीक्षाबोर्डो के पाठ्यक्रम में निर्धारित है और समस्त जैन महाविद्यालयों में नियमित रूप से पढ़ाया जाता है।

इस गोम्मटसार ग्रथ पर मुख्यतः चार टीकाएँ उपलब्ध हैं। एक है– अभयचन्द्राचार्य की संस्कृत टीका 'मंदप्रबोधिका' जो जीवकाण्ड की गाथा ३८३ तक ही पाई जाती है। दूसरी केशव वर्णी की संस्कृत मिश्रित कन्नड़ी टीका 'जीवतत्त्वप्रदीपिका' है जो सम्पूर्ण गोम्मटसार पर विस्तृत टीका है और जिसमें 'मंदप्रबोधिका' का पूरा अनुसरण किया गया है। तीसरी है–नेमिचन्द्राचार्य की संस्कृत टीका 'जीवतत्त्वप्रदीपिका' जो पिछली दोनों टीकाओं का पूरा-पूरा अनुसरण करती हुई सम्पूर्ण गोम्मटसार पर यथेष्ट विस्तार के साथ लिखी गई है, और चौथी है पंडित टोडरमल की हिन्दी टीका 'सम्यग्ज्ञानचंद्रिका' जिसमें संस्कृत टीका के विषय को खूब स्पष्ट किया है और जिसके

[१] पु० जै० वा० सू० प्रस्तावना, ६६

आधार पर हिन्दी, अंग्रेजी तथा मराठी के अनुवादों[1] का निर्माण हुआ है[2]।

कन्नड़ी और संस्कृत टीकाओं का एक ही नाम (जीवतत्त्व-प्रदीपिका) होने, मूलग्रंथकर्त्ता तथा संस्कृत टीकाकार का भी एक ही नाम (नेमिचंद्र) होने, कर्मकाण्ड की गाथा नं० ९७२ के अस्पष्ट उल्लेख पर से चामुण्डराय को कन्नड़ी टीका का कर्त्ता समझे जाने और संस्कृत टीका के 'श्रित्वाकर्णाटकी वृत्ति' पद्य के द्वितीय चरण में 'वर्णिश्रीकेशवैः कृतां' की जगह कुछ प्रतियों में 'वर्णिश्रीकेशवैः कृति' पाठ उपलब्ध होने आदि कारणो से पिछले अनेक विद्वानों को, जिनमें पंडित टोडरमल भी शामिल हैं, सस्कृत टीका के कर्त्ता के विषय में भ्रम रहा है और उसके फलस्वरूप उन्होने उसका कर्त्ता 'केशव वर्णी' लिख दिया है[3]। इस फैले भ्रम को डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने तीनों टीकाओं और गद्य-पद्यात्मक प्रशस्तियों की तुलना द्वारा 'अनेकान्त' में प्रकाशित एक लेख में स्पष्ट किया है[4]।

पडित टोडरमल ने सम्यग्ज्ञानचंद्रिका, जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका के आधार पर बनाई है। इस बात का स्पष्ट उल्लेख उन्होंने पीठिका में किया है[5]। जीवतत्त्वप्रदीपिका, गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड पर पूरी है, पर लब्धिसार-क्षपणासार पर गाथा नं० ३९१ के आगे नही है। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के शिष्य माधवचंद्र त्रैविद्य के द्वारा रचित एक संस्कृत 'क्षपणासार'

---

[1] हिन्दी अनुवाद जीवकाण्ड पर पडित खूबचद का, कर्मकाण्ड पर पडित मनोहरलाल का; अंग्रेजी अनुवाद जीवकाण्ड पर मिस्टर जे० एल० जैनी का, कर्मकाण्ड पर ब्र० शीतलप्रसाद तथा बाबू अजितप्रसाद का, और मराठी अनुवाद गांधी नेमचद बालचंद का है। लब्धिसार-क्षपणासार पर भी प० मनोहरलाल का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ है।

[2] पु० जै० वा० सू०, प्रस्तावना, ८८–८९

[3] वही, ८९

[4] अनेकान्त वर्ष ४, किरण १, पृ० ११३–१२०

[5] स० चं० पी०, ५

नामक ग्रंथ है। लब्धिसार-क्षपणासार की आगे की टीका पंडित टोडरमल ने उसके आधार पर बनाई है, जिसका उल्लेख उन्होंने लब्धिसार टीका के आरम्भ में तथा सम्यग्ज्ञानचंद्रिका प्रशस्ति में किया है।

सम्यग्ज्ञानचंद्रिका यद्यपि जीवतत्त्वप्रदीपिका का अनुसरण करती है तथापि उससे पूरी तरह बंधी हुई नहीं है। जहाँ कहीं चंद्रिकाकार को इष्ट हुआ और उन्होंने आवश्यक समझा, वहाँ विषय विस्तृत किया है। सहज बोधगम्य विषय को संकुचित भी किया है तथा आवश्यक समझा तो अन्य ग्रंथों के आधार पर विषय का विश्लेषण भी किया है। वे मात्र अनुवादक नहीं है, वरन् व्याख्याकार हैं। पंडितजी ने अपनी स्थिति को पीठिका में स्पष्ट कर दिया है[१]।

पं० टोडरमल को सम्यग्ज्ञानचंद्रिका की रचना की प्रेरणा ब्र० रायमल से प्राप्त हुई। उन्होंने स्वयं लिखा है :–

"रायमल्ल साधर्मी एक, धरम सधैया सहित विवेक।
सो नाना विधि प्रेरक भयो, तब यहु उत्तम कारज थयो[२]।।"

ब्र० रायमल ने उन्हे मात्र प्रेरणा ही नही दी वरन् पूर्ण सहयोग दिया। जब तक उक्त टीका का निर्माण कार्य चलता रहा तब तक वे पंडितजी के साथ ही रहे। पंडित टोडरमल का स्वयं का विचार भी टीका लिखने का था पर ब्र० रायमल की प्रेरणा से यह महान् कार्य द्रुतगति से हुआ और अल्पकाल में ही सम्पन्न हो गया। उक्त संदर्भ मे ब्र० रायमल अपनी जीवन पत्रिका में लिखते हैं :–

"पीछैं उनसूं हम कही तुम्हारै यां ग्रंथां का परचै निर्मल भया है, तुम करि याकी भाषाटीका होय तौ घणां जीवां का कल्याण होइ..........तातै तुम या ग्रंथ की टीका करनें का उपाय शीघ्र करो,

---

[१] "बहुरि जो यहु सम्यग्ज्ञानचंद्रिका नामा भाषाटीका करिए है तिहिं विषैं संस्कृत टीका तै कहीं अर्थ प्रगट करने के अर्थि वा कही प्रसंगरूप वा कहीं अन्य ग्रंथ अनुसारि लेई अधिक भी कथन करियेगा। अर कहीं अर्थ स्पष्ट न प्रतिभासेगा तो न्यून कथन होइगा ऐसा जानना।" – स० चं० पी०, १८

[२] स० चं० प्र०

आयु का भरोसा है नांहीं।............पूर्वें भी याकी टीका करनें का इनका मनोर्थ था ही, पीछैं हमारें कहने करि विशेष मनोर्थ भया, तब शुभ दिन मुहूर्त्त विषै टीका करनें का प्रारम्भ सिंघाणां नग्र विषै भया, सो वै तौ टीका बणावते गए हम बांचते गए[1]।"

सम्यग्ज्ञानचंद्रिका की रचना का उद्देश्य स्वपर-हित ही रहा है। स्वहित का आशय उपयोग की पवित्रता एवं ज्ञानवृद्धि से है। सामान्य जिज्ञासु जनों को तत्त्वज्ञान की प्राप्ति सहज एवं सरलता से हो सके, यह परहित का भाव है। सम्मान, यश, धनादि की प्राप्ति का कोई प्रयोजन इसकी रचना के पीछे नहीं था। मूल ग्रंथ तो प्राकृत भाषा मे है और उनकी प्राचीन टीकाएँ संस्कृत और कन्नड़ में हैं। जिन लोगों को संस्कृत, प्राकृत और कन्नड़ का ज्ञान नहीं है, उनके हित को लक्ष्य में रख कर इस टीका की रचना हुई है। इस बात को सम्यग्ज्ञानचंद्रिका की पीठिका[2] एवं प्रशस्ति[3] में पंडित टोडरमल ने स्पष्ट किया है।

सम्यग्ज्ञानचंद्रिका माघ शुक्ला पंचमी, वि० सं० १८१८ में बनकर तैयार हुई थी, जैसा कि प्रशस्ति में लिखा है :-

"संवत्सर अष्टादश युक्त, अष्टादश शत लौकिक युक्त।
माघ शुक्ल पंचमि दिन होत, भयो ग्रंथ पूरन उद्योत॥"

किन्तु अन्य उल्लेख ऐसे भी प्राप्त हुए हैं कि यह टीका वि० सं० १८१५ में बन चुकी थी। दि० जैन बड़ा मंदिर तेरापंथियान, जयपुर में प्राप्त भूधरदास के 'चर्चा समाधान' नामक हस्तलिखित ग्रन्थ पर आसोज कृष्णा ५ वि० सं० १८१५ का लिखित एक उल्लेख प्राप्त हुआ है[4], जिसमें लिखा है कि पंडित टोडरमल ने गोम्मटसार आदि ग्रन्थों की साठ हजार श्लोक प्रमाण टीका बनाई है। इससे प्रतीत

---

[1] परिशिष्ट १

[2] स० चं० पी०, ३

[3] स० चं० प्र०, छन्द १९-२०-२१

[4] देखिए प्रस्तुत ग्रंथ, ७६

होता है कि सम्यग्ज्ञानचंद्रिका अपने मूल रूप में तो विक्रम सवत् १८१५ में तैयार हो चुकी थी, शेष तीन वर्ष तो उसके संशोधनादि कार्य में लगे। ब्र० रायमल के कथनानुसार तीन वर्ष उसके निर्माण में भी लगे थे, अतः उसका निर्माण कार्य का आरम्भ वि० सं० १८१२ में हो गया होगा, किन्तु वह पूर्ण रूप से सशोधित होकर माघ शुक्ला पंचमी, वि० सं० १८१८ को ही तैयार हुई है।

सम्यग्ज्ञानचंद्रिका की रचना तो सिघाणा मे हो चुकी थी, पर इसका संशोधनादि कार्य जयपुर मे ही हुआ। ब्र० रायमल ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख किया है "तब शुभ दिन मुहूर्त्त विषै टीका करनें का प्रारम्भ सिघाणां[1] नग्र विषै भया, सो वै तो टीका बणावते गए हम बांचते गए।...............पीछैं सवाई जैपुर आए। तहां गोमटसारादि च्यारौ ग्रन्था कू सोधि याकी बहोत प्रति उतराई। जहां सैली छी तहा सुधाइ सुधाइ पधराई। असैं यां ग्रंथां का अवतार भया[2]।"

सम्यग्ज्ञानचंद्रिका का परिमाण ब्र० रायमल ने इक्यावन हजार श्लोक[3] प्रमाण लिखा है[4], जिसमें गोम्मटसार जीवकाण्ड और गोम्मटसार कर्मकाण्ड की भाषाटीका अड़तीस हजार श्लोक प्रमाण एवं लब्धिसार-क्षपणासार की भाषाटीका तेरह हजार श्लोक प्रमाण है। इस परिमाण में 'अर्थसंदृष्टि अधिकार' की सदृष्टियाँ नही आती है, वे अलग है। टीकाओं के बीच-बीच मे आई अंक-सदृष्टियाँ भी इसमें नहीं आती हैं, वे भी पृथक् है। इकहत्तर पृष्ठ की पीठिका भी अलग है। संदृष्टियाँ पीठिका आदि सब मिला कर शास्त्राकार तीनहजार चारसौ नौ पृष्ठों में यह टीका प्रकाशित हुई है।

---

[1] सिघाणा नगर जयपुर से पश्चिम मे करीब १५० कि० मी० दूर वर्तमान खेतड़ी प्रोजेक्ट के पास है।

[2] जीवन पत्रिका, परिशिष्ट १

[3] एक श्लोक बत्तीस अक्षरो का माना जाता है।

[4] जीवन पत्रिका, परिशिष्ट १

सम्यग्ज्ञानचंद्रिका के आरम्भ में पीठिका है, जिसमें वर्ण्य-विषय का पूरा परिचय दिया गया है। पीठिका के आरम्भ में ग्रंथ-रचना का प्रयोजन और उपयोगिता, टीकाकार की अपनी स्थिति और मर्यादा, टीका की प्रामाणिकता आदि पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। सम्पूर्ण भाषाटीका में प्रयुक्त गणित की सामान्य जानकारी भी पीठिका में प्रस्तुत की गई है।

सम्यग्ज्ञानचंद्रिका की प्रशस्ति में, जो कि लब्धिसार भाषाटीका के अन्त में दी गई है, वर्ण्य-विषय का परिचय संक्षेप में इस प्रकार दिया गया है :-

> करि पीठबंध जीवकाण्ड भाषा कीनी,
> तामें गुणस्थान आदि दोयबीस अधिकार है।
> प्रकृतिसमुत्कीर्तन आदि नवग्रंथनि कौ,
> समुदाय कर्मकाण्ड ताकी भाषा सार है।
> ऐसे अनुक्रम सेती पीछै लीख्यो इनही की,
> संदृष्टिनि कौ स्वरूप जहां अर्थ भार है।
> पूरन गोम्मटसार भाषा टीका भई,
> याकौं अवगाहै भव्य पावै भव पार है ।।२८।।
>
> समकित उपशम क्षायिक को है बखान,
> पीछे देश-सकल चरित्र कौ बखान है।
> उपशम क्षपक ए श्रेणी दोए तिनहूं कौ,
> कीयौ है बखान ताकौ जाने गुणवान है।
> सयोग अयोगी जिन सिद्धन कौ वर्णन करि,
> लब्धिसार ग्रंथ भयो पूरन प्रमान है।
> इसकी संदृष्टि को लिखि कै स्वरूप,
> ताकी संपूरन भाषा टीका भायो ज्ञान है ।।२९।।

सम्यग्ज्ञानचंद्रिका को हम निम्नलिखित चार महाअधिकारों में विभक्त पाते हैं :-

(१) गोम्मटसार जीवकाण्ड भाषाटीका महाअधिकार
(२) गोम्मटसार कर्मकाण्ड भाषाटीका महाअधिकार
(३) अर्थसंदृष्टि महाअधिकार
(४) लब्धिसार-क्षपणासार भाषाटीका महाअधिकार

सर्वप्रथम गोम्मटसार ग्रंथ की टीका की गई है। गोम्मटसार ग्रंथ में दो महाअधिकार हैं - (१) जीवकाण्ड और (२) कर्मकाण्ड। जीवकाण्ड के अन्तर्गत निम्नलिखित बाईस अधिकार हैं, जिनमें प्रत्येक में अपने-अपने नामानुसार विषयों का विस्तृत वर्णन है :-

(१) गुणस्थान अधिकार
(२) जीवसमास अधिकार
(३) पर्याप्ति अधिकार
(४) प्राण अधिकार
(५) संज्ञा अधिकार
(६) गतिमार्गणा अधिकार
(७) इन्द्रियमार्गणा अधिकार
(८) कायमार्गणा अधिकार
(९) योगमार्गणा अधिकार
(१०) वेदमार्गणा अधिकार
(११) कषायमार्गणा अधिकार
(१२) ज्ञानमार्गणा अधिकार
(१३) संयममार्गणा अधिकार
(१४) दर्शनमार्गणा अधिकार
(१५) लेश्यामार्गणा अधिकार
(१६) भव्यमार्गणा अधिकार
(१७) सम्यक्त्वमार्गणा अधिकार

(१८) संज्ञामार्गणा अधिकार
(१९) आहारमार्गणा अधिकार
(२०) उपयोग अधिकार
(२१) ओघादेशयोगप्ररूपणा-प्ररूपणा अधिकार
(२२) आलाप अधिकार

कर्मकाण्ड महाअधिकार के अन्तर्गत निम्नलिखित नौ अधिकार हैं, इनमें भी अपने-अपने नामानुसार विषयों का बहुत विस्तार से वर्णन है :-

(१) प्रकृतिसमुत्कीर्तन अधिकार
(२) बन्धोदयसत्व अधिकार
(३) विशेषसत्तारूपसत्वस्थान अधिकार
(४) त्रिचूलिका अधिकार
(५) स्थानसमुत्कीर्तन अधिकार
(६) प्रत्यय अधिकार
(७) भावचूलिका अधिकार
(८) त्रिकरणचूलिका अधिकार
(९) कर्मस्थितिरचना अधिकार

इस कर्मकाण्ड महाअधिकार में आठ प्रकार के कर्म, उनकी एक सौ अड़तालीस प्रकृतियाँ, कर्मबन्ध की प्रक्रिया, बन्ध के भेद, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेश का विस्तार से वर्णन किया गया है। कर्मों के बन्ध, उदय, सत्व; अबन्ध, अनुदय, असत्व; बन्ध व्युच्छत्ति, उदय व्युच्छत्ति एवं सत्व व्युच्छत्ति आदि का अनेक प्रकार से विस्तृत वर्णन है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड कर्मकाण्ड के अन्त में इन्हीं के परिशिष्ट रूप में अर्थसंदृष्टि महाअधिकार है जिसमें रेखाचित्रों (चार्टों) के के द्वारा गोम्मटसार जीवकाण्ड और गोम्मटसार कर्मकाण्ड में आए गूढ़ विषयों को स्पष्ट किया गया है।

लब्धिसार-क्षपणासार महाअधिकार के भी दो विभाग हैं :-

(१) लब्धिसार भाषाटीका अधिकार

(२) क्षपणासार भाषाटीका अधिकार

लब्धिसार भाषाटीका अधिकार में सम्यक्त्व का और क्षपणासार भाषाटीका अधिकार में चारित्र सम्बन्धी विशेष वर्णन है ।

लब्धिसार भाषाटीका अधिकार में दर्शन-मोह के उपशम व क्षपण तथा सम्यग्दर्शन की प्राप्तिकाल में होने वाली पाँच लब्धियों (क्षयोपशमलब्धि, देशनालब्धि, विशुद्धिलब्धि, प्रायोग्यलब्धि, करण-लब्धि) का विस्तार से वर्णन है । विशेषकर करणलब्धि के भेद अधःकरण, अपूर्वकरण, अनवृत्तिकरण का वर्णन करते हुए अनेक चार्टों द्वारा परिणामों (भावों) के तारतम्य का विस्तृत वर्णन है । सम्यग्दर्शन के भेद – उपशम सम्यग्दर्शन, क्षयोपशम सम्यग्दर्शन; और क्षायिक सम्यग्दर्शन तथा इनके भी अंतर्गत प्रभेदों का विस्तार से वर्णन किया गया है ।

इसी प्रकार क्षपणासार भाषाटीका अधिकार में चारित्र-मोह के उपशम व क्षपण का विस्तृत विवेचन है; तथा देशचारित्र व सकलचारित्र, उपशमश्रेणी व क्षपकश्रेणी, सयोग केवली व अयोग केवली आदि का भी वर्णन है । श्रेणीकाल में होने वाले अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणामों के तारतम्य को बहुत बारीकी से गणित द्वारा समझाया गया है । अन्त में लब्धिसार और क्षपणासार के विषय को सदृष्टियों द्वारा स्पष्ट किया गया है ।

वैसे तो प्रत्येक महाअधिकार के अन्त में उपसंहारात्मक छोटी-छोटी प्रशस्तियाँ दी गई हैं किन्तु सर्वान्त में त्रेसठ छन्दों की विस्तृत प्रशस्ति दी गई है, जिसमें ग्रंथ सम्बन्धी चर्चा ही अधिक की गई है, लेखक के सम्बन्ध में बहुत कम लिखा गया है । जो कुछ लिखा गया है वह आध्यात्मिक दृष्टिकोण से लिखा गया है । उसमें उनके आध्यात्मिक जीवन की झलक तो मिल जाती है किन्तु भौतिक जीवन की जानकारी न के बराबर प्राप्त होती है ।

सम्यग्ज्ञानचद्रिका विवेचनात्मक गद्यशैली में लिखी गई है। प्रारंभ में इकहत्तर पृष्ठ की पीठिका है। आज नवीन शैली मे संपादित ग्रथों मे प्रस्तावना का बड़ा महत्त्व माना जाता है। शैली के क्षेत्र मे दो सौ बीस वर्ष पूर्व लिखी गई सम्यग्ज्ञानचंद्रिका की पीठिका आधुनिक भूमिका का आरंभिक रूप है। सम्यग्ज्ञानचद्रिका की पीठिका, भूमिका का आद्य रूप होने पर भी उसमें प्रौढ़ता पाई जाती है। हल्कापन कही भी देखने को नही मिलता। इसके पढने से ग्रंथ का पूरा हार्द खुल जाता है एवं इस गूढ ग्रंथ के पढ़ने मे आने वाली पाठक की समस्त कठिनाइयाँ दूर हो जाती है। हिन्दी आत्मकथा-साहित्य मे जो महत्त्व महाकवि बनारसीदास के 'अर्द्धकथानक' को प्राप्त है, वही महत्त्व हिन्दी भूमिका-साहित्य मे 'सम्यग्ज्ञानचंद्रिका' की पीठिका का है।

विषय को गणित के माध्यम से समझाया गया है। विषय को स्पष्ट करने के लिए संदृष्टियों के चार्टस् तैयार किये गए है। संदृष्टियों का प्रयोग यथास्थान तो किया ही गया है, साथ मे एक संदृष्टि अधिकार अलग से भी लिखा गया है।

गोम्मटसार पूजा

'गोम्मटसार पूजा' पं० टोडरमल की एक मात्र प्राप्त पद्यकृति है। इसमे उन्होंने गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड एव लब्धिसार और क्षपणासार नामक महान सिद्धान्त-ग्रंथों के प्रति अपनी भक्ति-भावना व्यक्त की है। यह ५७ छन्दों की छोटी सी कृति है, जिसमे ४५ छन्द संस्कृत भाषा में एवं १२ छन्द हिन्दी भाषा में है। इसमें पूजा के अष्टक और प्रत्येक पूजा के अर्घ[१] सम्बन्धी छन्द सस्कृत भाषा में लिखे गए हैं तथा जयमाल हिन्दी भाषा में है।

यह कृति प्रकाशित हो चुकी है[२]। पंडित कमलकुमार शास्त्री व फूलचंद 'पुष्पेन्दु' खुरई ने इसके संस्कृत छन्दों का हिन्दी भाषा मे

[१] जलादि अष्ट द्रव्य के समुदाय को अर्घ कहा जाता है।

[२] भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, श्याम बाजार, कलकत्ता

पद्यानुवाद भी किया है। वह भी मूल के साथ प्रकाशित हो चुका है[1]। इसकी प्राचीन हस्तलिखित प्रतिलिपियाँ भी प्राप्त हैं।

यद्यपि इसमें गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड के अतिरिक्त लब्धिसार और क्षपणासार की भी स्तुति है, उन्हें भी अर्घ दिए गए हैं और गोम्मटसार के मूलस्रोत धवल, जयधवल एवं महाधवल की भी चर्चा है, कुन्दकुन्दाचार्य देव को भी याद किया गया है, तथापि मुख्य रूप से गोम्मटसार पर लक्ष्य रहा है; अतः इसका नाम 'गोम्मटसार पूजा' ही उपयुक्त है। यह नाम लेखक को भी इष्ट है एवं समाज में प्रचलित भी यही है।

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका में पंडित टोडरमल ने जिन महान ग्रंथों की भाषाटीकाएँ लिखी हैं, उन्हीं के प्रति अन्तर में उठी भक्ति-भावना ही इस रचना की प्रेरक रही है तथा उनके प्रति भक्तिभाव प्रकट करना ही इसका उद्देश्य रहा है। ऐसा लगता है कि इसकी रचना सम्यग्ज्ञान-चंद्रिका की रचना के उपरान्त हुई होगी। जब सम्यग्ज्ञानचंद्रिका समाप्त हुई तो पंडित टोडरमल को बहुत प्रसन्नता हुई थी, जिसका उल्लेख उन्होंने स्वयं किया है[2]। उक्त प्रसन्नता के उपलक्ष्य में उन ग्रंथों की पूजा का उत्सव किया गया होगा और उस निमित्त इस पूजा का निर्माण हुआ लगता है। सम्यग्ज्ञानचंद्रिका की समाप्ति माघ शुक्ला ५ वि० सं० १८१८ को हुई है, अतः उसी समय इसका रचनाकाल माना जा सकता है। यदि और पहले की इस रचना को मानें तो वि० सं० १८१५ तक पहुँचा जा सकता है क्योंकि तब तक सम्यग्ज्ञानचंद्रिका तैयार हो चुकी थी। पूजा की जयमाल में इस टीका के लिखे जाने का स्पष्ट उल्लेख है[3], किन्तु साथ ही राजा जयसिंह के नाम का भी उल्लेख है जिससे संशय उत्पन्न होता है कि

---

[1] श्री कुन्थुसागर स्वाध्याय सदन, खुरई

[2] "आरंभो पूरण भयो, शास्त्र सुखद प्रासाद।
अब भये हम कृतकृत्य उर, पायो अति आह्लाद ॥"
– स० चं० प्र०

[3] गोम्मटसार पूजा, १२

यदि जयसिंह के राज्यकाल में इसकी रचना हुई मानें तो फिर विक्रम संवत् १८०० के पूर्व की रचना मानना होगा क्योंकि राजा जयसिंह का राज्यकाल विक्रम संवत् १८०० तक ही रहा है[1] और उसके पूर्व सम्यग्ज्ञानचंद्रिका का निर्माण मानना होगा, जब कि 'सम्यग्ज्ञानचंद्रिका प्रशस्ति' में विक्रम संवत् १८१८ में बनने का स्पष्ट उल्लेख है। बारीकी से अध्ययन करने पर यह संशय उत्पन्न होता है कि क्या पूजा की जयमाल पंडित टोडरमल की ही बनाई हुई है? शंका के कारण निम्नानुसार हैं :–

(क) पूर्ण पूजा संस्कृत में है, फिर जयमाल हिन्दी में क्यों? पूजा के समान जयमाल भी संस्कृत में होनी चाहिए थी।

(ख) "भाषा रचि टोडरमल शुद्ध, सुनि रायमल्ल जैनी विशुद्ध" क्या यह पंक्ति स्वयं पंडित टोडरमल लिख सकते थे, जिसमें स्वयं रचित भाषाटीका को शुद्ध कहा गया हो, जब कि उन्होंने अपनी अन्य कृतियों में सर्वत्र लघुता प्रगट की है?

(ग) राजा जयसिंह के राज्यकाल में न लिखी जाकर भी क्या पंडित टोडरमल द्वारा जयसिंह के नाम का उल्लेख किया जा सकता था?

ऐसा लगता है या तो पंडित टोडरमल ने इसकी जयमाल लिखी ही न हो या फिर खो गई हो और बाद में किसी धर्मप्रेमी बंधु ने पूजा में जयमाल का अभाव देख कर स्वयं बना दी हो, और उसमें उक्त दोषों का ध्यान न रखा जा सका हो। जयमाल की रचना भी उनके स्तर के अनुरूप नहीं लगती।

इसका रचनाकाल सम्यग्ज्ञानचंद्रिका की रचना के उपरान्त ही माना जा सकता है। इसकी रचना जयपुर में ही हुई है क्योंकि सम्यग्ज्ञानचंद्रिका का अंतिम निर्माण जयपुर में ही हुआ था।

---

[1] राजस्थान का इतिहास, ६३७

यह एक पूजा है, अतः इसमें वर्ण्य-विषय की मुख्यता नहीं है। सर्वप्रथम स्थापना का छन्द है, जिसमे गोम्मटसार की भक्तिपूर्वक हृदय में स्थापना की गई है। तदुपरान्त जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल और अर्घ से अर्चा की गई है। इसके बाद गोम्मटसार जीवकाण्ड के प्रत्येक अधिकार में वर्णित विषय का संकेत देते हुए प्रत्येक अधिकार को अर्घ समर्पित किये गए है। तदनन्तर गोम्मटसार कर्मकाण्डगत प्रत्येक अधिकार को भी इसी प्रकार अर्घ समर्पित है। उक्त अर्घों के अन्त मे एक अर्घ लब्धिसार-क्षपरणासार को दिया गया है।

इसके बाद जयमाल आरंभ होती है। जयमाल मे पचपरमेष्ठी, चौबीस तीर्थंकर व गणधरदेव को नमस्कार करके गोम्मटसार शास्त्र मे वर्णित विषय का सक्षिप्त एवं सकेतात्मक वर्णन है। उसके बाद आदि शास्त्रकर्त्ता आचार्य कुन्दकुन्द एवं धवलादि शास्त्रो के सार को लेकर गोम्मटसार बनाने वाले आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती को स्मरण कर पंडित टोडरमल द्वारा भाषाटीका बनाने की चर्चा है।

जैनियों की पूजन-प्रणाली की एक निश्चित पद्धति है, उसी मे इस पूजा की भी रचना हुई है। प्रारम्भ में स्थापना, उसके बाद जलादि अष्ट द्रव्यो से पूजन, उसके बाद आवश्यक अर्घ और अन्त में जयमाल होनी है, जिसमें पूज्य के गुणों का स्तवन होता है। इस पूजन में इसी परम्परागत शैली का अनुकरण है।

त्रिलोकसार भाषाटीका

'त्रिलोकसार' आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा रचित ग्रंथ है। इसमें तीनों लोकों (उद्ध्र्व, मध्य, अधः) का विस्तृत वर्णन है। इस ग्रंथ पर पंडित टोडरमल ने सरल, सुबोध भाषा में भाषाटीका लिखी है, जो हिन्दी साहित्य प्रसारक कार्यालय, हीराबाग, बम्बई से प्रकाशित हो चुकी है। इसकी दो सौ वर्ष से भी अधिक प्राचीन कई हस्तलिखित प्रतिलिपियाँ प्राप्त है। यह करणानुयोग का ग्रंथ है। इसको समझने के लिए गणित का ज्ञान होना बहुत आवश्यक है। अतः यह ग्रंथ प्रायः विद्वानों के अध्ययन का ही विषय बना रहा।

इस टीका का नाम पंडित टोडरमल ने कुछ नहीं दिया। पंडित परमानन्द शास्त्री इसे भी सम्यग्ज्ञानचंद्रिका में सम्मिलित मानते हैं[1], पर ग्रंथकार ने स्पष्ट रूप से कई स्थानों पर लिखा है कि 'सम्यग्ज्ञान-चंद्रिका' गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार और क्षपणासार की टीका का नाम है[2]। कहीं भी त्रिलोकसार के नाम का उल्लेख नहीं किया है। लब्धिसार-क्षपणासार भाषाटीका समाप्त करते हुए लिखा है, "इति श्रीमत् लब्धिसार वा क्षपणासार सहित गोम्मटसार शास्त्र की सम्यग्ज्ञानचंद्रिका भाषाटीका सम्पूर्ण[3]।" अतः यह तो निश्चित ही है कि 'त्रिलोकसार भाषाटीका' सम्यग्ज्ञान-चंद्रिका का अंग नहीं है।

हिन्दी साहित्य प्रसारक कार्यालय, गिरगांव, बम्बई से प्रकाशित त्रिलोकसार के मुखपृष्ठ पर 'भाषा बचनिका' शब्द का उल्लेख है किन्तु उन्होंने इस नाम का उल्लेख किस आधार पर किया है इसका पता नहीं चलता है, जब कि उन्हीं के द्वारा प्रकाशित इस ग्रथ की

---

[1] मो० मा० प्र० प्रस्तावना, २८

[2] श्रीमत् लब्धिसार वा क्षपणासार सहित श्रुत गोमटसार।
ताकी सम्यग्ज्ञानचंद्रिका भाषामय टीका विस्तार॥
प्रारभी पूरन हुई, भए समस्त मंगलाचार।
सफल मनोरथ भयो हमारो, पायो ज्ञानानन्द अपार॥१॥
या विधि गोम्मटसार लब्धिसार ग्रंथनि की,
भिन्न भिन्न भाषाटीका कीनी अर्थ गायकैं।
इनिकैं परस्पर सहायकपनौ देख्यौ,
तातैं एक करि दई हम तिनकौ मिलाइकैं॥
सम्यग्ज्ञानचंद्रिका धर्यो है याको नाम,
सोई होत है सफल ज्ञानानन्द उपजाय कैं।
कलिकाल रजनी में अर्थ को प्रकाश करैं,
यातैं निज काज कीजै इष्ट भाव भायकैं॥३०॥
—स० चं० प्र०

[3] श्री दि० जैन बड़ा मंदिर तेरापंथियान, जयपुर में प्राप्त हस्तलिखित प्रति (वि० सं० १८५०), पृ० २८५

भूमिका[१] (पीठिका) तथा अंतिम प्रशस्ति[२] में 'भाषाटीका' शब्द मिलता है। अतः इसका सही नाम 'त्रिलोकसार भाषाटीका' ही है।

त्रिलोकसार मूल ग्रंथ प्राकृत भाषा में गाथाबद्ध है, जिसमें १०१८ गाथाएँ हैं। इसकी संस्कृत टीका आचार्य माधवचंद्र त्रैविद्य के द्वारा बनाई गई थी[३]। इसके आधार पर ही इस भाषाटीका का निर्माण हुआ है[४]। इस टीका का निर्माण टीकाकार की अन्तःप्रेरणा[५] एवं ब्र० रायमल की प्रेरणा[६] से हुआ है। स्वपर-हित, धर्मानुराग तथा करुणाबुद्धि ही अन्तःप्रेरणा की प्रेरक रही है। संस्कृत, प्राकृत भाषा ज्ञान से रहित मन्दबुद्धि जिज्ञासु जीवों को त्रिलोक संबधी ज्ञान प्राप्ति की सुविधा प्रदान करना ही इसका मुख्य उद्देश्य रहा है[७]।

'त्रिलोकसार भाषाटीका' की रचना सम्यग्ज्ञानचंद्रिका की रचना के उपरान्त ही हुई क्योंकि पंडित टोडरमलजी ने सम्यग्ज्ञानचंद्रिका का उल्लेख त्रिलोकसार भाषाटीका के परिशिष्ट में किया है। वे लिखते हैं, "बहुरि अलौकिक गणित अपेक्षा गणितनि की संदृष्टि

---

[१] "इस श्रीमत् त्रिलोकसार नाम शास्त्र के सूत्र नेमिचन्द्र नामा सिद्धान्तचक्रवर्ती करि विरचित है। तिनकी संस्कृत टीका की अनुसार लैई इस **भाषाटीका** विषै अर्थ लिखौगा।"

[२] "अथ त्रिलोकसार की **भाषाटीका** पूरन भई प्रमान।
याके जाने जानतु है सब नाना रूप लोक संस्थान॥"

[३] पु० जै० वा० सू०, ९२

[४] "अथ मंगलाचरण करि श्रीमत् त्रिलोकसार नाम शास्त्र की **भाषाटीका** करिए है। अब संस्कृत टीका अनुसार लिए मूल शास्त्र का अर्थ लिखिये।"
– त्रिलोकसार, १

[५] "तहां प्रशस्त राग करि मेरे ऐसी इच्छा भई जो शास्त्र का अर्थ भाषा रूप अक्षरनि करि लिखिए तौ इस क्षेत्र काल विषै मंदबुद्धि घने है, तिनका भी कल्याण होई।"
– त्रिलोकसार पी०

[६] जीवन पत्रिका, परिशिष्ट १

[७] त्रिलोकसार, १

वा संकलनादि की संदृष्टि का वर्णन गोम्मटसार शास्त्र की भाषाटीका[1] विषै संदृष्टि अधिकार कीया है तहां लिखी है, सो तहां तें जाननी[2]।"

सम्यग्ज्ञानचद्रिका टीका विक्रम संवत् १८१८ में समाप्त हुई पर उसका निर्माण कार्य तो वि० सं० १८१५ मे हो चुका था। शेष तीन वर्ष तक तो उसका संशोधनादि कार्य चलता रहा। इसी बीच त्रिलोकसार भाषाटीका भी बन चुकी थी। दि० जैन बड़ा मंदिर तेरापंथियान, जयपुर में प्राप्त आसोज कृष्णा ५ वि० सं० १८१५ में लिखित भूधरदास के 'चर्चा समाधान' नामक हस्तलिखित ग्रंथ पर प्राप्त उल्लेख[3] में त्रिलोकसार भाषाटीका लिखे जाने की भी चर्चा है। सम्यग्ज्ञानचंद्रिका की पीठिका में त्रिलोकसार भाषाटीका की पीठिका लिखी जा चुकने का भी उल्लेख[4] है। वि० सं० १८२१ के पूर्व लिखी जाने की बात तो माघ शुक्ला ५ विक्रम संवत् १८२१ में लिखित ब्र० रायमल की 'इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका' के उल्लेखों से सिद्ध है ही किन्तु इसका संशोधनादि कार्य वि० सं० १८२३ तक चलता रहा, जैसा कि श्रावण कृष्णा ४ वि० सं० १८२३ की चंदेरी में लिखी त्रिलोकसार की प्रति के निम्नलिखित उल्लेख से स्पष्ट है :—

"यह टीका खरड़ा की नकल उतरी है। मल्लजी कृत पीठबंध आदि सम्पूर्ण नहीं भई है। मूल को अर्थ सम्पूर्ण आय गयो है। परन्तु सौधि अर मल्लजी को फरि उतरावणी छै। वीछति होवा के वास्ते जेतै खरड़ा ही उतार लिया है। तिहिस्यौ और परती इहींस्यौ उतरवाज्यौ मती।"

उक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि इसकी रचना (रफ कापी) तो विक्रम संवत् १८१५ में हो चुकी थी किन्तु इसका संशोधनादि कार्य वि० सं० १८२३ तक चलता रहा।

---

[1] गोम्मटसार भाषाटीका सम्यग्ज्ञानचंद्रिका का ही एक अंग है।

[2] त्रि० भा० टी० परिशिष्ट, २१

[3] देखिए प्रस्तुत ग्रथ, ७६

[4] स० चं० पी०, ६१

त्रिलोकसार भाषाटीका की रचना सिंघाणा में हो चुकी थी पर इसका संशोधनादिकार्य जयपुर मे ही हुआ। ब्र० रायमल ने इस संबंध में अपनी जीवन पत्रिका में स्पष्ट उल्लेख किया है[१]। त्रिलोकसार भाषाटीका का परिमाण ब्र० रायमल द्वारा चौदह हजार श्लोक प्रमाण बताया गया है[२]।

सम्यग्ज्ञानचंद्रिका के समान इसके आरंभ में भी पीठिका लिखी गई है। इसमे रचना का प्रयोजन, उद्देश्य एवं ग्रंथकार ने अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए वक्ता-श्रोता की योग्यता और ग्रंथ की प्रामाणिकता पर विचार किया है। ग्रंथारम्भ मगलाचरणपूर्वक किया गया है। ग्रथ के नामानुसार इसमे तीन लोक की रचना का विस्तार से वर्णन किया गया है। यह एक तरह से जैन दर्शन सम्बन्धी भूगोल का ग्रंथ है। इसमें गणित के माध्यम से तीन लोक की रचना को समझाया गया है। अतः आरम्भ में गणित के ज्ञान की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए आवश्यक गणित को विस्तार से समझाया गया है। सर्वप्रथम परिकर्माष्टक का स्वरूप समझाते हुए उसके निम्न आठ अंगों को स्पष्ट किया है :– (१) सकलन, (२) व्यकलन, (३) गुणकार, (४) भागहार, (५) वर्ग, (६) वर्गमूल, (७) घन, और (८) घनमूल। उसके बाद त्रैराशिक श्रेणीव्यवहार, सर्वधारा, क्षेत्रमिति (रेखागणित) आदि का वर्णन किया है। इसके बाद ग्रंथ का मूल विषय आरम्भ होता है। इसके छः अधिकार है :–

(१) लोक सामान्य अधिकार
(२) भवनवासी लोक अधिकार
(३) व्यंतर लोक अधिकार
(४) ज्योतिर्लोक अधिकार
(५) वैमानिक लोक अधिकार
(६) मनुष्यतिर्यग्लोक अधिकार

[१] परिशिष्ट १

[२] वही

लोक सामान्य अधिकार में तीनों लोकों का सामान्य वर्णन करके अधोलोक का विस्तार से वर्णन किया गया है। अधोलोक के वर्णन में सातों नरकों की रचना; उनके बिल, बिलों की संख्या; उनके पटल, पटलों की संख्या तथा नारकियों के दुःख, स्थिति आदि का वर्णन किया गया है।

भवनवासी लोक अधिकार में भवनवासी देवों के निवास, आयु, उनके भेद-प्रभेदों आदि का विस्तार से वर्णन है।

व्यंतर लोक अधिकार मे व्यंतर जाति के देवों के भेद-प्रभेद, निवास, आयु, स्वभाव आदि का विस्तृत वर्णन है।

ज्योतिर्लोक अधिकार में ज्योतिषी देवों के भेद-प्रभेद, उनके विमान, स्थान, आयु आदि का विस्तृत विवेचन है।

वैमानिक लोक अधिकार में वैमानिक देवों के निवास स्थान ऊद्‌र्ध्वलोक का वर्णन है – जिसमें सोलह स्वर्ग, नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश, पंच पंचोत्तर विमानों का एवं उनमें रहने वाले इन्द्र, अहमिन्द्र, देव-देवांगनाओं की स्थिति, लेश्या, सुख, ऊंचाई, वैभव आदि का विस्तृत वर्णन है।

मनुष्यतिर्यग्लोक अधिकार में मध्यलोक का वर्णन है – जिसमें जम्बूद्वीप आदि द्वीपों और लवणसमुद्र आदि समुद्रों का विस्तारपूर्वक वर्णन है। जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भरत आदि सात क्षेत्र, हिमवन् आदि छः पर्वत, पद्म आदि छः तालाब, गगा–सिधु आदि चौदह नदियों, सुमेरु पर्वत, विजयार्द्ध पर्वत, आर्य खंड, म्लेच्छ खंड आदि का विस्तृत वर्णन है। इसी प्रकार धातकी खण्ड आदि द्वीपों का भी विस्तार से वर्णन है। तदनन्तर भरतक्षेत्र में अवसर्पिणी कालोत्पन्न चौदह कुलकर, चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नव नारायण, नव प्रतिनारायण, नव बलभद्र आदि के नाम, समय आदि का एवं अकृत्रिम जिन चैत्यालयों का तथा नन्दीश्वर द्वीप में स्थित जिन चैत्यालयों एवं जिनबिम्बों आदि का भी विस्तृत वर्णन है।

अन्त में प्रशस्तिपूर्वक ग्रंथ समाप्त होता है।

यह टीका भी सम्यग्ज्ञानचंद्रिका के समान विवेचनात्मक गद्यशैली में लिखी गई है। उसके समान इसके आरंभ में भी पीठिका है, जो कि आधुनिक भूमिका का ही पूर्व रूप है। यद्यपि यह टीका संस्कृत टीका के अनुकरण पर लिखी गई है तथापि यह मात्र अनुवाद ही नहीं है, किन्तु गूढ़ विषयों की स्पष्टता के लिए यथास्थान समुचित विस्तार किया गया है। आवश्यकतानुसार विषय का संकोच भी किया गया है, जैसा कि टीकाकार ने स्वयं स्वीकार किया है[१]। रचनाशैली सरल, सुबोध एवं प्रवाहमयी है।

समोसरण वर्णन

तीर्थंकर भगवान की धर्मसभा का वर्णन करने वाली यह रचना अब तक अज्ञात थी। श्री ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, बम्बई में एक त्रिलोकसार टीका की प्रति प्राप्त हुई है। यह प्रति मार्गशीर्ष कृष्णा १३ वि० सं० १८३३ की लिखी हुई है। इसे रायमल्लजी ने चंदेरी में लिपिकार वैद्य फैजुल्लाखाँ द्वारा लिखाया था। प्रति के अन्त में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है। 'समोसरण वर्णन' नामक यह रचना त्रिलोकसार की इसी प्रति के अन्त में प्राप्त हुई है। अभी तक इसका प्रकाशन नहीं हुआ है।

पंडित टोडरमल ने इसके नाम के रूप में 'समोसरण' और 'समवसरण' दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। ग्रंथ के आरंभ[२] और अन्त[३] में 'समोसरण' शब्द का प्रयोग है तथा मंगलाचरण के दोहा में 'समवसरण'[४] का। तीर्थंकर भगवान की धर्मसभा के लिए दोनों ही

---

[१] "तिनकी संस्कृत टीका का अनुसार लैई इस भाषा टीका विषैं अर्थ लिखौंगा। कहीं कोई अर्थ न भासैगा, ताको न लिखौंगा। कहीं समझाने के अर्थ बधाय करि लिखौंगा।" – त्रि० भा० टी० परिशिष्ट

[२] त्रि० भा० टी० हस्तलिखित प्रति, ३१९
– ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन, बम्बई

[३] वही, ३२७

[४] "असरण सरन जिनेस को, समवसरन शुभ थान"

नामों का प्रयोग शास्त्रों में मिलता है तथा समाज में भी दोनों ही नाम प्रचलित हैं। आदि और अन्त में 'समोसरण' शब्द का प्रयोग होने से हमने इस कृति के नाम के रूप में उसका ही प्रयोग उचित समझा है। हमें जो एक मात्र प्रति प्राप्त हुई है, उसमें 'समोसरण' के 'ण' के स्थान पर एकाध स्थान पर 'न' का प्रयोग भी मिला है, किन्तु अधिकांश स्थानों पर 'ण' का ही प्रयोग है। अतः हमने 'ण' को ही ग्रहण किया है।

यह रचना त्रिलोकसार के अन्त में लिखी हुई अवश्य प्राप्त हुई है पर यह त्रिलोकसार ग्रंथ का अंग नहीं है। यह एक स्वतंत्र रचना है। इसका आधार भी त्रिलोकसार ग्रंथ नहीं है। इसका आधार 'धर्म संग्रह श्रावकाचार, आदि पुराण, हरिवंश पुराण, और त्रिलोक प्रज्ञप्ति' हैं। ग्रंथ के आरंभ में ग्रंथकार ने इस तथ्य को स्पष्ट स्वीकार किया है[1]।

'समोसरण वर्णन' लिखने की प्रेरणा पंडित टोडरमल को त्रिलोकसार भाषाटीका में वर्णित अकृत्रिम जिन चैत्यालयों के वर्णन से प्राप्त हुई। अकृत्रिम जिन चैत्यालयों में अरहन्त प्रतिमाएँ रहती हैं, ये एक तरह से समोसरण के ही प्रतिरूप हैं। उनके वर्णन के समय पंडित टोडरमल को यह विचार आया कि अरहन्त की साक्षात् धर्मसभा समोसरण का भी वर्णन करना चाहिए[2]। इसका उद्देश्य अरहन्त भगवान की धर्मसभा समोसरण की रचना का सामान्य ज्ञान जनसाधारण को देना है। इसकी रचना त्रिलोकसार भाषाटीका के बाद ही हुई है। अतः विक्रम सम्वत् १८१८ से वि० सं० १८२४ के बीच ही इसका रचनाकाल रहा है।

इसमें तीर्थंकर भगवान की धर्मसभा का वर्णन किया गया है। जैन परिभाषा में तीर्थंकर भगवान की धर्मसभा को 'समोसरण' या

---

[1] "आगै धर्मसंग्रह श्रावकाचार वा आदि पुराण वा हरिवंश पुराण, वा त्रिलोक प्रज्ञप्ति या कै अनुसारि समोसरण का वर्णन करिए है। सु हे भव्य तूं जानि।"

[2] त्रि० भा० टी० हस्तलिखित प्रति, ३१९

– ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन, बम्बई

'समवशरण' कहते हैं । इसकी रचना इन्द्र की आज्ञा से कुबेर करता है और इसमें देव, मनुष्य, स्त्री, पुरुष, पशु-पक्षी आदि सभी के बैठने की पूरी-पूरी व्यवस्था रहती है । भगवान की दिव्यवाणी सुनने का लाभ सभी प्राणियों को समान भाव से प्राप्त होता है । अतिशययुक्त भगवान की वाणी को सभी अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं ।

ग्रंथ का आरंभ मंगलाचरण रूप दोहा से किया गया है, जिसमें इष्ट देव का स्मरण कर 'समोसरण वर्णन' के लिखने की प्रतिज्ञा की गई है । यह वर्णन दो भागों में विभक्त है :–

(१) समोसरण वर्णन

(२) विहार वर्णन

समोसरण वर्णन में समोसरण का विस्तार, लम्बाई, चौड़ाई, ऊंचाई, द्वार, सोपान, मानस्तम्भ, कोट, खाइयाँ, उपवन, बावड़ी, नृत्यशालाये, सभा भवन और अष्ट प्रातिहार्य तथा समोसरण में विद्यमान अतिशयों का विस्तृत वर्णन है ।

विहार वर्णन में तीर्थंकर भगवान के विहार (गमन), समोसरण के विघटन, मार्ग की स्वच्छता, निष्कंटकता, अनेक अतिशययुक्तता, विहार का कारण आदि का वर्णन है ।

ग्रंथ की समाप्ति 'ग्रैसें विहार सहित समोसरण का वर्णन सम्पूर्णम्' वाक्य द्वारा की गई है ।

यह रचना वर्णनात्मक गद्यशैली में लिखी गई है । आज के वर्णनात्मक निबंधों का यह करीब २१० वर्ष पुराना रूप है । अपने प्रारंभिक रूप में होने पर भी इसमें शिथिलता और अव्यवस्था नहीं पाई जाती है । प्रत्येक वस्तु का बारीकी से वर्णन किया गया है, फिर भी प्रवाह में रुकावट नही आई है । भाषा सहज, सरल एवं प्रवाहमयी है । किसी भी वर्णनात्मक निबंध की विशेषता इस बात में है कि जिसका वर्णन किया जा रहा हो, उसका चित्र पाठक के ध्यान में आ जावे । यह रचना इस कसौटी पर खरी उतरती है ।

मोक्षमार्ग प्रकाशक

मोक्षमार्ग प्रकाशक पंडित टोडरमल का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रंथ का आधार कोई एक ग्रंथ न होकर सम्पूर्ण जैन साहित्य है। यह सम्पूर्ण जैन सिद्धान्त को अपने में समेट लेने का एक सार्थक प्रयत्न था पर खेद है कि यह ग्रंथराज पूर्ण न हो सका। अन्यथा यह कहने में संकोच न होता कि यदि सम्पूर्ण जैन वाङ्मय कहीं एक जगह सरल, सुबोध और जनभाषा में देखना हो तो मोक्षमार्ग प्रकाशक को देख लीजिए। अपूर्ण होने पर भी यह अपनी अपूर्वता के लिये प्रसिद्ध है। यह एक अत्यन्त लोकप्रिय ग्रंथ है जिसके कई संस्करण निकल चुके है[१],

	प्रकाशक	प्रकाशन तिथि	भाषा	प्रतियाँ
[१] (क)	बाबू ज्ञानचंदजी जैन, लाहौर	वि० सं० १९५४	ब्रजभाषा	१०००
(ख)	जैनग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई	सन् १९११ ई०	,,	३०००
(ग)	बाबू पन्नालाल चौधरी, वाराणसी	वी० नि० सं० २४५१	,,	१०००
(घ)	अनन्तकीर्ति ग्रंथमाला, बम्बई	वी० नि० सं २४६३	,,	१०००
(ङ)	सस्ती ग्रंथमाला, दिल्ली		,,	४०००
(च)	सस्ती ग्रंथमाला, दिल्ली		,,	१०००
(छ)	सस्ती ग्रंथमाला, दिल्ली		,,	२३००
(ज)	सस्ती ग्रंथमाला, दिल्ली	सन् १९६५ ई०	,,	२२००

एवं खड़ी बोली में इसके अनुवाद भी कई बार प्रकाशित हो चुके हैं[१]। यह उर्दू में भी छप चुका है[२]। गुजराती और मराठी में इसके अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं[३]। समूचे समाज में यह स्वाध्याय और प्रवचन का लोकप्रिय ग्रंथ है। इसकी मूल प्रति भी उपलब्ध है[४] एवं उसके फोटोप्रिन्ट करा लिए गए हैं जो जयपुर[५], बम्बई[६], दिल्ली[७] और सोनगढ़[८] में सुरक्षित हैं। इस पर स्वतंत्र प्रवचनात्मक व्याख्याएँ भी मिलती हैं[९]।

	प्रकाशक	प्रकाशन तिथि	भाषा	प्रतियाँ
१	(क) भा० दि० जैन संघ, मथुरा	वी० नि० सं० २००५	खड़ी बोली	१०००
	(ख) श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़	वि० स० २०२३	,,	११०००
	(ग) श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़	वि० सं० २०२६	,,	७०००
२	दाताराम चैरिटेबिल ट्रस्ट, १५८३, दरीबाकलाँ, देहली	वि० सं० २०२७	उर्दू	१०००
३	(क) श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़		गुजराती	६७००
	(ख) महावीर ब्र० आश्रम, कारंजा		मराठी	२०००

[४] श्री दि० जैन मंदिर दीवान भदीचंदजी, घी वालों का रास्ता, जयपुर

[५] वही

[६] श्री दि० जैन सीमंधर जिनालय, जवेरी बाजार, बम्बई

[७] श्री दि० जैन मुमुक्षु मंडल, श्री दि० जैन मदिर, धर्मपुरा, देहली

[८] श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़

[९] आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी द्वारा किये गए प्रवचन, 'मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें' नाम से दो भागों में दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ से हिन्दी व गुजराती में कई बार प्रकाशित हो चुके हैं।

ग्रंथ के नाम के सम्बन्ध में विद्वानों में दो मत हैं :-

(१) मोक्षमार्ग प्रकाश (२) मोक्षमार्ग प्रकाशक

प्रथम मत मानने वाले डॉ० लालबहादुर शास्त्री हैं। उन्होंने अपने मत की पुष्टि में निम्नलिखित तर्क दिये हैं[१] :-

(१) पंडित टोडरमल ने स्वयं मंगलाचरण के बाद ग्रंथ की उत्थानिका में इसका नाम –'मोक्षमार्ग प्रकाश' स्वीकार किया है जैसा कि उनकी इस पंक्ति से स्पष्ट है :-

"अथ मोक्षमार्ग प्रकाश नाम शास्त्र का उदय हो है"

(२) १८८० वि० में जयपुर निवासी पंडित जयचंद्र ने काशी निवासी वृन्दावनदास को एक पत्र में उनके प्रश्न का उत्तर देते हुए ग्रंथ का नाम 'मोक्षमार्ग प्रकाश' लिखा है।

(३) इस नाम वाले अन्य ग्रंथों में भी 'प्रकाश' शब्द देखा गया है, 'प्रकाशक' नही। योगीन्द्रदेव कृत 'परमात्म प्रकाश' इसका उदाहरण है।

डॉ० शास्त्री के उक्त कथन विशेष महत्त्वपूर्ण और साधार प्रतीत नहीं होते। मोक्षमार्ग प्रकाशक की मूल प्रति में 'प्रकाशक' शब्द पाया गया है, 'प्रकाश' नहीं। उक्त पंक्ति इस प्रकार है :-

"अथ मोक्षमार्ग प्रकाशक नाम सास्त्र का उदय हो है[२]।"

जहाँ तक पंडित जयचंद के पत्र की बात है, जिसमें 'मोक्षमाग प्रकाश' दिया है – उस पत्र के संदर्भ का उल्लेख डॉ० शास्त्री ने नहीं किया है, लेकिन वह श्री नाथूराम प्रेमी द्वारा संपादित 'वृन्दावन विलास' के अन्त में दिया गया पत्र प्रतीत होता है। श्री नाथूराम प्रेमी द्वारा प्रकाशित मोक्षमार्ग प्रकाशक में कहीं 'मोक्षमार्ग प्रकाश', कहीं 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' दोनों ही शब्दों का प्रयोग किया गया है।

---

[१] मो० मा० प्र० मथुरा, भूमिका, ४

[२] उक्त पृष्ठ की मूल प्रति का ब्लाक अधिकांश प्रकाशित मोक्षमार्ग प्रकाशकों में छपा है। यहाँ भी संलग्न है।

पंडित टोडरमलजी के स्वयं के हाथ से लिखे हुए 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' का प्रथम पृष्ठ

डॉ० शास्त्री ने प्रेमीजी द्वारा लिखित उक्त नामों को स्वय भ्रमात्मक सिद्ध किया है[1]।

'परमात्म प्रकाश' से मोक्षमार्ग प्रकाशक का दूर का भी सम्बन्ध नही है, अतः उसके नाम के आधार पर इसका नाम रखा जाना युक्तिसंगत प्रतीत नही होता।

पंडित वंशीधरजी ने उक्त ग्रंथ का नाम 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' ही लिखा है[2]। समाज में भी प्रचलित नाम 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' ही है। इसके प्रकाशित सस्करणों में अधिकाश में 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' नाम ही दिया गया है, पर किसी-किसी ने कहीं-कही 'मोक्षमार्ग प्रकाश' नाम भी दे दिया है। जैसे श्री नाथूराम प्रेमी ने मुखपृष्ठ पर मोक्षमार्ग प्रकाश नाम दिया है, पर भीतर संधियों में मोक्षमार्ग प्रकाशक दिया हुआ है। इसी प्रकार पं० रामप्रसाद शास्त्री ने कवर पृष्ठ पर मोक्षमार्ग प्रकाशक और अन्दर भी संधियों में कई स्थानों पर मोक्षमार्ग प्रकाशक नाम दे रखा है, पर अन्दर मुखपृष्ठ पर मोक्षमार्ग प्रकाश नाम दिया है। इससे पता चलता है कि उक्त विद्वानों का लक्ष्य ग्रन्थ के नाम की ओर नही गया, अन्यथा एक ही संस्करण में कही मोक्षमार्ग प्रकाशक और कही मोक्षमार्ग प्रकाश देखने को नही मिलता।

पंडित परमानन्द शास्त्री ने गत संस्करणों में मोक्षमार्ग प्रकाश नाम दिया था, पर अंतिम संस्करण में उन्होने मात्र सुधार ही नही किया वरन् भूमिका में सिद्ध किया है कि ग्रन्थ का नाम मोक्षमार्ग प्रकाशक ही है, मोक्षमार्ग प्रकाश नहीं। उन्होंने अपने मत की पुष्टि में मूल प्रति का आधार प्रस्तुत किया है।

पंडित टोडरमल के अनन्य सहयोगी साधर्मी भाई ब्र० रायमल ने इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका की मूल प्रति मे[3] उक्त ग्रन्थ का उल्लेख करते हुए ग्रन्थ का नाम 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' ही लिखा है।

---

[1] मो० मा० प्र० मथुरा, भूमिका, ४

[2] आत्मानुशासन, प्रस्तावना, १०

[3] श्री दि० जैन मंदिर भदीचन्दजी जयपुर में प्राप्त, परिशिष्ट १

पंडित टोडरमल ने स्वयं मूल प्रति में कई बार 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' शब्द का स्पष्ट उल्लेख किया है[1] तथा ग्रन्थ के नाम की सार्थकता सिद्ध करते हुए इसका नाम अनेक तर्क और उदाहरणों से 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' ही सिद्ध किया है[2]।

प्रकाशक का प्रकाश हो जाना किसी लिपिकार की भूल (पैनस्लिप) का परिणाम लगता है, जिससे यह भ्रम चल पड़ा। प्रकाश और प्रकाशक मोटे तौर पर एकार्थवाची होने से किसी ने इस पर विशेष ध्यान भी नहीं दिया। वस्तुतः ग्रंथ का नाम 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' ही है और यही ग्रंथकार को इष्ट है।

पंडितजी ने मूल प्रति में 'मोक्षमार्ग' शब्द को 'मोक्षमार्ग्ग'[3] लिखा है, किन्तु अत्यधिक प्रचलित होने से हमने सर्वत्र 'मोक्षमार्ग' ही रखा है।

इस ग्रन्थ का निर्माण ग्रन्थकार की अन्तःप्रेरणा का परिणाम है। अल्पबुद्धि वाले जिज्ञासु जीवों के प्रति धर्मानुराग ही अन्तःप्रेरणा का प्रेरक रहा है[4]। ग्रन्थ निर्माण के मूल में कोई लौकिक आकांक्षा नहीं थी। धन, यश और सम्मान की चाह तथा नया पंथ चलाने का मोह भी इसका प्रेरक नहीं था; किन्तु जिनको न्याय, व्याकरण, नय और प्रमाण का ज्ञान नहीं है और जो महान शास्त्रों के अर्थ समझने में सक्षम नहीं हैं, उनके लिये जनभाषा में सुबोध ग्रन्थ बनाने के पवित्र उद्देश्य से ही इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है[5]।

---

[1] (क) "अथ **मोक्षमार्ग्ग प्रकाशक** नामा शास्त्र लिख्यते।"
– देखिए प्रस्तुत ग्रंथ, ११२

(ख) प्रत्येक अधिकार के अन्त में पंडितजी ने **मोक्षमार्ग प्रकाशक** नाम का ही उल्लेख किया है।

[2] मो० मा० प्र०, २७–२६

[3] देखिए प्रस्तुत ग्रंथ, ११२

[4] मो० मा० प्र०, २६

[5] वही

यह ग्रन्थ अपूर्ण है, अतः ग्रन्थों के अन्त में लिखी जाने वाली प्रशस्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए इसके रचनाकाल का उल्लेख अन्तःसाक्ष्य से तो प्राप्त होता नही है, पर साधर्मी भाई ब्र० रायमल ने वि० सं० १८२१ में लिखी गई इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका में यह लिखा है कि मोक्षमार्ग प्रकाशक बीस हजार श्लोक प्रमाण तैयार हो चुका है[1]। इससे इतना सिद्ध होता है कि वि० सं० १८२१ में वर्तमान प्राप्त मोक्षमार्ग प्रकाशक तैयार हो चुका था। यह भी निश्चित है कि वि० सं० १८१८ तक तो पंडितजी गोम्मटसारादि ग्रन्थों की टीका सम्यग्ज्ञानचंद्रिका के निर्माण में व्यस्त थे, इसलिए इसका आरम्भ वि० सं० १८१८ के बाद ही हुआ होगा। अतः इसका रचनाकाल वि० सं० १८१८ से १८२१ तक ही होना चाहिए। वैसे भी पंडितजी का अस्तित्व ही वि० सं० १८२३–२४ के बाद सिद्ध नहीं होता है, अतः यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इसका निर्माण वि० सं० १८१८ से वि० सं० १८२३–२४ के बीच में ही हुआ होगा।

मोक्षमार्ग प्रकाशक की रचना जयपुर में ही हुई क्योंकि इसकी रचना सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका (वि० सं० १८१८) के समाप्त होने के उपरान्त हुई है। उक्त समय में पंडितजी जयपुर में ही रहे हैं। उनके कहीं बाहर जाने का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

प्राप्त मोक्षमार्ग प्रकाशक अपूर्ण है। करीब पाँच सौ पृष्ठों में नौ अधिकार हैं। आरंभ के आठ अधिकार तो पूर्ण हो गए, किन्तु नौवाँ अधिकार अपूर्ण है। इस अधिकार में जिस प्रकार विषय (सम्यग्दर्शन) उठाया गया है, उसके अनुरूप इसमें कुछ भी नहीं कहा जा सका है। सम्यग्दर्शन के आठ अंग और पच्चीस दोषों के नाम मात्र गिनाए जा सके हैं। उनका सांगोपांग विवेचन नहीं हो पाया है। जहाँ विषय छूटा है वहाँ विवेच्य-प्रकरण भी अधूरा रह गया है,

[1] परिशिष्ट १

पंडित टोडरमलजी के स्वय के हाथ मे लिखे हुए 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' का अंतिम पृष्ठ

यहाँ तक कि अंतिम पृष्ठ का अंतिम शब्द 'बहुरि' भी 'बहु....' लिखा जाकर अधूरा छूट गया है[1]। इस अधिकार का उपसंहार, जैसा कि प्रत्येक अधिकार के अंत में पाया जाता है, लिखे जाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

मोक्षमार्ग प्रकाशक की हस्तलिखित मूल प्रति देखने पर यह प्रतीत हुआ कि मोक्षमार्ग प्रकाशक के अधिकारों के क्रम एवं वर्गीकरण के संबंध में पंडितजी पुनर्विचार करना चाहते थे क्योंकि तीसरे अधिकार तक तो वे अधिकार अन्त होने पर स्पष्ट रूप से लिखते है कि प्रथम, द्वितीय व तृतीय अधिकार समाप्त हुआ, किन्तु चौथे अधिकार से यह क्रम गड़बड़ा गया है। चौथे के अन्त में लिखा है 'छठा अधिकार समाप्त हुआ'। पाँचवें अधिकार के अन्त में कुछ लिखा व कटा हुआ है। पता नही चलता कि क्या लिखा है एवं वहाँ अधिकार शब्द का प्रयोग नहीं है। छठे अधिकार के अन्त में छठा लिखने को जगह छोड़ी गई है। उसकी जगह ६ का अंक लिखा हुआ है। सातवें और आठवें अधिकार के अन्त का विवरण स्पष्ट होने पर भी उनमें अधिकार संख्या नही दी गई है एवं उसके लिए स्थान खाली छोड़ा गया है।

सातवें अधिकार के अन्त में आशीर्वादात्मक मंगलसूचक वाक्य 'तुम्हारा कल्याण होगा' एवं आठवें के आरंभ में मंगलाचरण नहीं है, जब कि प्रत्येक अधिकार के आरंभ में मंगलाचरण एवं अन्त में मंगलसूचक वाक्य पाये जाते है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि शायद वे इन दोनों को एक अधिकार में ही रखना चाहते थे। इनका विषय भी मिलता-जुलता सा ही है। सातवें अधिकार में निश्चय-व्यवहार की कथनशैली से अपरिचित निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी एवम् उभयाभासी अज्ञानियों का वर्णन है, तो आठवें अधिकार में चारों अनुयोगों की कथनशैली से अपरिचित जीवों की चर्चा है; किन्तु 'अधिकार समाप्त हुआ' शब्द का सातवें व आठवें दोनों में स्पष्ट उल्लेख है, इससे उक्त संभावना कुछ कमजोर अवश्य हो जाती है।

---

[1] देखिए प्रस्तुत ग्रंथ, ११६

ग्रंथ के आरंभ में प्रथम पृष्ठ पर अधिकार का नम्बर तथा नाम जैसे 'पीठबंध प्ररूपक प्रथम अधिकार' नहीं लिखा है, जैसा कि प्रथम अधिकार के अन्त में लिखा गया है। "ॐ नमः सिद्धं ।। अथ मोक्षमार्ग प्रकाशक नामा शास्त्र लिख्यते ।।" लिखकर मंगलाचरण आरंभ कर दिया गया है। अन्य अधिकारों के प्रारम्भ में भी अधिकार निर्देश व नामकरण नहीं किया गया है।

उक्त विवरण से किसी अंतिम निष्कर्ष पर पहुंच पाना संभव नहीं है, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन सब का निर्णय उन्होंने दूसरे दौर (संशोधन) के लिए छोड़ रखा था, जिसको वे कर नहीं पाए। यहाँ हमने अधिकारों का विभागीकरण, नाम व क्रम प्रचलित परम्परा के अनुसार ही रखना उचित समझा है।

अपूर्ण नौवें अधिकार को पूर्ण करने के बाद उसके आगे और भी कई अधिकार लिखने की उनकी योजना थी। न मालूम पंडित टोडरमल के मस्तिष्क में कितने अधिकार प्रच्छन्न थे ? प्राप्त नौ अधिकारों में लेखक ने बारह स्थानों पर ऐसे संकेत दिए हैं कि इस विषय पर आगे यथास्थान विस्तार से प्रकाश डाला जायगा[1]। उक्त

---

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, सस्ती ग्रंथमाला, दिल्ली :

(१) सो इनि सबनि का विशेष आगै कर्म अधिकार विषैं लिखैंगे तहाँ जानना। पृ० ४४

(२) सर्वज्ञ वीतराग अर्हन्त देव है। बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ गुरु हैं। सो इनिका वर्णन इस ग्रंथ विषै आगैं विशेष लिखैगे सो जानना। पृ० १६६

(३) तातै सम्यक्श्रद्धान का स्वरूप यहु नाहीं। साँचा स्वरूप है, सो आगै वर्णन करैंगे सो जानना। पृ० २३१

(४) सो द्रव्यलिंगी मुनि कै शास्त्राभ्यास होतै भी मिथ्याज्ञान कह्या, असंयत सम्यग्दृष्टि कै विषयादिरूप जानना ताकौ सम्यग्ज्ञान कह्या। तातै यहु स्वरूप नाहीं, साँचा स्वरूप आगै कहैंगे सो जानना। पृ० २३१

संकेतों और प्रतिपादित विषय के आधार पर प्रतीत होता है कि यदि यह महाग्रन्थ निर्विघ्न समाप्त हो गया होता तो पाँच हजार पृष्ठों से कम नहीं होता और उसमें मोक्षमार्ग के मूलाधार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का विस्तृत विवेचन होता। उनके अन्तर में क्या था, वे इसमें क्या लिखना चाहते थे, यह तो वे ही जानें, पर प्राप्त ग्रंथ के आधार पर हम यह सकते हैं कि उसकी संभावित रूपरेखा कुछ ऐसी होती :–

---

(५) अर उनका मत के अनुसारि गृहस्थादिक कै महाव्रत आदि बिना अंगीकार किए भी सम्यग्चारित्र हो है, तातैं यह स्वरूप नाहीं। साँचा स्वरूप अन्य है, सो आगै कहैगे। पृ० २३१

(६) साँचा जिन धर्म्म का स्वरूप आगै कहै है। पृ० २४६

(७) ज्ञानी कै भी मोह के उदयतैं रागादिक हो है। यहु सत्य, परन्तु बुद्धि-पूर्वक रागादिक होते नाही। सो विशेष वर्णन आगै करैंगे। पृ० ३०४

(८) बहुरि भरतादिक सम्यग्दृष्टीनि कै विषय–कषायनि की प्रवृत्ति जैसै हो है, सो भी विशेष आगै कहैगे। पृ० ३०४

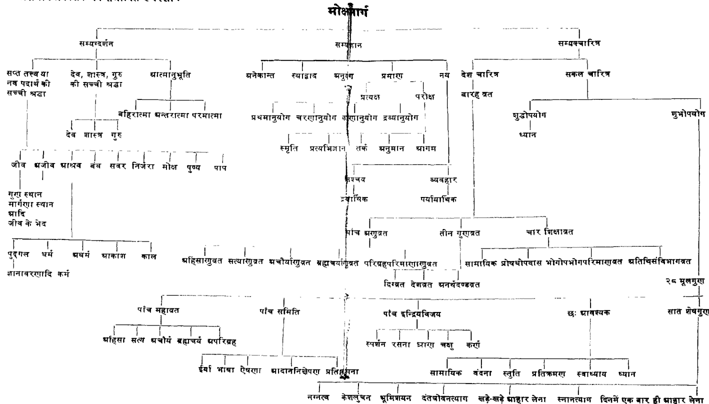
(९) अंतरंग कषाय शक्ति घटै विशुद्धता भए निर्जरा हो है। सो इसका प्रगट स्वरूप आगै निरूपण करैंगे, तहां जानना। पृ० ३४१

(१०) अर फल लागै है सो अभिप्राय विषै वासना है, ताका फल लागै है। सो इनका विशेष व्याख्यान आगै करैंगे, तहाँ स्वरूप नीके भासैगा। पृ० ३४६

(११) आज्ञा अनुसारि हुवा देख्यांदेखी साधन करै है। तातै याकैं निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग न भया। आगै निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग का निरूपण करैंगे, ताका साधन भए ही मोक्षमार्ग होगा। पृ० ३७८

(१२) तैसैं सोई आत्मा कर्म उदय निमित्त के वश तै बन्ध होने के कारणनि विषैं भी प्रवर्तै है, विषयसेवनादि कार्य वा क्रोधादि कार्य करै है, तथापि तिस श्रद्धान का वाकै नाश न हो है। इसका विशेष निर्णय आगै करैंगे। पृ० ४७४

मोक्षमार्ग प्रकाशक की संभावित रूपरेखा :



काशी निवासी कविवर वृन्दावनदास को लिखे पत्र में पंडित जयचन्द्र ने वि० सं० १८८० में भी मोक्षमार्ग प्रकाशक के अपूर्ण होने की चर्चा की है एवं मोक्षमार्ग प्रकाशक को पूर्ण करने के उनके अनुरोध को स्वीकार करने में असमर्थता व्यक्त की है[1]।

अतः यह तो निश्चित है कि वर्तमान प्राप्त मोक्षमार्ग प्रकाशक अपूर्ण है, पर प्रश्न यह रह जाता है कि इसके आगे मोक्षमार्ग प्रकाशक लिखा गया या नहीं ? इसके आकार के सम्बन्ध में साधर्मी भाई ब्र० रायमल ने अपनी इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका[2] में वि० सं० १८२१ में इसे बीस हजार श्लोक प्रमाण लिखा है तथा इन्होंने ही अपने चर्चा संग्रह[3] ग्रंथ में इसके बारह हजार श्लोक प्रमाण होने का उल्लेख किया है।

ब्र० रायमल पंडित टोडरमल के अनन्य सहयोगी एवं नित्य निकट सम्पर्क में रहने वाले व्यक्ति थे। उनके द्वारा लिखे गए उक्त उल्लेखों को परस्पर विरोधी उल्लेख कह कर अप्रमाणित घोषित कर देना अनुसंधान के महत्त्वपूर्ण सूत्र की उपेक्षा करना होगा। गंभीरता से विचार करने पर ऐसा लगता है कि बारह हजार श्लोक प्रमाण वाला उल्लेख तो प्राप्त मोक्षमार्ग प्रकाशक के संबंध में है, क्योंकि प्राप्त मोक्षमार्ग प्रकाशक है भी इतना ही, किन्तु बीस हजार श्लोक प्रमाण वाला उल्लेख उसके अप्राप्तांश की ओर संकेत करता है।

पंडितजी की स्थिति वि० सं० १८२३–२४ तक मानी जाती है। अतः वि० सं० १८२१ के बाद भी इसका सृजन हुआ होगा। जिस प्रकार इसका आरम्भ हुआ है और इसका वर्तमान जो प्राप्त स्वरूप है,

---

[1] ………"और लिख्या कि टोडरमलजी कृत मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ पूरण भया नाहीं, ताकौं पूरण करना योग्य है। सो कोई एक मूल ग्रंथ की भाषा होय तो हम पूरण करें। उनकी बुद्धि बड़ी थी। यातै बिना मूल ग्रंथ के आश्रय उनने किया। हमारी एती बुद्धि नाही, कैसें पूरण करें।"

—वृन्दावन विलास, १३२

[2] परिशिष्ट १

[3] देखिए प्रस्तुत ग्रंथ, ५२

उसके अनुसार आठ अधिकार मात्र भूमिका हैं । यह तो नहीं कहा जा सकता है कि मोक्षमार्ग प्रकाशक पूर्ण हो गया होगा पर अनुमान ऐसा है कि इससे आगे कुछ न कुछ अवश्य रचा गया था, जो कि आज उपलब्ध नहीं है ।

मेरा अनुमान है कि इस ग्रंथ का अप्राप्तांश उनके अन्य सामान के साथ तत्कालीन सरकार द्वारा जब्त[1] कर लिया गया होगा और यदि उनका जब्ती का सामान राज्यकोष में सुरक्षित होगा तो निश्चित ही बाकी का मोक्षमार्ग प्रकाशक भी उसमें होना चाहिए ।

वर्तमान प्राप्त मोक्षमार्ग प्रकाशक नौ विभागों में विभक्त है । विभागों के नामकरण में भी दो रूप देखने में आते हैं – अधिकार और अध्याय । डॉ० लालबहादुर शास्त्री ने उनके द्वारा अनुवादित एवं संपादित तथा भा० दि० जैन संघ, मथुरा से प्रकाशित मोक्षमार्ग प्रकाशक में अध्याय शब्द का प्रयोग किया है जब कि अन्य सभी प्रकाशनों में अधिकार शब्द का प्रयोग मिलता है[2] । पंडित टोडरमल की मूल प्रति में भी अधिकार शब्द ही मिलता है तथा अन्य हस्तलिखित प्रतियों में भी अधिकार शब्द का प्रयोग हुआ है । डॉ० लालबहादुर शास्त्री ने यह परिवर्तन किस आधार पर किया है, इस संबंध में उन्होंने कोई उल्लेख नहीं किया है । ग्रंथकार ने प्रत्येक अधिकार के अन्त में तो 'अधिकार' शब्द का स्पष्ट प्रयोग किया ही है, किन्तु प्रकरणवशात् बीच में भी इस प्रकार के उल्लेख किए हैं । जैसे "सो इनि सबनि का विशेष आगैं कर्म अधिकार विषै लिखेंगे तहाँ जानना[3] ।" डॉ० लालबहादुर शास्त्री ने भी प्रकरण के बीच में प्राप्त उल्लेखों में

[1] वीरवाणी : टोडरमलांक, २०-२१

[2] मो० मा० प्र०
   (क) सस्ती ग्रंथमाला, दिल्ली
   (ख) अनन्तकीर्ति ग्रंथमाला, बम्बई
   (ग) श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़
   (घ) श्री टोडरमल ग्रंथमाला, जयपुर

[3] मो० मा० प्र०, ४४

अधिकार शब्द का प्रयोग किया है । अतः अधिकार शब्द ही सर्वमान्य एवं ग्रंथकार को इष्ट है ।

आलोच्य-ग्रंथ के आरम्भ में मंगलमय वीतराग-विज्ञान को नमस्कार किया है, तदुपरान्त पंचपरमेष्ठी को[1] । आठवें अधिकार को छोड़ कर प्रत्येक अधिकार का आरम्भ दोहा से किया गया है। ग्रंथ का आरम्भ मंगलाचरण रूप दो दोहों से हुआ है पर आगे प्रत्येक अधिकार के आरम्भ में एक-एक दोहा है । प्रारम्भिक दोहों में वर्ण्य-विषय का संकेत दे दिया गया है । सातवें के अतिरिक्त प्रत्येक अधिकार के अन्त में 'तुम्हारा कल्याण होगा' के मृदुल सम्बोधन में पाठकों को मंगल आशीर्वाद दिया गया है। ग्रंथ के सर्व अधिकारों का विषयानुसार स्वाभाविक विकास हुआ है ।

ग्रंथ का नाम मोक्षमार्ग प्रकाशक है, अतः इसमें मोक्षमार्ग[2] का प्रतिपादन अपेक्षित है – पर मुक्ति बंधन-सापेक्ष है, अतः इसके आरम्भ मे बंधन (संसार) की स्थिति और कारणों पर विचार किया गया है । आरम्भ के सात अधिकारों मे यही विवेचना है । आठवे अधिकार में जिनवाणी का मर्म समझने के लिए उसके समझने की विधि का सांगोपांग वर्णन है । नवम् अधिकार में मोक्षमार्ग का कथन आरम्भ हुआ है ।

प्रथम अधिकार ग्रथ की पीठिका[3] है । इसमें मंगलाचरणोपरान्त, मंगलाचरण में जिन्हे स्मरण किया गया है, उन पंचपरमेष्ठियों का स्वरूप, उनके पूज्यत्व का कारण, मंगलाचरण का हेतु, ग्रंथ की प्रामाणिकता और ग्रंथ निर्माण हेतु पर विचार किया गया है । तदुपरान्त बांचने-सुनने योग्य शास्त्र के स्वरूप तथा वक्ता और श्रोता के स्वरूप पर भी विचार किया गया है । अन्त में मोक्षमार्ग प्रकाशक के निर्माण और नाम की सार्थकता सिद्ध की गई है ।

---

[1] जो परमपद में स्थित हों, उन्हें परमेष्ठी कहते हैं । वे पांच होते है – अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ।

[2] दुखों से छूटने के उपाय को मोक्षमार्ग कहते है ।

[3] मो० मा० प्र०, ३०

दूसरे अधिकार में संसार अवस्था का वर्णन है। आत्मा के साथ कर्मों का बंधन, उनका अनादित्व एवं आत्मा से भिन्नत्व तथा कर्मों के घातिकर्म-अघातिकर्म, द्रव्यकर्म, भावकर्म आदि भेदों पर विचार किया गया है। तदुपरान्त नवीन बंध, बध के भेद व उनके कारणों पर भी प्रकाश डाला गया है। अन्त में क्षायोपशमिक ज्ञान (अर्द्धविकसित ज्ञान) की पराधीन प्रवृत्ति एवं अष्टकर्मोदयजन्य जीव की अवस्थाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है।

तीसरे अधिकार मे सांसारिक दुःख, दुःखों के मूलकारण–मिथ्यात्व[1], अज्ञान, असंयम; कषायजन्य जीव की प्रवृत्ति और उनसे निवृत्ति के उपाय का वर्णन है। तदुपरान्त एकेन्द्रियादिक जीवों के चतुर्गति भ्रमण सबंधी दुखों का विस्तृत विवेचन कर उनमे छूटने का उपाय बताया गया है। अंत में सर्वदुःख रहित सिद्ध दशा का स्वरूप बताकर उसमें सर्वसुख सम्पन्नता सिद्ध की गई है।

चौथे अधिकार मे अनादिकालीन मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याचारित्र का वर्णन है। इन्ही के अंतर्गत मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत-अप्रयोजनभूत का विवेक एवं मोह-राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति का विस्तृत विवेचन किया गया है।

पाँचवे अधिकार में गृहीत मिथ्यात्व का विस्तृत वर्णन किया है। इसके अंतर्गत विविध मतों की समीक्षा की गई है – जिसमें सर्वव्यापी अद्वैतब्रह्म, सृष्टि-कर्त्तावाद, अवतारवाद, यज्ञ में पशु-हिंसा, भक्तियोग, ज्ञानयोग, मुस्लिममत, सांख्यमत, नैयायिकमत, वैशेषिकमत, मीमांसकमत, जैमिनीयमत, बौद्धमत, चार्वाकमत की समीक्षा की गई है तथा उक्त मतों और जैनमत के बीच तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

अन्य मतों के प्राचीनतम महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के आधार पर जैनमत की प्राचीनता और समीचीनता सिद्ध की गई है। तदनन्तर जैनियों के अंतर्गत सम्प्रदाय श्वेताम्बरमत पर विचार करते हुए स्त्रीमुक्ति, शूद्रमुक्ति,

---

१ वस्तु स्वरूप के सम्बन्ध में उल्टी मान्यता को मिथ्यात्व कहते हैं।

सवस्त्रमुक्ति, केवली-कवलाहार-निहार, ढूढ़कमत, मूर्तिपूजा, मुहपत्ति आदि विषयों पर युक्तिपूर्वक विचार किया गया है ।

छठे अधिकार में भी गृहीत मिथ्यात्व के ही अन्तर्गत कुदेव, कुगुरु, कुधर्म का स्वरूप बता कर उनकी उपासना का प्रतिषेध किया गया है । साथ ही गणगौर, शीतला, भूतप्रेतादि व्यंतर, सूर्यचन्द्र शनिश्चरादिग्रह, पीर-पैगम्बर, गाय आदि पशु, अग्नि, जलादि के पूजत्व पर विचार किया गया है एवं क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि एवं यक्ष-यक्षिका की पूजा-उपासना आदि का सयुक्तिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है और इनके पूजत्व का निराकरण किया गया है ।

सातवें अधिकार में सूक्ष्म मिथ्यात्व का वर्णन किया गया है, जो नाम मात्र के दिगम्बर जैनियों के साथ-साथ जिन आज्ञा को मानने वाले दिगम्बर जैनियों में भी पाया जाता है क्योंकि वे जिनागम का मर्म नहीं समझ पाते । ये भी एक प्रकार से गृहीत मिथ्यादृष्टि ही हैं । यद्यपि इनके जैनेतर कुगुरु आदि के सम्पर्क का प्रश्न पैदा नहीं होता तथापि ये अपने स्वयं के अज्ञान व गलतियों तथा दि० जैन वेषधारी तथाकथित अज्ञानी गुरुओ एवं उनके द्वारा लिखित शास्त्रों के माध्यम से अपनी विपरीत मान्यताओं की पुष्टि करते रहते है ।

पंडित टोडरमल ने इन मिथ्यादृष्टियों का चार भागों में वर्गीकरण किया है :-

(१) निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि
(२) व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि
(३) उभयाभासी मिथ्यादृष्टि
(४) सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि

निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि का विवेचन करते हुए निश्चयाभासी जीव की प्रवृत्ति का विस्तार से वर्णन किया है एवं आत्मा की शुद्धता समझे बिना आत्मा को शुद्ध मान कर स्वच्छन्द होने का निषेध किया है ।

व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि का वर्णन करते हुए कुल अपेक्षा धर्म मानने एवं विचाररहित आज्ञानुसारिता का निषेध कर परीक्षा-प्रधानी होने का समर्थन किया है। साथ ही व्यवहाराभासी जीव की प्रवृत्ति बताते हुए विषय-कषाय की आशा से की जाने वाली अरहन्त देव, शास्त्र और गुरु की अंध भक्ति का निषेध किया है तथा व्यवहाराभासी जैनी सप्त तत्त्वों के समझने में क्या-क्या भूलें करता है, उनका विस्तार से वर्णन किया है। वह सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति के लिए भी कैसी-कैसी अविचारित प्रवृत्तियाँ करता है, इसका भी दिग्दर्शन कराया है।

उभयाभासी मिथ्यादृष्टियों की स्थिति का चित्रण करते हुए निश्चयनय और व्यवहारनय का बहुत गंभीर तर्कसंगत एवं विस्तृत विवेचन किया है तथा निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग का भी विशेष स्पष्टीकरण किया गया है।

सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टियों के वर्णन में वस्तु स्वरूप को समझने की पद्धति का विस्तृत विवेचन करने के उपरान्त सम्यक्त्व की प्राप्ति में होने वाली क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि, इन पाँच लब्धियों का सूक्ष्म विश्लेषण किया है।

उक्त अधिकार के अन्त में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जो मिथ्यादृष्टियों में पाये जाने वाले दोषों का वर्णन किया है, वह दूसरों के दोषों को देखकर निन्दा करने के लिये नहीं, वरन् उस प्रकार के दोष यदि अपने में हों, तो उनसे बचने के लिये किया गया है।

आठवें अधिकार में उपदेश के स्वरूप पर विचार किया गया है। समग्र जैन साहित्य विषय-भेद की दृष्टि से चार अनुयोगों में विभक्त है, जिनके नाम हैं – प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। प्रत्येक अनुयोग की अपनी कथनशैली अलग-अलग है। कथनशैली का ज्ञान हुए बिना जैन साहित्य का मर्म समझ में नहीं आ सकता। अतः इस अधिकार में अनुयोगों का विषय और उनकी प्रतिपादन शैली का विस्तृत विवेचन किया गया है। प्रत्येक अनुयोग

का अपना अलग-अलग प्रयोजन होता है, उसे समझे बिना व्यर्थ की शंकाएँ और विवाद उत्पन्न हो जाते है। उनका निराकरण करने के लिये प्रत्येक अनुयोग का अलग प्रयोजन इसमें स्पष्ट किया गया है। प्रत्येक अनुयोग की कथनशैली में सभावित दोष-कल्पनाओं को स्वयं उठा-उठा कर उनका सयुक्तिक निराकरण किया गया है तथा अपेक्षा-ज्ञान के अभाव में जिनागम में दिखाई देने वाले परस्पर विरोध का समुचित समाधान किया गया है। अन्त में अनुयोगों के अभ्यासक्रम पर विचार करते हुए आगम अभ्यास की प्रेरणा दी गई है तथा अध्यात्म शास्त्रों के अभ्यास की विशेष प्रेरणा दी गई है, क्योंकि वस्तु स्वरूप का मर्म तो अध्यात्म शास्त्रों में ही है। अध्यात्म शास्त्र पढने का निषेध करने सम्बन्धी अनेक तर्कों को स्वयं उठा-उठाकर उनका निराकरण किया गया है।

नौवें अधिकार में मोक्षमार्ग का स्वरूप आरम्भ हुआ है। इसमे सांसारिक सुख की असारता एवं मोक्ष सुख की वास्तविकता पर विचार करने के उपरान्त 'मोक्ष की प्राप्ति पुरुषार्थ से ही संभव है', इस तथ्य को विस्तार से अनेक तर्कों द्वारा समझाया गया है एवं मुक्ति प्राप्ति के लिये पर के सहयोग की अपेक्षा छोड़ कर स्वयं पुरुषार्थ करने की प्रेरणा दी गई है। तदुपरान्त मोक्षमार्ग का स्वरूप आरम्भ करने के साथ ही लक्षण और लक्षणाभास पर भी विचार किया गया है। मोक्षमार्ग के प्रथम अंग सम्यग्दर्शन की परिभाषा, उसमें आए विभिन्न पदों की विस्तृत व्याख्या एवं उसमें उठने वाली शंकाओं का समाधान करने के साथ ही विभिन्न अनुयोगों में दी गई सम्यग्दर्शन की विभिन्न परिभाषाओं पर विस्तारपूर्वक विचार करते हुए उनमें समन्वय स्थापित किया गया है। सम्यग्दर्शन में जिन प्रयोजनभूत तत्त्वों की श्रद्धा आवश्यक है, उनकी संख्या आदि के संबंध में भी सयुक्तिक विस्तृत विवेचन किया गया है। तत्पश्चात् सम्यग्दर्शन के भेद व उनके स्वरूप पर विचार करने के उपरान्त सम्यग्दर्शन के आठ अंग और पच्चीस दोषों का वर्णन प्रारम्भ किया था, किन्तु एक पृष्ठ भी न लिख पाए और ग्रंथ अधूरा रह गया।

यह ग्रंथ विवेचनात्मक गद्यशैली में लिखा गया है। प्रश्नोत्तरों द्वारा विषय को बहुत गहराई से स्पष्ट किया गया है। इसका प्रतिपाद्य एक गंभीर विषय है, पर जिस विषय को उठाया है उसके सम्बन्ध में उठने वाली प्रत्येक शंका का समाधान प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया गया है। प्रतिपादन शैली में मनोवैज्ञानिकता एवं मौलिकता पाई जाती है। प्रथम शंका के समाधान में द्वितीय शंका की उत्थानिका निहित रहती है। ग्रंथ को पढ़ते समय पाठक के हृदय में जो प्रश्न उपस्थित होता है उसे हम अगली पंक्ति में लिखा पाते हैं। ग्रंथ पढ़ते समय पाठक को आगे पढ़ने की उत्सुकता बराबर बनी रहती है।

वाक्य रचना संक्षिप्त और विषय प्रतिपादन शैली तार्किक एवं गंभीर है। व्यर्थ का विस्तार उसमें नहीं है, पर विस्तार के संकोच में कोई विषय अस्पष्ट नहीं रहा है। लेखक विषय का यथोचित विवेचन करता हुआ आगे बढ़ने के लिये सर्वत्र ही आतुर रहा है। जहाँ कहीं विषय का विस्तार भी हुआ है वहाँ उत्तरोतर नवीनता आती गई है। वह विषय-विस्तार सांगोपांग विषय-विवेचना की प्रेरणा से ही हुआ है। जिस विषय को उन्होंने छुआ उसमें 'क्यों' का प्रश्नवाचक समाप्त हो गया है। शैली ऐसी अद्भुत है कि एक अपरिचित विषय भी सहज हृदयंगम हो जाता है।

विषय को स्पष्ट करने के लिए समुचित उदाहरणों का समावेश है। कई उदाहरण तो सांगरूपक के समान कई अधिकारों तक चलते हैं। जैसे रोगी और वैद्य का उदाहरण द्वितीय[१], तृतीय[२], चतुर्थ[३] और पंचम[४] अधिकार के आरम्भ में आया है। अपनी बात पाठक के हृदय में उतारने के लिए पर्याप्त आगम प्रमाण, सैंकड़ों तर्क तथा जैनाजैन

---

[१] मो० मा० प्र०, ३१

[२] वही, ६५

[३] वही, १०६

[४] वही, १३७

दर्शनों और ग्रंथों के अनेक कथन व उद्धरण प्रस्तुत किये गए हैं[१]। ऐसा लगता है वे जिस विषय का विवेचन करते हैं उसके सम्बन्ध में असंख्य ऊहापोह उनके मानस में हिलोरें लेने लगते हैं तथा वस्तु की गहराई में

---

[१] मोक्षमार्ग प्रकाशक, सस्ती ग्रन्थमाला दिल्ली :

नाम ग्रंथ या दर्शन	पृष्ठ सख्या	नाम ग्रंथ या दर्शन	पृष्ठ संख्या
वैदिक		२०. गीता	१५०,१८१,३६६
१. ऋग्वेद	२०८	२१. अवतारवाद	१६२
२. यजुर्वेद	२०८,२०९	२२. योगशास्त्र	१६७
३. छान्दोग्योपनिषद्	१३८	२३. योगवशिष्ठ	२०३
४. मुण्डकोपनिषद्	१३८	२४ शृंगारशतक	२०१
५. कठोपनिषद्	१३८	२५. नीतिशतक	२८२
६. विष्णु पुराण	१४८,१६३	२६. दक्षिणामूर्ति सहस्त्रनाम	२०३
७. वायु पुराण	१४८	२७. वैशम्पायन सहस्त्रनाम	२०४
८. मत्स्य पुराण	१४९	२८. महिम्निस्तोत्र (दुर्वासाकृत)	२०४
९. ब्रह्म पुराण	१६३	२९. रुद्रयामल तन्त्र (भवानी सहस्त्रनाम)	२०५
१०. गणेश पुराण	२०५	**भारतीय दर्शन**	
११. प्रभास पुराण	२०६,२०७	३०. वेदान्त	१८१
१२. नगर पुराण (भवावतार रहस्य)	२०७	३१. सांख्य	१८२
१३. काशी खण्ड	२०६	३२. न्याय	१८५
१४. मनुस्मृति	२०८	३३. वैशेषिक	१८८
१५. महाभारत	२१०	३४. मीमांसा	१९२
१६. हनुमन्नाटक	२०४	३५. जैमिनीय	१९३
१७. दशावतार चरित्र	२०६	३६. चार्वाक	१९६
१८. व्यास सूत्र	२०५	**इस्लाम**	
१९. भागवत	१६३,१६४	३७. कुरान शरीफ	१८०

उतरते ही अनुभूति लेखनी में उतरने लगती है। वे विषय को पूरा स्पष्ट करते हैं। प्रसंगानुसार जहाँ विषय को अस्पष्ट छोड़ना पड़ा है वहाँ उल्लेख कर दिया गया है कि उसे आगे विस्तार से स्पष्ट करेंगे[१]।

नाम ग्रंथ या दर्शन	पृष्ठ संख्या	नाम ग्रंथ या दर्शन	पृष्ठ संख्या
बौद्ध ग्रंथ		५२. परमात्मप्रकाश	२६६
३८. अभिधर्म कोष	१६४	५३. श्रावकाचार(योगीन्द्रदेव)	३५०
श्वेताम्बर जैन ग्रंथ		५४. गोम्मटसार जीवकांड	३१६,३८७
३९. आचारांग सूत्र	२१२	५५. गोम्मटसार टीका	३६४
४० भगवती सूत्र	२३७	५६. लब्धिसार	३८५,३८६
४१. उत्तराध्ययन सूत्र	२२३	५७. रत्नकरण्ड श्रावकाचार	३६३
४२. वृहत्कल्प सूत्र	२२३	५८. वृहत्स्वयंभू स्तोत्र	२८०
४३. उपदेशसिद्धान्त रत्नमाला	२६१,२६५, ३१४,४४१	५९. ज्ञानार्णव	४३६
४४. संघपट्ट	२६५	६०. धर्म परीक्षा	३६६
४५. ढूंढारी पंथ	२३२	६१. सूक्ति मुक्तावली	४१३
दिगम्बर जैन ग्रंथ		६२. आत्मानुशासन	२४,८१ २६६
४६. षट् पाहुड़	२६२,२६६-६८ २६३,२७५,४३१	६३. तत्त्वार्थ सूत्र	३१०,३२६ ३३८,३८३
४७. पंचास्तिकाय	३२६	६४. समयसार कलश	२८६,२८७ ३०३,३०४-५
४८. प्रवचनसार	३३,२७२,३४४	६५. पद्मनन्दि पच्चीसी	२६५
४९. रयणसार	२७७	६६. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	३७२
५०. धवल	३८७	६७. पाहुड़ दोहा	२४,२५
५१. जयधवल	३८८		

[१] मो० मा० प्र०, ४४, ११६, २३१, २४६, ३०४, ३४१, ३४६, ३७८, ४७४

आत्मानुशासन भाषाटीका

'आत्मानुशासन' शान्तरस प्रधान अत्यन्त लोकप्रिय रचना है। यह संस्कृत भाषा में छन्दोबद्ध है। इसमें पन्द्रह प्रकार के विभिन्न छन्दों में २६९ पद्य है। यह नीति-शास्त्रीय सुभाषित ग्रंथ है। इसमें विभिन्न विषयों पर मार्मिक विचार प्रस्तुत किये गए है। इसकी तुलना हम भर्तृहरि के वैराग्यशतक और नीतिशतक से कर सकते है। संस्कृत साहित्य में जो स्थान भर्तृहरि के वैराग्यशतक और नीतिशतक का है, जैन संस्कृत साहित्य में वही स्थान आत्मानुशासन का है। इस ग्रन्थ पर पंडित टोडरमल ने भाषाटीका लिखी है, जो प्रकाशित हो चुकी है। इसके आधार पर परवर्ती विद्वानों ने अनेक टीकाएँ लिखी है, जिनमे से एक ब्र० जीवराज गौतमचन्द्र द्वारा मराठी भाषा में लिखी गई है, जो कि पंडित टोडरमल की टीका का अनुवाद मात्र है[1]। एक हिन्दी टीका प० बंशीधर शोलापुर ने भी लिखी है, जो कि जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई से १६ फरवरी सन् १९१६ ई० को प्रकाशित हुई है। सन् १९६१ ई० में एक विस्तृत प्रस्तावना व संस्कृत टीका सहित एक टीका प्रो० ए० एन० उपाध्ये, प्रो० हीरालाल जैन एवं बालचन्द सिद्धान्तशास्त्री के सम्पादकत्व में जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर से प्रकाशित हुई है। उक्त सभी उत्तरकालीन टीकाएँ पडित टोडरमल की टीका से प्रभावित हैं। आत्मानुशासन की एक टीका अंग्रेजी में भी प्रकाशित हुई है, जिसके लेखक है श्री जे० एल० जैनी[2]।

इस टीका का नाम 'आत्मानुशासन भाषाटीका' है। पंडित टोडरमल ने जितने भी ग्रन्थों की टीकाएँ लिखी हैं, उन सभी ग्रन्थों के नाम के आगे 'भाषाटीका' लगा कर ही उसका नाम रखा है। एक सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका का अवश्य अलग नाम दिया है, किन्तु उसके अंतर्गत जिन चार ग्रन्थों की टीकाएँ लिखी हैं, उनके अलग-अलग नाम इसी प्रकार दिए हैं – जैसे गोम्मटसार जीवकाण्ड भाषाटीका,

---

[1] आत्मानुशासन शोलापुर, सन् १९६१ ई०, प्रस्तावना, ३३

[2] प्र० वी० काश्मीरीलाल जैन सब्जीमंडी, दिल्ली, सन् १९५९ ई०

गोम्मटसार कर्मकाण्ड भाषाटीका आदि। अतः इस टीका का नाम भी 'आत्मानुशासन भाषाटीका' ही उन्हें अभीष्ट था। परवर्ती सभी विद्वानों ने इसी नाम का प्रयोग किया है। समाज में भी यही नाम प्रचलित है। हस्तलिखित प्राचीन प्रतियों में भी 'भाषाटीका' शब्द का ही प्रयोग हुआ है[१]।

आत्मानुशासन ग्रन्थ के कर्त्ता आचार्य गुणभद्र (नवीं शताब्दी) हैं[२] जो महापुराण के कर्त्ता भगवज्जिनसेनाचार्य के शिष्य हैं तथा जिन्होंने अपने गुरु के आकस्मिक निधन के पश्चात् अधूरे महापुराण को पूर्ण किया। गुणभद्राचार्य ने इस वैराग्योत्पादक ग्रन्थ की रचना अपने विषय-विमोहित गुरुभाई लोकसेन मुनि के संबोधनार्थ की थी, जैसा कि इसकी संस्कृत टीका[३] और हिन्दी टीका[४] के आरम्भ में क्रमशः आचार्य प्रभाचन्द्र और पंडित टोडरमल ने लिखा है।

---

[१] श्री दि० जैन बड़ा मंदिर, जयपुर एवं श्री दि० जैन मदिर आदर्शनगर, जयपुर में प्राप्त प्रतियाँ।

[२] (क) जैनेन्द्र सिद्धान्त शब्दकोष, २५५

(ख) सोहे जिनशासन मे आत्मानुशासन श्रुत,
जाकी दुःखहारी सुखकारी सांची शासना।
जाको गुणभद्र करता, गुणभद्र जाको जानि,
भव्य गुणधारी भव्य करत उपासना।।
—आ० भा० टी०, मंगलाचरण

[३] "बृहद्धर्मभ्रातुर्लोकसेनस्य विषयव्यामुग्धबुद्धेः सबोधनव्याजेनसर्वसत्त्वोपकारक सन्मार्गमुपदर्शयितुकामो गुणभद्रदेवो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिक फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वाणो लक्ष्मीत्याद्याह"।
— आत्मानुशासन, १

[४] "अथ श्री गुणभद्र नामा मुनि अपना धर्मभाई लोकसेन मुनि विषय-विमोहित भया ताका संबोधन तिस करि सर्व जीवनिकौं उपकारी जो भला मार्ग ताका उपदेश देने का अभिलापी होत संता निर्विघ्न शास्त्र की सम्पूर्णता आदि अनेक फलकी वांछा करता हुआ अपने इष्टदेव को नमस्कार करता संता प्रथम ही लक्ष्मी इत्यादि सूत्र कहे हैं।" — आ० भा० टी०, १

इस ग्रन्थ पर आचार्य प्रभाचन्द्र ने तेरहवीं शती में एक संस्कृत टीका लिखी जो सन् १९६१ ई० में जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर से प्रकाशित हुई है। इसकी भाषाटीका लिखते समय पंडित टोडरमल के सामने उक्त संस्कृत टीका थी, पर उन्होंने उसका विशेष सहारा नहीं लिया है। जो स्पष्टता पंडित टोडरमल की भाषाटीका में है वह उक्त संस्कृत टीका में नहीं है। भाषाटीका की एक विशेषता यह है कि उसमें अर्थ को और अधिक स्पष्ट करने के लिए जहाँ आवश्यक समझा गया है वहाँ भावार्थ भी दिया है। दोनों के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :–

पापाद् दुःख धर्मात्सुखमिति सर्वजनसुप्रसिद्धमिदम्।
तस्माद्विहाय पापं चरतु सुखार्थी सदा धर्मम् ।।८।।

संस्कृत टीका – एवंविधः शिष्यो गुरूपदेशात्सुखार्थितया धर्मोपार्जनार्थमेव प्रवर्तताम्। यतः –पापादित्यादि। इति एवम्। चरतु अनुतिष्ठतु ।।८।।[1]

भाषा टीका – पाप तें दुःख हो है। धर्म तें सुख हो है। ऐसें यहु वचन सर्व जननि विषै भली प्रकार प्रसिद्ध है। सर्व ही ऐसै मानै है वा कहै हैं। तातैं सुख का अर्थी है, जाकौ सुख चाहिए सो पाप को छोड़ि सदा काल धर्म कूँ आचरौ।

भावार्थ – पाप का फल दुःख अर धर्म का फल सुख, ऐसे हम ही नाही कहै हैं, सर्व ही कहै हैं। तातें जो सुख चाहिये है तो पाप को छोड़ि धर्म कार्य करो।[2]

अंधादयं महानन्धो विषयान्धीकृतेक्षणः।
चक्षुषान्धो न जानाति विषयान्धो न केनचित् ।।३५।।

---

[1] आत्मानुशासन शोलापुर, ८

[2] आ० भा० टी०, ९

संस्कृत टीका – विषयव्यामुग्धस्य पुत्रवधाद्यकृत्यप्रवृत्तौ कारणमाह– अन्धादित्यादि । विषयान्धीकृतेक्षणः अनन्धानि अन्धानि कृतानि अन्धीकृतानि, विषयैः अन्धीकृतानि ईक्षणानि इन्द्रियाणि यस्य ।।३५।।[1]

भाषा टीका – विषयनि करि अन्ध किये हैं – सम्यग्ज्ञान रूपी नेत्र जाका ऐसा यहु जीव है सो अन्ध तें भी महाअंध है । इहाँ हेतु कहैं हैं । अंध है सो तौ नेत्रनि ही करि नाहीं जानै है अर विषय करि अंध है सो काहू करि भी न जानै है ।

भावार्थ – अंध पुरुष कूँ तो नेत्रनि ही करि नाहीं सूझे है । मन करि विचारना, काना करि सुनना इत्यादि ज्ञान तौ वाकै पाइए है । बहुरि जो विषय-वासना करि अंध भया है ताकै काहू द्वारै ज्ञान न होइ सके है । यदि नेत्रनि विषैं दुःख हो तौ नेत्रनि करि न दीसै, तौ मन करि विचारै, भासै, सीख देने वाला सुनावै इत्यादि ज्ञान होने के कारन बने परन्तु विषय-वासना करि ऐसा अंध होइ काहू को गिने नाहीं । तातैं अध होना निषिद्ध है । तिस तैं भी विषयनि करि अंध होना अति निषिद्ध जानना ।[2]

शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न संपदः ।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः ।।४५।।

संस्कृत टीका – ननु निरवद्यवृत्त्या अर्थोपार्जनं कृत्वा संपदां वृद्धिं विधाय सुखानुभवनं करिष्यामीति वदन्तं प्रत्याह – शुद्धैरित्यादि । शुद्धैः निरवद्यैः । स्वच्छाम्बुभिः निर्मलजलैः । सिन्धवः नद्यः ।।४५।।[3]

---

[1] आत्मानुशासन शोलापुर, ३६

[2] आ० भा० टी०, ३७

[3] आत्मानुशासन शोलापुर, ४५

भाषा टीका – अहो प्राणी ! न्याय के आचरण करि उपार्ज्या जो धन ताहू करि उत्तम पुरुषनि हू के सुख संपदा नाहीं बढ़ै है। जैसे निर्मल जल करि कदाचित् भी समुद्र नाहीं पूर्ण होवे है।

भावार्थ – अयोग्य आचरण तो सर्वथा त्याज्य ही है। अर योग्य आचरण करि उपार्ज्या जो धन ताहू करि विशेष संपदा की वृद्धि नाहीं। जैसे कदाचित् हू निर्मल जल करि समुद्र नाही पूर्ण होय है। तातैं न्यायोपार्जित धन हू की तृष्णा तजि सर्वथा निःपरिग्रही होहु।[1]

शरीरमपि पुष्णन्ति सेवन्ते विषयानपि।
नास्त्यहो दुष्करं नृणां विषाद्वान्छन्ति जीवितुम् ॥१९६॥

संस्कृत टीका – एवंविधं शरीरं पोषयित्वा किं कुर्वन्तीत्याह – शरीरमित्यादि। पुष्णन्ति पोषयन्ति ॥१९६॥[2]

भाषा टीका – अहो लोको ! मूर्ख जीव कहा कहा न करै। शरीर कूँ तो पोषै, अर विषयनि कूँ सेवै। मूर्खनि कूँ कछू विवेक नाही, विष तै जिया चाहैं। अविवेकीनि कूँ पाप का भय नाही, अर विचार नाही। बिनां विचारे न करने योग्य होय सो कार्य करै।

भावार्थ – जो पण्डित विवेकी है ते शरीर सूँ अधिक प्रेम न करैं। नाना प्रकार की सामग्री करि याहि न पोषैं, अर विषयनि कूँ न सेवै। अर जे मूढ़ जन हैं ते शरीर कूँ अधिक पोषैं, अर विषयनि कूँ सेवैं, न करिवै योग्य कार्य की संका न करै। जो विषयनि कूँ सेवें हैं ते विष खाय जीया चाहे हैं।[3]

---

[1] आ० भा० टी०, ४८

[2] आत्मानुशासन सोलापुर, १८७–८८

[3] आ० भा० टी०, २२०

शिरःस्थं भारमुत्तार्य स्कन्धे कृत्वा सुयत्नतः ।
शरीरस्थेन भारेण अज्ञानी मन्यते सुखम् ॥२०६॥

संस्कृत टीका – प्रेक्षावतामुद्वेगः कर्तुमनुचित इत्याह ॥२०६॥[1]

भाषा टीका – जैसें कोऊ शिर का बोझ उतारि कांधें धरि सुख मानै है, तैसें जगत के जीव रोग का भार उतारि शरीर के भार करि सुख मानै हैं।

भावार्थ – जगत के जीव रोग गए, शरीर रहे सुख मानै है। अर ज्ञानी जीव शरीर का सम्बन्ध ही रोग जानै हैं। तातैं शरीर जाय तो विषाद नाही। जैसा शिर का भार तैसा ही कांधे का भार। जैसें रोग का दुख तैसा ही देह धारण का दुख है।[2]

उक्त संस्कृत टीका की अस्पष्टता एवं भाषाटीका के अभाव की पूर्ति पंडित टोडरमल की भाषाटीका से हुई। इस टीका में पंडित टोडरमल की अगाध विद्वत्ता की स्पष्ट झलक देखने को मिलती है।

आत्मानुशासन भाषाटीका लिखने की प्रेरणा उन्हें अपने अन्तर से ही प्राप्त हुई है। अन्तःप्रेरणा का प्रेरक मिथ्या भ्रम में फँसे हुए जीवों के उपकार की भावना रही है। इस टीका को देशभाषा में लिखने का उद्देश्य मंदबुद्धि जीवों को भी इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का अर्थ समझाना रहा है, जैसा कि उन्होंने मंगलाचरण के छन्द में दिया है[3]।

---

[1] आत्मानुशासन शोलापुर, १६४

[2] आ० भा० टी०, २२७

[3] ऐसे सार शास्त्रनकौ प्रकाशे अर्थ जीवन कौं।
बनै उपकार नाशै मिथ्याभ्रम वासना ॥
तातैं देशभाषा करि अर्थ को प्रकाशकरै।
जातैं मंद बुद्धि हू के होवै अर्थ भासना ॥१॥
– आ० भा० टी०, १

आत्मानुशासन भाषाटीका सम्पूर्ण प्राप्त है, पर उसके अन्त में ग्रंथ के अन्त में लिखी जाने वाली टीकाकार की प्रशस्ति उपलब्ध नहीं है। हो सकता है प्रशस्ति लिखी ही न गई हो। अतः इस ग्रंथ में तो रचनाकाल सम्बन्धी कोई उल्लेख है नहीं, अन्यत्र भी कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है। ब्र० रायमल द्वारा विक्रम संवत् १८२१ में लिखी गई इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका में इस रचना की चर्चा नहीं है, जब कि अन्य रचनाओं के विस्तार से उल्लेख उक्त पत्रिका में हैं। अतः प्रतीत होता है कि यह रचना कम से कम उस समय तक पूर्ण नहीं हुई थी।

हो सकता है यह रचना वि० स० १८१८ में सम्यग्ज्ञानचंद्रिका के समाप्त होने के बाद आरंभ कर दी हो। लगता है इसका आरंभ और मोक्षमार्ग प्रकाशक का आरंभ करीब-करीब साथ-साथ हुआ होगा। मोक्षमार्ग प्रकाशक के प्रथम अधिकार में वर्णित वक्ता-श्रोता के लक्षणों में इसके आरंभिक श्लोकों के उद्धरण ही नहीं दिये गए, वरन् उनके आधार पर विस्तृत विवेचन भी किया गया है। यह भी प्रतीत होता है कि मोक्षमार्ग प्रकाशक के छठवें अधिकार तक आते-आते यह टीका समाप्त हो गई होगी क्योंकि छठवें अधिकार में वर्णित साधुओं के शिथिलाचार पर इस ग्रन्थ में वर्णित शिथिलाचार की स्पष्ट छाप है। वि० संवत् १८२४ के पूर्व तो इसकी समाप्ति माननी ही होगी क्योंकि उसके बाद तो पंडित टोडरमल का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता।

यदि इस टीका का उपरोक्त रचनाकाल सही है तो निश्चित रूप से इसकी रचना जयपुर में ही हुई होगी क्योंकि उक्त काल में पंडित टोडरमलजी की उपस्थिति जयपुर में ही सिद्ध होती है। उनके अन्यत्र जाने का कोई उल्लेख नहीं है।

आत्मानुशासन सुभाषित साहित्य है, अतः इसमें किसी एक विषय का क्रमबद्ध वर्णन न होकर बहुत से उपयोगी विषयों का वर्णन है। इसके वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध में डॉ० हीरालाल जैन और आ० ने० उपाध्ये लिखते हैं :-

"इसमें सिद्धान्त भी हैं और आचार भी । काव्य के गुण भी हैं, और दृष्टान्तों द्वारा सुगम्य सूक्तियाँ भी । कोई विषय इतनी दूर तक नहीं ताना गया कि वह पाठक को थका दे । थोड़े में बहुत कुछ उपदेश दे दिया गया है, और वह भी ऐसी सुन्दर शैली में कि विषय एकदम हृदयंगम हो जाय और उसके वाचक शब्द भी स्मृति पर चिपक जावें । मुनियों और गृहस्थों, स्त्रियों और पुरुषों, बाल और वृद्ध, साहित्यकों और साधारण पाठकों को यह रचना समान रूप से रुचिकर और हितकारी होने की क्षमता रखती है । यही कारण है कि जैन समाज में शताब्दियों से इसका सुप्रचार रहा है । इस पर अधिक टीका टिप्पणी नही लिखी गई, इसका कारण उसकी सरलता है । उसमें जटिलता नही है । भारतीय सुभाषित साहित्य में आत्मानुशासन गणनीय है – इस विशेषता के साथ कि उसमें शृंगार-रस का विकार नहीं है[1] ।

आत्मानुशासन भाषाटीका का आरंभ मंगलाचरण स्वरूप काव्य से हुआ है, जिसमें देव-शास्त्र-गुरु के मंगल स्मरण के साथ-साथ आत्मानुशासन ग्रंथ और उसके ग्रंथकर्त्ता का परिचयात्मक स्मरण किया गया है । पश्चात् ग्रथ निर्माण का हेतु बताया गया है । तदनन्तर मूलग्रंथ की भाषाटीका आरंभ होती है ।

संसार के समस्त प्राणी सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं, अतः उक्त प्रयोजन की सिद्धि के लिए इस ग्रंथ में आत्मस्वरूप की शिक्षा दी गई है । साथ ही साथ सावधान भी किया है कि कडुवी औषधि के समान यह उपदेश सुनने में कुछ कटु लग सकता है, परन्तु परिणाम हितकर ही होगा ।

इसका विषय अध्यायों में विभक्त नहीं है और न ही ऐसा करना संभव भी है, क्योंकि इसमें अनेक विषय जहाँ-तहाँ आ गये हैं । इसमें सिद्धान्त, न्याय, नीति, वैराग्य आदि की चर्चाएँ यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरी पड़ी हैं । इसमें सम्यग्दर्शन का स्वरूप एवं उसके भेद, सुख-दुःख

[1] आत्मानुशासन शोलापुर, सम्पादकीय, vii

का विवेक, दैव और पुरुषार्थ, जीवन और मरण, पुण्य-पाप, शत्रु-मित्र की पहिचान, दुर्बुद्धि और सुबुद्धि में अन्तर, तृष्णा की स्थिति, कुटुम्बीजनों का स्वार्थीपन, संसार की नश्वरता, धनादि की निरर्थकता, जीवन की क्षणभंगुरता, मनुष्य पर्याय की दुर्लभता, लक्ष्मी की चंचलता, स्त्रीराग की निन्दा, सत्संगति की महिमा, ज्ञानाराधना की महत्ता, मन की ममता व उसका नियंत्रण, कषाय विजय की आवश्यकता, आत्मा और उसकी कर्मबद्ध अवस्था, मोह की महिमा, कामी की दुरवस्था, विषय-सेवन की निरर्थकता, सच्चे तपस्वी का स्वरूप, साधुओं की असाधुता, सत्साधु की प्रशंसा और असत्साधु की गर्हा, याचकनिन्दा, अयाचक प्रशंसा, बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा तथा प्रवृत्ति और निवृत्ति का स्वरूप आदि विषयों का वैराग्यरसोत्पादक तर्कसंगत आध्यात्मिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

अन्त में आत्मानुशासन का फल बताते हुए ग्रंथ समाप्त हुआ है।

आत्मानुशासन भाषाटीका विवेचनात्मक गद्यशैली में लिखी गई है। भाषा सरल व सुबोध है। आवश्यक विस्तार कही नही है। संक्षेप मे अपनी बात कह कर टीकाकार आगे बढ़ते चले गए हैं। आगे बढने की धुन में प्रभाचन्द्र की सस्कृत टीका के समान विषय अस्पष्ट कही भी नही रहा है। जहाँ आवश्यकता समझी गई है, विषय विस्तार से भी स्पष्ट किया गया है। प्रत्येक श्लोक के पूर्व में उत्थानिका दी गई है। श्लोक के बाद पहले मूल श्लोक का सामान्यार्थ दिया गया है, बाद में भावार्थ लिख कर उसके अभिप्राय को स्पष्ट किया गया है। भावार्थ स्पष्टता के अनुरोध से ही लिखे गए हैं। जहाँ विषय को स्पष्ट देखा वहाँ भावार्थ नही लिखा है। सामान्यार्थ लिख कर ही आगे बढ़ गए है। उदाहरण के लिए श्लोक नं० १,१३,७६,८० एवं ८७ देखे जा सकते हैं। आवश्यकतानुसार अन्य ग्रंथों के उदाहरण देकर भी विषय को स्पष्ट किया गया है। श्लोक नं० १११ एवं १४१ में विषय की पुष्टि के लिए 'उक्तंच' लिख कर ग्रंथान्तरों के उद्धरण दिये गए हैं।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषाटीका

'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' आचार्य अमृतचंद्र[१] (११वीं शती) का अत्यन्त लोकप्रिय आध्यात्मिक ग्रंथ है, जिसमें श्रावकों के आचार का वर्णन है। यह ग्रंथ समस्त जैन परीक्षा बोर्डों के पाठ्यक्रम में निर्धारित है और नियमित चलने वाले सभी जैन विद्यालयों में पढ़ाया जाता है। इस ग्रंथ पर पंडित टोडरमल ने सरल, सुबोध भाषा में भाषाटीका लिखी है जो कि उनके असमय में कालकलवित हो जाने से पूर्ण नहीं हो सकी। उसे पं० दौलतराम कासलीवाल ने पूर्ण किया[२]। यह टीका

---

[१] आचार्य अमृतचंद्र परम आध्यात्मिक संत, रससिद्ध कवि एवं सफल टीकाकार थे। उन्होने कुंदकुंदाचार्य के प्राकृत भाषा मे लिखे गए समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय नामक महान् ग्रन्थों पर संस्कृत भाषा में अध्यात्मरस से ओतप्रोत बेजोड़ टीकाएँ लिखी हैं। समयसार टीका (आत्मख्याति) के बीच-बीच में लिखे २७८ श्लोक जिन्हें 'समयसार कलश' कहा जाता है, अपने आप में अभूतपूर्व है। उन्होंने आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी के महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) को आधार बना कर 'तत्त्वार्थसार' नामक एक ग्रथ भी लिखा है। दिगम्बर आचार्य-परम्परा में उन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

[२] अमृतचद्र मुनीन्द्रकृत, ग्रंथ श्रावकाचार।
अध्यातम रूपी महा, आर्याछन्द जु सार ॥१॥
पुरुषारथ की सिद्धि को, जामैं परम उपाय।
जाहि सुनत भव भ्रम मिटै, आतमतत्त्व लखाय ॥२॥
भाषाटीका ता उपरि, कीनी टोडरमल्ल।
मुनिवत वृत्ति ताकी रही, वाके मांहि अचल्ल ॥३॥
वे तो परभव कूं गये, जयपुर नगर मझारि।
सब साधर्मिन तब कियो, मन में यहै विचारि ॥४॥
ग्रंथ महा उपदेशमय, परम ध्यान को मूल।
टीका पूरन होय तो, मिटै जीव की भूल ॥५॥

प्रकाशित हो चुकी है[१] तथा इसका अनुवाद खड़ी बोली में दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ से प्रकाशित हुआ है। पंडितजी की भाषाटीका के आधार पर परवर्ती विद्वानों ने अनेक टीकाएँ लिखी हैं जिनमें भूधर मिश्र[२], नाथूराम प्रेमी[३], उग्रसेन जैन[४], बाबू सूरजभान वकील[५], पं० मक्खनलालजी शास्त्री[६] की प्रमुख हैं। उक्त टीकाकारों में से बहुतों ने यह बात भूमिका में स्वीकार भी की है। बाबू उग्रसेन जैन ने तो यहाँ तक लिखा है कि "पंडित टोडरमलजी की टीका को मैंने रोहतक जैन मंदिर सराय मुहल्ला की शास्त्र सभा में नवम्बर १६२६ से फरवरी १६३० तक पढ़ कर सुनाया। उस समय इस ग्रंथ

साधर्मिन में मुख्य है, रतनचंद दीवान।
पिरथीस्यंघ नरेश के, श्रद्धावान सुथान ।।६।।

तिनिकै अति रुचि धर्मस्यौं, साधर्मिनि सौं प्रीति।
देव शास्त्र गुरु की सदा, उर में महा प्रतीति ।।७।।

आनंद सुत तिनकौ सखा, नाम जु दौलतराम।
भृत्य भूप कौ कुल वणिक, जाकौ बसवै धाम ।।८।।

कछुयक गुरु परतापतैं, कीनौं ग्रंथ अभ्यास।
लगन लगी जिनधर्म सू, जिनदासनि कौ दास ।।९।।

तासूं रतन दीवान नें, कही प्रीति धरि एह।
करिए टीका पूरणा, उर धरि धर्म सनेह ।।१०।।

तब टीका पूरन करी, भाषा रूप निधान।
कुशल होय बहु संघ को, लहे जीव निज ज्ञान ।।११।।

[१] प्रकाशक : मुंशी मोतीलाल शाह, जयपुर

[२] वि० सं० १८७१ में शाहगंज, आगरा में लिखित

[३] प्रकाशक : श्रीमद्राजचन्द्र शास्त्रमाला, अगास

[४] प्रकाशक : सब-कमेटी, दि० जैन मंदिर सराय मुहल्ला, रोहतक

[५] प्रकाशक : बाबू सूरजभान वकील

[६] प्रकाशक : भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता

को पढ़ कर जैन सिद्धान्त के रहस्य का बड़ा भारी प्रभाव मेरे तथा सभासदों के चित्त पर पड़ा। जिस दिन सभा में यह ग्रंथ समाप्त हुआ तो श्रोतागण को नियम प्रतिज्ञा दिलाते हुए मैंने स्वयं यह नियम किया कि मैं इस ग्रंथ की टीका को आजकल की सरल और साधारण भाषा में रूपान्तर करने का प्रयत्न करूँगा[1]।"

उत्तरवर्ती टीकाकारों ने पंडित टोडरमल की टीका का खड़ी बोली में अनुवाद मात्र कर दिया है। वे उसमें कुछ विशेषता नहीं ला पाये हैं। नये प्रमेय को तो किसी ने उठाया ही नहीं। जहाँ ऐसा प्रयत्न किया है, विषय और अस्पष्ट हो गया है।

इस टीका का नाम 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय भाषाटीका' है, जैसा कि इस अपूर्ण टीका को पूर्ण करने वाले पंडित दौलतराम कासलीवाल ने लिखा है :-"भाषाटीका ता उपरि, कीनी टोडरमल्ल[2]।।" यह टीका पंडित टोडरमल ने मूल ग्रंथ के आधार पर ही लिखी है। इस टीका से पहले की और कोई टीका उपलब्ध नहीं है और न ही ऐसे उल्लेख प्राप्त हैं कि इसके पूर्व कोई टीका बनी थी।

इस टीका ग्रंथ के अपूर्ण रह जाने से ग्रंथ के अन्त में लिखी जाने वाली प्रशस्ति पंडित टोडरमल द्वारा तो लिखी नहीं जा सकी। अतः अन्तःसाक्ष्य के आधार पर तो इसके प्रेरणास्रोत का पता चलना संभव नहीं है, पर ब्र० रायमल ने लिखा है कि पंडित टोडरमल का विचार पाँच-सात ग्रंथों की टीका लिखने का और है[3]। इससे यह प्रतीत होता है कि इस टीका का निर्माण-कार्य उनकी अन्तःप्रेरणा का ही परिणाम था, किन्तु अधूरी टीका को पूर्ण करने की प्रेरणा पंडित दौलतराम कासलीवाल को दीवान रतनचन्दजी ने अवश्य दी, जैसा कि ग्रंथ की अन्तिम प्रशस्ति में पंडित दौलतराम ने स्पष्ट लिखा है :-

---

[1] पुरुषार्थसिद्धयुपाय, दि० जैन मंदिर, सराय मुहल्ला, रोहतक, प्रस्तावना, १६

[2] पु० भा० टी० प्र०, १२६

[3] इ० वि० पत्रिका, परिशिष्ट १

"तासूं रतन दीवान नें, कही प्रीति धरि एह।
करिए टीका पूरण, उर धरि धर्म सनेह।।"

इस भाषाटीका के निर्माण का एकमात्र उद्देश्य अज्ञानी जीवों की आत्मा के सम्बन्ध में हुई अनादिकालीन भूल मिटाना और आत्मज्ञान प्राप्ति का सहज साधन उपलब्ध कराना है, जैसा कि ग्रंथ की प्रशस्ति से स्पष्ट है[1]।

पंडित दौलतराम कासलीवाल ने यह टीका मार्गशीर्ष शुक्ला २ वि० सं० १८२७ को समाप्त की[2]। इसका आरम्भ निश्चित रूप से वि० सं० १८२४ के पहिले हो चुका था, क्योंकि इसे आरम्भ पंडित टोडरमल ने किया और उनकी उपस्थिति वि० सं० १८२४ के बाद सिद्ध नहीं होती। वि० सं० १८२१ में हुए इन्द्रध्वज विधान महोत्सव की पत्रिका में ब्र० रायमल ने पण्डित टोडरमल द्वारा रचित गोम्मटसार जीवकाण्ड भाषाटीका, गोम्मटसार कर्मकाण्ड भाषाटीका, लब्धिसार-क्षपणासार भाषाटीका, त्रिलोकसार भाषाटीका का और मोक्षमार्ग प्रकाशक का तो उल्लेख किया, पर इसका उल्लेख नहीं किया। अतः यह भाषाटीका वि० सं० १८२१ के बाद आरम्भ हुई प्रतीत होती है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक का सातवाँ अधिकार समाप्त करने के बाद तत्काल इस टीका का आरम्भ हो गया लगता है, क्योंकि मोक्षमार्ग प्रकाशक के पूरे सातवें अधिकार को पंडित टोडरमल ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के मंगलाचरण में चार लाइनों में लिपिबद्ध कर दिया है। मंगलाचरण के रूप में उक्त छन्द की कोई उपयोगिता नहीं लगती, किन्तु सातवाँ अधिकार लिखने के उपरान्त उनके मस्तिष्क में वह विषय छा रहा था। वे उसे इस टीका के आरम्भ में रखने का

---

[1] पु० भा० टी० प्रशस्ति, १२६

[2] अट्ठारह सौ ऊपरै संवत सत्ताईस।
मास मंगसिर ऋतु शिशिर सुदि दोयज रजनीश।।
– पु० भा० टी० प्रशस्ति, १२६

लोभ संवरण नहीं कर सके[1]। मोक्षमार्ग प्रकाशक की रचना और पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषाटीका की रचना साथ-साथ चल रही थी। मोक्षमार्ग प्रकाशक के नौवें अधिकार में सम्यग्दर्शन के विश्लेषण पर पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की व्याख्याएँ छाई हुई हैं। दुर्भाग्यवश दोनों ही ग्रंथ अपूर्ण रह गए।

पंडित दौलतराम ने पंडितजी का अवसान जयपुर में बताया है व उनकी अधूरी पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषाटीका को दीवान रतनचन्दजी की प्रेरणा से जयपुर में ही पूर्ण करने की चर्चा की है। अतः इस ग्रंथ की रचना जयपुर में ही हुई है।

ग्रन्थ का आरम्भ मंगलाचरण से हुआ है। मंगलाचरण में देव-शास्त्र-गुरु को स्मरण कर निश्चय और व्यवहार का स्वरूप न जानने वाले अज्ञानियों एवं निश्चय-व्यवहार का स्वरूप जानने वाले ज्ञानियों की चर्चा एक छन्द में की गई है। तदुपरान्त मूल ग्रन्थ की भाषाटीका आरम्भ होती है, जिसका विभाजन इस प्रकार है :-

(१) उत्थानिका
(२) सम्यग्दर्शन अधिकार

---

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अधिकार में निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी उभयाभासी एवं सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टियों का विस्तृत वर्णन है एवं निश्चय-व्यवहार के सही स्वरूप को समझ कर आत्मा के शुद्ध स्वरूप को पहिचानने की प्रेरणा दी गई है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषाटीका में मंगलाचरण का छन्द निम्नानुसार है :-

कोऊ नय निश्चय से आत्मा को शुद्ध मान,
भये हैं सुछन्द न पिछाने निज शुद्धता।
कोऊ व्यवहार दान, शील, तप, भाव कौं ही,
आतम को हित जान, छांड़त न मुद्धता।
कोऊ व्यवहार नय निश्चय के मारग कौ,
भिन्न-भिन्न पहिचान करै निज उद्धता।
जब जाने निश्चय के भेद व्यवहार सब,
कारण ह्वै उपचार माने तब बुद्धता ॥५॥

(३) सम्यग्ज्ञान अधिकार
(४) सम्यक्चारित्र अधिकार (देशचारित्र)
(५) सल्लेखना अधिकार
(६) अतिचार अधिकार
(७) सकलचारित्र अधिकार

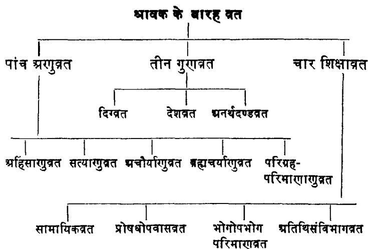
उत्थानिका में मंगलाचरणोपरान्त निश्चय-व्यवहार के विषय को लिया गया है। पंडित टोडरमल ने भाषाटीका में उक्त विषय को विस्तार से स्पष्ट किया है। जो बात मूल ग्रन्थ में नहीं है, उसे अन्य ग्रन्थों के आधार एवं युक्तियों से स्पष्ट किया गया है। तत्पश्चात् वक्ता कैसा होना चाहिए, किस योग्यता का श्रोता उपदेश का पात्र है, उपदेश का क्रम क्या है, आदि बातों की चर्चा की गई है। तदनन्तर ग्रन्थ का आरम्भ होता है।

सम्यग्दर्शन अधिकार में सम्यग्दर्शन का स्वरूप एवं उसके आठ अंगों का वर्णन है। भाषाटीका में सम्यग्दर्शन की परिभाषा के अंतर्गत आने वाले सात तत्त्वों का विस्तृत वर्णन है।

सम्यग्ज्ञान अधिकार में सम्यग्ज्ञान का स्वरूप बताते हुए मूल में न होते हुए भी भाषाटीकाकार ने प्रमाण, प्रमाण के भेद – प्रत्यक्ष, परोक्ष (स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम); नय एवं नय के भेदों को स्पष्ट किया है। इसके अनन्तर सम्यग्ज्ञान सम्बन्धी कारणकार्य-विधान एवं सम्यग्ज्ञान के अंगों पर विचार किया गया है।

सम्यक्चारित्र अधिकार में देशचारित्र (श्रावक के बारह व्रत) का विस्तृत वर्णन है। अहिंसाणुव्रत के संदर्भ में अहिंसा का बहुत सूक्ष्म, गंभीर और विस्तृत विवेचन किया गया है। अहिंसा और हिंसा सम्बन्धी वर्णन में उन्हें अनेक पक्षों से देखा गया है और उनके सम्बन्ध में उठने वाले विविध पक्षों और प्रश्नों का तर्कसंगत समाधान प्रस्तुत किया गया है। अहिंसा की परिभाषा भी अन्तरंग पक्ष को लक्ष्य में लेकर की गई है एवं असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह को

हिंसा के रूप में सिद्ध किया गया है। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह को अहिंसा के रूपान्तर के रूप में देखा गया है। अहिंसा के स्वरूप पर विचार करते हुए रात्रिभोजन, अनछना पानी काम में लेने आदि हिंसामूलक क्रियाओं पर तर्कसंगत प्रकाश डाला गया है। इस अधिकार की संक्षिप्त रूपरेखा निम्नलिखित चार्ट द्वारा समझी जा सकती है :–



सल्लेखना अधिकार में समाधिमरण का वर्णन है। सल्लेखना समाधिमरण को कहते हैं। जब कोई भी व्रती जीव अपना मरण समय निकट जान लेता है तब वह शान्ति से आत्मध्यानपूर्वक बिना आकुलता के मरण स्वीकार कर लेता है, यही समाधिमरण है। इस अधिकार में समाधिमरण की विधि विस्तार से बताई गई है, जिसमें कषायों की शांति पर विशेष बल दिया गया है। कुछ लोग सल्लेखना को आत्मघात के रूप में देखते हैं। इसमें सल्लेखना और आत्मघात का भेद स्पष्ट किया गया है तथा सल्लेखना की आवश्यकता और उपयोगिता पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

अतिचार अधिकार में सम्यग्दर्शन, श्रावक के बारह व्रतों एवं सल्लेखना के अतिचारों का वर्णन है। प्रत्येक के पाँच-पाँच अतिचार बताये गए हैं। इस प्रकार कुल ७० अतिचारों का वर्णन है।

सकलचारित्र अधिकार में मुनिधर्म के स्वरूप का वर्णन है। इसमें मुनियों के षट् आवश्यक, बारह तप, तीन गुप्ति, पाँच समिति, दश धर्म, बारह भावना और बाईस परीषहों का विस्तृत वर्णन है। 'रत्नत्रय ही मुक्ति का कारण है और रत्नत्रय मुक्ति का ही कारण है' – इस तथ्य को भी सूक्ष्मता से स्पष्ट किया है।

अन्त में प्रशस्तिपूर्वक ग्रन्थ समाप्त हुआ है।

यह भाषाटीका विवेचनात्मक गद्यशैली में लिखी गई है। यथास्थान विषय की स्पष्टता के अनुरोध से विषय विस्तार किया गया है, किन्तु अनावश्यक विस्तार कहीं भी देखने को नहीं मिलता। मूल में आए पारिभाषिक शब्दों की परिभाषाएँ दी गई हैं तथा उनके भेद-प्रभेदों को विस्तार से समझाया गया है। जैसे मूल श्लोक में निश्चय और व्यवहार शब्द आये। उन्हें स्पष्ट करने के लिए निश्चय-व्यवहार की परिभाषा, उनके भेद एवं कथनपद्धति को स्पष्ट किया गया है तथा विषय के बीच उठने वाले प्रश्नों को स्वयं उठा-उठाकर समाधान किया गया है। मूल पाठ का समुचित अर्थ लिख कर सर्वत्र भावार्थ में विषय को विशेष रूप से स्पष्ट किया गया है। प्रत्येक मूल श्लोक की उत्थानिका दी गई है तथा आवश्यकतानुसार सूक्ष्म विषय को उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट किया गया है। जैसे :–

"यहाँ प्रश्न उपजे – जो जीव के भाव महा सूक्ष्म रूप तिनकी खबरि जड़ पुद्गल कौं कैसे होय। बिना खबर कैसे पुण्य-पाप रूप होय परनमें हैं। तिसका उत्तर – जैसे मंत्रसाधक पुरुष बैठा हुआ छानै मंत्र को जपै है, उस मंत्र के निमित्त करि इसके बिना ही कीए किसी को पीड़ा उपजै है, कोऊ प्राणान्त होय है, किसी का भला होय है, कोऊ विडम्बना रूप परनमें है, ऐसी उस मंत्र में शक्ति है जिसका निमित्त पाइ चेतन-अचेतन पदार्थ आप ही अनेक अवस्था कौं धरै हैं। तैसें अज्ञानी जीव अपने अंतरंग विषैं विभाव भावनि परनमें है, उन भावनि का निमित्त पाइ इसको बिना ही कीए कोऊ पुद्गल पुण्यरूप परनमें कोऊ पापरूप परनमें"।

टीका सरल, सुबोध एवं संक्षिप्त शैली में लिखी गई है।

पद्य साहित्य

पंडित टोडरमल का पद्य साहित्य दो रूपों में पाया जाता है। एक तो है गोम्मटसार पूजा स्वतंत्र कृति, दूसरे हैं टीका ग्रन्थों एवं मौलिक ग्रन्थों के मंगलाचरण एवं प्रशस्तियाँ। गद्य साहित्य की अपेक्षा पद्य साहित्य कम है। उन्होंने स्वयं लिखा है कि कविता करना मेरा काम नहीं है[1]। फिर भी उनका जो भी पद्य साहित्य प्राप्त है, उसमें काव्यात्मक गुणों की कमी नहीं। उन्होंने पद्य साहित्य में संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं को माध्यम बनाया है। उनका पद्य साहित्य निम्नलिखित रूप में उपलब्ध है :–

नाम ग्रन्थ	मंगलाचरण छन्द	प्रशस्ति छन्द	योग
१. सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका	६	६३	६९
२. गोम्मटसार जीवकाण्ड भाषाटीका	२३	६	२९
३. गोम्मटसार कर्मकाण्ड भाषाटीका	१०	१५	२५
४. लब्धिसार-क्षपणासार भाषाटीका	४	२	६
५. त्रिलोकसार भाषाटीका	९	४	१३
६. अर्थसंदृष्टि अधिकार	२	२	४
७. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषाटीका	६	×	६
८. आत्मानुशासन भाषाटीका	२	×	२
९. मोक्षमार्ग प्रकाशक	९	×	९
१०. समोसरण वर्णन	१	×	१
	७२	९२	१६४

[1] त्रि० भा० टी०, भूमिका, १

उपर्युक्त प्रकार, मंगलाचरण व प्रशस्ति पद्यों की संख्या १६४ है। गोम्मटसार पूजा की छन्द संख्या ५७ अलग से है। इस प्रकार कुल मिला कर २२१ छन्द होते हैं। गोम्मटसार पूजा के ४५ छन्द संस्कृत में व १२ छन्द हिन्दी में हैं। लब्धिसार-क्षपणासार की प्रशस्ति के २ छन्द एवं अर्थसंदृष्टि अधिकार के ४ छन्द संस्कृत में हैं। शेष सभी हिन्दी में हैं।

छन्दों का नामानुसार विवरण इस प्रकार है :-

हिन्दी छन्द – दोहा ६५, सोरठा १, चौपाई ३५, कवित्त ४, सवैया २०,
अडिल्ल ३, पद्धरि १२

संस्कृत छन्द – ५१

गोम्मटसार पूजा में गोम्मटसार शास्त्र के प्रति भक्ति-भाव प्रदर्शित किया गया है, जिसका वर्णन उक्त कृति के परिचयात्मक अनुशीलन में किया जा चुका है। इसकी भाषा सरल, सुबोध संस्कृत है पर जयमाल हिन्दी में है। छन्द रचना निर्दोष एवं सहज है। प्रथम छन्द इस प्रकार है :-

ज्ञानानन्दमयः शुद्धः, येनात्मा भवति ध्रुवम्।
गोम्मटसार शास्त्रं तद् भक्त्या संस्थापयाम्यहम्॥

पुष्प का छन्द भी द्रष्टव्य है :-

पुष्पैः सुगन्धैः शुभवर्णवद्भिः,
चैतन्यभावस्य विभासनाय।
तत्त्वार्थ-बोधामृत हेतुभूतम्,
गोम्मटसारं प्रयजे सुशास्त्रम्॥

जयमाल के प्रारम्भिक छन्द में गोम्मटसार को अपार समुद्र बताया गया है जिसमें विचार रूपी रत्न भरे हुए हैं, जिन्हें गाथारूपी मजबूत धागों में पिरो कर हार बना भाग्यवान भव्य जीव प्रफुल्लित होकर पहनते हैं। छन्द इस प्रकार है :-

यह गोम्मटसारं उदधि अपारं,
रतन विशालं मंत्र घने।
गाथा दृढ़ धागे गुहे सभागे,
पहिरे भवि जन हिय माने॥

विभिन्न मंगलाचरणों में भी कवि ने देव-शास्त्र-गुरु के प्रति भक्तिभाव प्रकट किया है। उनकी भक्ति निष्काम है। उनका कहना है कि वीतराग भगवान का भक्त भिखारी नहीं होता। उनके अनुसार मंगलाचरण में किये गए गुण स्तवन का हेतु यह है :– "सहाय करावने की, दु:ख द्यावने की जो इच्छा है, सो कषायमय है, तत्काल विषैं वा आगामी काल विषैं दु:खदायक है। तातैं ऐसी इच्छा कूं छोरि हम तौ एक वीतराग विशेष ज्ञान होने के अर्थी होइ अरहंतादिक कौं नमस्कारादिरूप मंगल किया है[1]।"

उनकी यदि कोई मांग है तो वह है एक मात्र स्वयं भगवान् बनने की। वे सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका की प्रशस्ति में अपनी भक्ति का कारण इस प्रकार व्यक्त करते हैं :–

> अरहंत सिद्ध सूरि उपाध्याय साधु सर्व,
> अर्थ के प्रकाशी मंगलीक उपकारी है।
> तिनको स्वरूप जानि रागतें भई है भक्ति,
> तातैं काय कौ नमाय स्तुति उचारी है।।
> धन्य धन्य तुम ही तें सब काज भयो,
> कर जोरि बारंबार बंदना हमारी है।
> मंगल कल्याण सुख ऐसो चाहत है,
> हौहु मेरी ऐसी दशा जैसी तुम धारी है[2]।।

वे अच्छी तरह जानते हैं कि भगवान् किसी का अच्छा बुरा नहीं करता, करे तो वह भगवान् नहीं। सभी संसारी जीवों के सुख-दु:ख, जीवन-मरण उनके अच्छे-बुरे कार्यों (शुभाशुभ कर्मों) का फल है[3]। अतः उनकी भक्ति सहज श्रद्धा का परिणाम है, किसी प्रकार की आशा-आकांक्षा का फल नहीं।

---

[1] मो० मा० प्र०, १४

[2] स० चं० प्र०, छन्द ६३

[3] मो० मा० प्र०, ३३१-३२

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका प्रशस्ति में ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति पर प्रसन्नता व्यक्त कर कवि ग्रंथ के कर्तृत्व सम्बन्धी अभिन्न (निश्चय) व भिन्न (व्यवहार) षट्कारक स्पष्ट करता है। तदुपरान्त जिनागम के प्रथम श्रुतस्कंध की परम्परा बताता है एवं सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका की रचना की चर्चा करता है।

संक्षेप में पद्यों में ही टीका में वर्णित विषयों की तालिका दे दी गई है। अज्ञान और प्रमादजन्य दोषों के प्रति क्षमा याचना करते हुए कवि यह स्पष्ट करता है कि गलतियाँ होने के भय से यदि ग्रंथ रचनाएँ नही की जावेंगी तो फिर साहित्य निर्माण का पंथ ही समाप्त हो जायगा, क्योंकि सर्वज्ञता प्राप्ति के पूर्व तो गलती होना सभी से संभव है। हाँ, कषाय और मनगढ़न्त कल्पना से उनके द्वारा कुछ नहीं लिखा गया है, यह बात उन्होंने स्पष्ट कर दी है।

इसके बाद उन्होंने अपनी चर्चा की है। उन्होंने अपना लौकिक परिचय कम और आध्यात्मिक परिचय अधिक दिया है। तदनन्तर अपने शास्त्राभ्यास की चर्चा के साथ ब्र० रायमल की प्रेरणा से इस टीका की रचना करने का उल्लेख किया है। अन्त में उक्त शास्त्र के अभ्यास करने, पढ़ने-पढ़ाने की प्रेरणा देते हुए शास्त्राभ्यास का शुभ फल बताया है।

उनके पद्यों में विषय की उपादेयता, स्वानुभूति की महत्ता, जिन और जिनसिद्धान्त परम्परा का महत्त्व आदि बातों का रुचिपूर्ण शैली में अलंकृत वर्णन है। जैसे :-

अनुप्रास –

दोष दहन गुन गहन घन, अरि करि हरि अरिहंत।
स्वानुभूति रमनी रमन, जगनायक जयवंत।।

सिद्ध, सुद्ध, साधित सहज, स्वरस सुधारस धार।
समयसार सिव सर्वगत, नमत होहु सुखकार।।

जैनीवानी विविध विधि, वरनत विश्व प्रमान।
स्यात्पद मुद्रित अहित हर, करहु सकल कल्यान।।

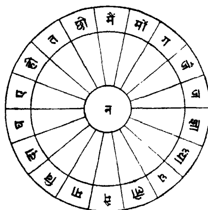
गौमूत्रिकाबंध व चित्रालंकार –

मैं नमों नगन जैन जन ज्ञान ध्यान धन लीन ।
मैन मान बिन दान घन एन हीन तन छीन ।।

इसे गौमूत्रिकाबंध में इस प्रकार रखेंगे :–

मैं मों ग जै ज ज्ञा ध्या ध ली
न न न न न न न न न
मैं मा बि दा घ ए ही त छी

चित्र के रूप में इस प्रकार रखा जायगा :–



इसका अर्थ है – मैं ज्ञान और ध्यान रूपी धन में लीन रहने वाले, काम और अभिमान से रहित, मेघ के समान धर्मोपदेश की वर्षा करने वाले, पाप रहित, क्षीणकाय नग्न दिगम्बर जैन साधुओं को नमस्कार करता हूँ ।

ध्यान से देखने पर उक्त छन्द में अनुप्रास, यमक आदि अलंकार भी खोजे जा सकते हैं ।

श्लेष –

बंदौ ज्ञानानन्दकर, नेमिचन्द गुण कन्द।
माधव बंदित विमल पद, पुन्य पयोनिधि नन्द ॥

उक्त छन्द में 'नेमिचन्द' का अर्थ बाईसवें तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ एवं गोम्मटसारादि ग्रन्थों के कर्त्ता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती है तथा 'माधव' का अर्थ श्रीकृष्ण तथा आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के शिष्य आचार्य माधवचन्द्र त्रैविद्य है।

इसी प्रकार का एक छन्द अर्थसंदृष्टि अधिकार में संस्कृत का भी मिलता है, जो कि इस प्रकार है :–

पंच संग्रह सिद्धस्तं, त्रिलोकीसार दीपकं।
माधवादि स्तुतं स्तौमि, नेमिचन्द्र गुणोज्वलं ॥

उपमा –

मौक्तिक रत्नसूत्र में पोय, गूंथ्या **ग्रन्थ हार सम** सोय।
संस्कृत संदृष्टिनि कौ ज्ञान, नहिं जिनके **ते बाल समान** ॥
वाहन सम यहु सुगम उपाव, या करि सफल करौ निज भाव।
मेघवत अक्षर रहित दिव्य ध्वनि करि।

रूपक –

आप अर्थमय **शब्द जुत ग्रंथ उदधि** गम्भीर।
अवगाहै ही जानिए याकी महिमा धीर ॥
कलिकाल रजनी में अर्थ कौ प्रकाश करै।
रमो **शास्त्र आराम माँहि**, सीख लेहु यह मानि ॥
मेघवत् अक्षर रहित दिव्य ध्वनि करि।
धर्मामृत बरसाय **भवताप** हरै है॥

मूल ग्रन्थ गोम्मटसार की तुलना 'गिरनार' से एवं सम्यग्ज्ञानचंद्रिका टीका की तुलना 'वाहन' से करते हुए कवि ने एक लम्बा रूपक बाँधा है :–

नेमिचन्द जिन शुभ पद धारि ।
जैसे तीर्थ कियो गिरिनारि ।।
तैसें नेमिचन्द मुनिराय ।
ग्रंथ कियो है तरण उपाय ।।
देशनि में सुप्रसिद्ध महान ।
पूज्य भयो है यात्रा थान ।।
यामैं गमन करै जो कोय ।
उच्चपना पावत है सोय ।।
गमन करन कौं गली समान ।
कर्नाटक टीका अमलान ।।
ताकौ अनुसरती शुभ भई ।
टीका सुन्दर संस्कृत मई ।।
केशव वर्णी बुद्धि निधान ।
संस्कृत टीकाकार सुजान ।।
मार्ग कियौ तिहि जुत विस्तार ।
जहँ स्थूलनि कौ भी संचार ।।
हमहू करिकै तहाँ प्रवेश ।
पायो तारन कारन देश ।।
चिंतवन करि अर्थन को सार ।
ऐसे कीन्हों बहुरि विचारि ।।
संस्कृत संदृष्टिनि कौ ज्ञान ।
नहिं जिनके ते बाल समान ।।
गमन करन कौं अति तरफरें ।
बल विनु नाहिं पदनि कौं धरै ।।
तिनि जीवनि कौं गमन उपाय ।
भाषाटीका दई बनाय ।।
वाहन सम यहु सुगम उपाव ।
या करि सफल करौ निज भाव ।।

स्वानुभूति पर उन्होंने सर्वत्र जोर दिया है। यह बात उनके प्रतीकों में भी मिलती है। जहां परम्परागत रूप से अरहन्त, सिद्ध भगवान् के लिए 'शिव रमनी रमन' लिखा जाता रहा है, वहाँ वे 'स्वानुभूति रमनी रमन' लिखते हैं।

इस प्रकार उनका पद्य साहित्य यद्यपि सीमित है, तथापि जो भी है वह उनके कवि हृदय को व्यक्त करता है।

उनके समग्र साहित्य का अनुशीलन करने के उपरान्त हम देखते हैं कि उनका सम्पूर्ण साहित्य करीब एक लाख श्लोक प्रमाण विशाल परिमाण में है तथा वह मौलिक और टीकाएँ, गद्य और पद्य सभी रूपों में उपलब्ध है। सभी साहित्य देशभाषा में है, मात्र कुछ संस्कृत छंदों को छोड़ कर। उनकी रचनाएँ वर्णनात्मक, व्याख्यात्मक, विवेचनात्मक, यंत्र-रचनात्मक एवं पत्रशैली में हैं। विविध रूपों में प्राप्त होने पर भी उनका प्रतिपाद्य आध्यात्मिक तत्त्वविवेचन ही है। उनके मौलिक ग्रन्थ तो उनके स्वतन्त्र तत्त्वचिंतन को प्रतिफलित करते ही हैं, उनके टीकाग्रंथ भी मात्र अनुवाद नहीं हैं, उनका चिंतक वहाँ भी जागृत है और उन्होंने अपने इस स्वातन्त्र्य का स्पष्ट उल्लेख भी किया है।

प्रतिभाओं का लीक पर चलना कठिन होता है, पर ऐसी प्रतिभाएँ बहुत कम होती हैं जो लीक छोड़ कर चलें और भटक न जायें। पंडित टोडरमल भी उन्हीं में से एक है जो लीक छोड़ कर चले, पर भटके नहीं।



चतुर्थ अध्याय

वर्ण्य-विषय और दार्शनिक विचार

वर्ण्य-विषय और दार्शनिक विचार

जैन मान्यता के अनुसार यद्यपि परम ब्रह्म (वस्तुस्वरूप) के समान उसका प्रतिपादक शब्द ब्रह्म (श्रुत) भी अनादि निधन है[१]; तथापि कालवश (पर्यायापेक्षा) उसका उत्पाद और विनाश भी होता है। वर्तमान में आलोच्य साहित्य से सम्बन्धित पूर्व परम्परागत जैन साहित्य में आचार्य धरसेन के शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि द्वारा रचित 'षट्खण्डागम' सर्वाधिक प्राचीन रचना है। इसकी रचना का काल ईस्वी की द्वितीय शताब्दी सिद्ध होता है[२]। षट्खण्डागम में सूत्ररूप से जीव द्वारा कर्म बंध और उससे उत्पन्न होने वाले नाना जीव-परिणामों का बड़ी व्यवस्था, सूक्ष्मता और विस्तार से विवेचन किया गया है। षट्खण्डागम की टीकाएँ क्रमशः कुन्दकुन्द, शामकुण्ड, तुम्बुलूर, समन्तभद्र और बप्पदेव ने बनाईं – ऐसे उल्लेख हैं, पर ये टीकाएँ अप्राप्त हैं। उसके अन्तिम टीकाकार हैं – वीरसेनाचार्य, जिन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध टीका 'धवला' की रचना शक सं० ७३८ तदनुसार ई० सन् ८१६ कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी को पूरी की[३]।

धरसेनाचार्य के समय के लगभग एक और आचार्य गुणधर हुए जिन्होंने 'कषायप्राभृत' की रचना की। इस पर भी वीरसेनाचार्य ने अपूर्ण टीका लिखी जिसे उनके निधनोपरान्त उनके शिष्य आचार्य जिनसेन ने पूर्ण की, वह 'जयधवला' के नाम से प्रसिद्ध है[४]।

षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों में जीव के कर्त्तृत्व की अपेक्षा से और अन्तिम तीन खण्डों में कर्म प्रकृतियों के स्वरूप की अपेक्षा से

---

[१] मो० मा० प्र०, १

[२] भा० सं० जै० यो०, ७४

[३] वही, ७५-७६

[४] वही, ८२

विवेचन हुआ है । इसी विभाग को लक्ष्य में रख कर आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य गोम्मटसार ग्रन्थ की रचना की और उसको दो भागों में जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड में विभाजित किया । गोम्मटसार में षट्खण्डागम का पूर्ण निचोड़ आ गया है[1] ।

सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र द्वारा रचित दो महाग्रन्थ और हैं, जिनके नाम हैं लब्धिसार और क्षपरणासार । इन्हीं गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार व क्षपरणासार ग्रन्थों पर आगे चलकर वि० सं० १८१८ में पं० टोडरमल ने 'सम्यग्ज्ञानचंद्रिका' नामक भाषाटीका की है[2], जो कि प्रथम श्रुतस्कंध परम्परा में आती है । प्रथम श्रुतस्कंध परम्परा में जीव और कर्म के संयोग से उत्पन्न आत्मा की संसार-अवस्था का, गुरणस्थान, मार्गरणास्थान आदि का वर्णन होता है । यह कथन पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से होता है । इस नय को अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय भी कहते हैं और इसे ही अध्यात्म की भाषा में अशुद्ध निश्चय नय या व्यवहार नय कहा जाता है[3] ।

द्वितीय श्रुतस्कंध में शुद्धात्मा का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है । इसमें शुद्ध निश्चय नय का कथन है । इसे द्रव्यार्थिक नय भी कहते हैं ।

द्वितीय श्रुतस्कंध की उत्पत्ति कुन्दकुन्दाचार्य से होती है । उन्होंने समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय और अष्टपाहुड़ आदि ग्रन्थों की रचना की है । कुन्दकुन्दाचार्यदेव को दिगम्बर परम्परा में भगवान महावीर और इन्द्रभूति गौतम गरगधर के बाद तृतीय स्थान के रूप में स्मरण किया जाता है :—

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गरणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैन धर्मोऽस्तु मंगलम् ।।

---

[1] भा० सं० जै० यो०, ७६-८०

[2] स० चं० प्र०

[3] समयसार, उपोद्घात्, १०

प्रत्येक दिगम्बर जैन उक्त छंद को शास्त्राध्ययन आरम्भ करते समय प्रति दिन बोलते हैं। कुन्दकुन्दत्रयी [1] पर आचार्य अमृतचन्द्र ने गम्भीर टीकाएँ लिखी हैं। उक्त ग्रन्थों पर आचार्य जयसेन की भी संस्कृत भाषा में टीकाएँ उपलब्ध हैं।

पं० टोडरमल ने दोनों श्रुतस्कंधों का गम्भीर अध्ययन किया तथा दोनों प्रकार के ग्रन्थों की टीकाएँ लिखने का उपक्रम किया था। उन्होंने अपने मौलिक ग्रन्थों में भी उक्त दोनों परम्पराओं में विवेचित विषयों का विस्तृत व गम्भीर विवेचन किया है। इस अध्याय में उक्त दोनो श्रुतस्कंध परम्पराओं के परिप्रेक्ष्य में पं० टोडरमल के दार्शनिक एवं अन्य विचारों का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

पं० टोडरमल ने कहीं भी यह दावा नहीं किया है कि उन्होंने कुछ नया किया है। उनका उद्देश्य तो वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित आत्महितकारी वस्तुस्वरूप जनसाधारण तक पहुँचाना था। अतः उनके स्वर में वे तथ्य अधिक मुखरित हुए हैं जिनके कारण सामान्यजन आत्महितकारी वस्तुस्वरूप समझने के लिए लालायित और प्रयत्नशील रहते हुए भी कही न कही उलझ कर रह जाते हैं। वे कौन से स्थल हैं तथा वे किस प्रकार की भूलें हैं जो वस्तु के समझने में बाधक बनती हैं, उन्हें उन्होंने खोज-खोजकर निकाला है। उनके कारणों की खोज की है। उनका वर्गीकरण किया, विश्लेषण किया एवं उन भूलों से बचने के उपायों पर प्रकाश डाला है। उन्होंने उन भूलों को दो भागों में विभाजित किया है :-

(१) निश्चय और व्यवहार सम्बन्धी अज्ञान के कारण होने वाली भूलें।

(२) चारों अनुयोगों के कथन-पद्धति सम्बन्धी अज्ञान के कारण होने वाली भूलें।

इनके संबंध में जैन दर्शन में वर्णित मूलतत्त्वों के संदर्भ में यथास्थान विचार करेंगे।

---

[1] समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय को कुन्दकुन्दत्रयी कहा जाता है।

जैन दर्शन में छः द्रव्यों के समुदाय को विश्व कहते हैं और वे छः द्रव्य हैं–जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जीव को छोड़ कर बाकी पाँच द्रव्य अजीव है[१]। इस तरह सारा जगत् चिद्‌चिदात्मक है। जीव द्रव्य अनन्त हैं और पुद्गल द्रव्य उनसे भी अनन्तगुणे हैं। धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक हैं[२], काल द्रव्य असंख्यात हैं[३]। ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मा को जीव द्रव्य कहते हैं[४]। जिसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण पाया जाय वह पुद्गल है[५]। जितना भी इन्द्रिय के माध्यम से दृश्यमान जगत् है, वह सब पुद्गल ही है। स्वयं चलते हुए जीव और पुद्गलों को गमन में जो सहकारी (निमित्त) कारण है, वह धर्म द्रव्य है और गतिपूर्वक स्थिति करने वाले जीव और पुद्गलों की स्थिति में जो सहकारी (निमित्त) कारण है, वह अधर्म द्रव्य है। समस्त द्रव्यों के अवगाहन में निमित्त आकाश द्रव्य और परिवर्तन में निमित्त काल द्रव्य है[६]।

जीव व पुद्गल (कर्म, शरीर) अनादिकाल से एकमेक हो रहे हैं। ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म (पुद्गल कर्म) के उदय में जीव के मोह-राग-द्वेष (भाव कर्म) होते हैं और मोह-राग-द्वेष होने पर आत्मा से द्रव्य कर्मों का सम्बन्ध होता है, उसके फलस्वरूप देहादि की स्थिति बनती रहती है और आत्मा दुःखी हुआ करता है। जीव की इस दुःखावस्था का नाम ही संसार है और दुःखों से मुक्त हो जाने का नाम है मोक्ष। दुःखों से छूटने के उपाय को कहते हैं मोक्षमार्ग।

प्रत्येक संसारी जीव दुःखी है और दुःखों से छूटना भी चाहता है, पर उसे सच्चा मोक्षमार्ग ज्ञात न होने से वह छूट नहीं पाता है। उक्त मोक्षमार्ग बतलाने का प्रयत्न ही समस्त जैनागम में किया गया है।

---

[१] पंचास्तिकाय, गाथा १२४

[२] तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५ सू० ६

[३] द्रव्यसंग्रह, गाथा २२

[४] तत्त्वार्थसूत्र, अ० २ सू० ८–६

[५] वही, अ० ५ सू० २३

[६] (क) द्रव्यसंग्रह, गाथा १७ से २१
(ख) प्रवचनसार, गाथा १३३–३४

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता ही मोक्ष का मार्ग है[१]। मोक्षमार्ग एवं उसके अन्तर्गत आने वाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र एवं सम्यग्दर्शनादि के भी अन्तर्गत आने वाले जीवादि सप्त तत्त्व एवं देव, शास्त्र, गुरु आदि की परिभाषाएँ जैनागम में यथास्थान निश्चय-व्यवहार नय से एवं चार अनुयोगों की पद्धति में अपनी-अपनी शैली के अनुसार विभिन्न प्रकार से दी गई हैं, अतः साधारण पाठक उनमें परस्पर विरोध-सा अनुभव करता है, उनके सही मर्म को नहीं समझ पाता है तथा भ्रम से अपने मन में अन्यथा कल्पना कर लेता है या संशयात्मक स्थिति में रहकर तत्त्व के प्रति अश्रद्धालु हो जाता है। इस तथ्य को पं० टोडरमल ने अनुभव किया था और उसे उन्होंने अपने ग्रन्थों में साकार रूप दिया एवं सही मार्गदर्शन करने का सफल प्रयास किया है।

सम्यग्दर्शन

जीवादि तत्त्वार्थों का सच्चा श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है[२]। सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है[३]। आत्म श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है[४]। सम्यग्दर्शन की उक्त तीन परिभाषाएँ विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न स्थानों पर की है। ऊपर से देखने में वे परस्पर विरुद्ध नजर आती है पर उनमें कोई विरोध नहीं है। पं० टोडरमल ने सम्यग्दर्शन की विभिन्न परिभाषाओं का स्पष्टीकरण करते हुए उनमें समन्वय स्थापित किया है[५]।

सम्यग्दर्शन प्राप्ति के लिए जीवादि सात तत्त्वों और देव, शास्त्र, गुरु का सच्चा श्रद्धान, ज्ञान एवं आत्मानुभूति अत्यन्त आवश्यक हैं। सप्त तत्त्व और सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का सच्चा ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिस पैनी दृष्टि की आवश्यकता है, वाह्य वृत्ति में ही सन्तुष्ट

---

[१] तत्त्वार्थसूत्र, अ० १ सू० १

[२] वही, अ० १ सू० २

[३] रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अ० १ श्लोक ४

[४] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २१६

[५] मो० मा० प्र०, ४७७–७८

रहने वाले व्यवहाराभासी जीव उसका प्रयोग तो करते नहीं, किन्तु शास्त्रों में लिखीं जीवादि की परिभाषाएँ रट लेते हैं, दूसरों को सुना भी देते हैं, तदनुसार उपदेश देकर व्याख्याता भी बन जाते हैं, पर उनके मर्म को नहीं जान पाते, अतः वे सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं कर पाते हैं।

जैन शास्त्रों में जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सप्त तत्त्व कहे गये हैं[1]। सामान्य रूप से जीव और अजीव दो ही तत्त्व हैं, आस्रवादिक तो जीव-अजीव के ही विशेष हैं[2]। इनका सच्चा स्वरूप क्या है और पं० टोडरमल के अनुसार अज्ञानी जीव इनके जानने में क्या-क्या और कैसी-कैसी भूलें करता है, उनका संक्षेप में पृथक्-पृथक् विवेचन अपेक्षित है।

जीव और अजीव तत्त्व

ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मा को जीव तत्त्व कहते हैं। जिनमें ज्ञान नहीं है, ऐसे पुद्गलादि द्रव्य अजीव तत्त्व हैं। जीव और शरीरादि अजीव अनादि से संयोग रूप से संबंधित हैं, अतः यह आत्मा इन्हें भिन्न-भिन्न नहीं पहिचान पाता, यही अज्ञान है। शरीरादि अजीव से भिन्न ज्ञानस्वभावी आत्मा की पहिचान को भेदविज्ञान कहते हैं। जीव-अजीव को जानने के अनेक प्रयत्न करने के उपरान्त भी भेदविज्ञान क्यों नहीं हो पाता ? पं० टोडरमल ने इसके पाँच कारण[3] बताए हैं :-

(१) जैन शास्त्रों में वर्णित जीव और अजीव के भेद-प्रभेदों को तो जान लेते हैं, पर अध्यात्म शास्त्रों में कथित भेदविज्ञान के कारण एवं वीतराग दशा होने के कारण रूप कथन को नहीं पहिचान पाते हैं।

(२) यदि कदाचित् प्रसंगवश जानना हो भी जाय तो उन्हें शास्त्रानुसार जान लेते हैं, उनकी परस्पर भिन्नता नहीं पहिचान पाते। शरीर अलग है, आत्मा अलग है; ऐसा मानने पर भी शरीर के कार्य को और आत्मा के कार्य को भिन्न-भिन्न नहीं जान पाते हैं।

---

[1] तत्त्वार्थसूत्र, अ० १ सू० ४

[2] द्रव्यसंग्रह, गाथा २८-२९

[3] मो० मा० प्र०, ३३०

(३) कभी-कभी शास्त्रानुसार बात तो ठीक करते हैं किन्तु उसका भाव उनके ध्यान में नहीं आता है। आत्मा की बात इस तरह करते हैं जैसे वे स्वयं आत्मा न होकर कोई और हों। आत्मा शुद्ध है, बुद्ध है, ऐसा बोलते हैं, पर 'में शुद्ध-बुद्ध हूँ', ऐसी प्रतीति उन्हें नहीं हो पाती।

(४) शरीरादि से आत्मा को भिन्न भी कहते हैं, पर बात ऐसे करते हैं जैसे किसी और से और को भिन्न बता रहे हों, इनका उससे कोई सम्बन्ध ही न हो। ऐसा अनुभव नहीं करते कि मैं आत्मा हूँ, शरीर मुझ से भिन्न है।

(५) शरीर और आत्मा के संयोगकाल में दोनों में कुछ क्रियाएँ एक दूसरे के निमित्त से होती हैं, उन्हें दोनों के संयोग से उत्पन्न हुई मानते हैं। ऐसा नही जान पाते कि यह क्रिया जीव की है, शरीर इसमें निमित्त है; और यह क्रिया शरीर की है, जीव इसमें निमित्त है।

शरीर से भिन्न आत्मा की प्रतीति एवं अनुभूति ही जीव और अजीव तत्त्व सम्बन्धी सच्चा ज्ञान है। इसे पाना बहुत आवश्यक है, अन्यथा दुःखों से मुक्ति सम्भव नहीं है।

कर्म – अजीव के अन्तर्गत जिन पाँच द्रव्यों का वर्णन किया गया है, उनमें से पुद्गल के अन्तर्गत बाईस प्रकार की वर्गणाएँ होती हैं। उन में एक कार्माण वर्गणा भी होती है, जो जीव के मोह-राग-द्वेष भावों का निमित्त पाकर कर्म रूप परिणमित हो जाती है और उसका सम्बन्ध मोही-रागी-द्वेषी आत्मा से होता रहता है। वे कर्म आठ प्रकार के होते हैं – ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इनके भी अवान्तर एक सौ अड़तालीस भेद होते हैं[1]।

ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय में आत्मा मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भाव करता है और मोह-राग-द्वेष भावों के होने पर आत्मा

[1] गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ८,२२

के साथ ज्ञानावरणादि कर्मों का बंध होता रहता है[१]। इस तरह यह चक्र तब तक चलता रहता है जब तक कि यह आत्मा स्वयं आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ कर मोह-राग-द्वेष भावों का अभाव कर कर्मों से सम्बन्ध को विच्छेद नही कर देता है।

आत्मा के मोह-राग-द्वेष भावों से कर्म-बंध और कर्म के उदय से आत्मा में मोह-राग-द्वेष भावों की उत्पत्ति, इस प्रकार की संगति होने पर भी आत्मा और कर्म दो भिन्न-भिन्न तत्त्व होने के कारण केवल अपने-अपने परिणामों को ही निष्पन्न करते हैं, परस्पर एक-दूसरे के परिणामों को नही; इनका परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नही[२]। वह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी सहज रूप से बन रहा है, उनमें कोई अन्य कारण नही है[३]। दोनों में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी दोनो द्रव्यों में कार्योत्पत्ति स्वयमेव अपने कारण से ही होती है[४]।

शास्त्रों में कहीं-कही कर्म की मुख्यता से व्यवहार कथन किया जाता है, उसका सही मर्म न समझ पाने के कारण बहुत से जीव हताश हो जाते हैं अथवा अपने द्वारा किये गए बुरे कार्यों को कर्म के नाम पर मढ़ने लगते है। ऐसे लोगों को सावधान करते हुए पुरुषार्थ की प्रेरणा पं० टोडरमल इस प्रकार देते हैं :–

"अर तत्त्व निर्णय न करने विषैं कोई कर्म का दोष है नाहीं तेरा (आत्मा का) ही दोष है, अर तू आप तो महन्त रह्या चाहै अर अपना दोष कर्मादिक के लगावै, सो जिन आज्ञा मानै तो ऐसी अनीति सम्भवै नाहीं[५]"।

---

[१] मो० मा० प्र०, ४४

[२] पु० भा० टी०, ६

[३] मो० मा० प्र०, ३७

[४] वही, ४३

[५] वही, ४५८

आस्रव तत्त्व

आत्मा में उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेष भावों के निमित्त से कर्मों का आना (कार्माण वर्गणा का ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित होना) आस्रव है। इसके दो भेद होते हैं – द्रव्यास्रव और भावास्रव। आत्मा के जिन मोह-राग-द्वेष रूप भावों के निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्म आते हैं, उन भावों को भावास्रव या जीवास्रव कहते हैं और जो कर्म आते हैं उन्हें द्रव्यास्रव या अजीवास्रव कहते हैं[१]। आस्रवों के भेद या कारण मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग माने गए हैं[२]। अज्ञानी आत्मा आस्रव तत्त्व के समझने में भी भूल करता है और वह यह कि वह कर्मास्रव से बचने के लिए वाह्य क्रिया पर तो दृष्टि रखता है पर अन्तर में उठने वाले मोह-राग-द्वेष भावों से बचने का उपाय नहीं करता। पं० टोडरमल के शब्दों में :–

"राग-द्वेष-मोह रूप जे आस्रव भाव हैं, तिनका तौ नाश करने की चिन्ता नाहीं अर बाह्य क्रिया वा बाह्य निमित्त मेटने का उपाय राखै, सो तिनके मेटें आस्रव मिटता नाहीं[३]"।

बंध तत्त्व

आत्मप्रदेशों के साथ कर्माणुओं का दूध-पानी की तरह एकमेक हो जाना बंध है। इसके भी दो भेद हैं – द्रव्यबंध और भावबंध। आत्मा के जिन शुभाशुभ विकारी भावों के निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्मों का बंध होता है उन भावों को भावबंध कहते हैं और ज्ञानावरणादि कर्मों का बंध होना द्रव्यबंध है[४]।

बंध के चार भेद हैं – प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध। इनका विस्तृत विवेचन जैन शास्त्रों में किया गया है[५]।

---

[१] द्रव्यसंग्रह, गाथा २८–२९

[२] समयसार, गाथा १६४। आचार्य उमास्वामी ने प्रमाद को भी आस्रव का भेद माना है। तत्त्वार्थसूत्र, अ० ८ सू० १

[३] मो०मा० प्र०, ३३३

[४] द्रव्यसंग्रह, गाथा ३२

[५] तत्त्वार्थसूत्र, अ० ८

शुभ भावों से पुण्यबंध होता है और अशुभ भावों से पापबंध[१]। बंध चाहे पाप का हो या पुण्य का, वह है तो आखिर बंध ही, उससे आत्मा बंधता ही है, मुक्त नहीं होता। पुण्य को सोने की बेड़ी एवं पाप को लोहे की बेड़ी बताया गया है[२]। बेड़ी बंधन का ही रूप है, चाहे वह सोने (पुण्य) की हो, चाहे लोहे (पाप) की। इस संबंध में डॉ० हीरालाल जैन लिखते है :–

"यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पुण्य और पाप, ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ कर्मबंध उत्पन्न करती है। हाँ, उनमें से प्रथम प्रकार का कर्मबंध जीव के अनुभवन में अनुकूल व सुखदायी; और दूसरा प्रतिकूल व दुःखदायी सिद्ध होता है। इसीलिए पुण्य और पाप दोनों को शरीर को बाँधने वाली बेड़ियों की उपमा दी गई है। पाप रूप बेड़ियाँ लोहे की हैं; और पुण्य रूप बेड़ियाँ स्वर्ण की, जो अलंकारों का रूप धारण कर प्रिय लगती हैं। जीव के इन पुण्य और पाप रूप परिणामों को शुभ व अशुभ भी कहा गया है। ये दोनों ही संसार-भ्रमण में कारणीभूत हैं, भले ही पुण्य जीव को स्वर्गीय शुभ गतियों में ले जाकर सुखानुभव कराये; अथवा पाप नरकादि व पशु योनियों मे ले जाकर दुःखदायी हो। इन दोनों शुभाशुभ परिणामों से पृथक् जो जीव की शुद्धावस्था मानी गई है, वही कर्मबंध से छुड़ा कर मोक्ष गति को प्राप्त कराने वाली है[३]।"

पुण्योदय से लौकिक भोगों की प्राप्ति होती है, अतः लौकिक भोगों का अभिलाषी प्राणी पुण्यबंध को भला और पापबंध को बुरा मान लेता है; अथवा पुण्यबंध के कारण रूप जो शुभ भाव हैं, उन्हें मोक्ष का कारण मान लेता है। जो बंध के कारण है – चाहे वे पुण्यबंध के ही कारण क्यों न हों, उन्हें मुक्ति के कारण मान लेना ही बंध तत्त्व संबंधी अज्ञान है।

---

[१] तत्त्वार्थ सूत्र, अ० ६ सू० ३

[२] समयसार, गाथा १४६

[३] भा० सं० जै० यो०, २३३

संवर तत्त्व

आस्रव का रुकना संवर है[1]। यह भी दो प्रकार का होता है – द्रव्यसंवर और भावसंवर। जो आत्मा का परिणाम कर्म के आस्रव को रोकने में हेतु है वह परिणाम भावसंवर है और कर्मों का आगमन रुक जाना द्रव्यसंवर है[2]। यह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से होता है[3]। गुप्ति तीन प्रकार की होती हैं– मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। समिति पाँच प्रकार की होती हैं – ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदाननिक्षेपण समिति और प्रतिष्ठापना समिति। धर्म दस प्रकार के होते हैं – उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य। अनुप्रेक्षा बारह प्रकार की होती हैं – अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म। परीषहजय बाईस प्रकार के होते है – क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमसक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन, ये बाईस परीषह हैं। इन्हें जीतना परीषहजय कहलाता है। चारित्र पाँच प्रकार का होता है – सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात। इन सब का वर्णन जैन दर्शन में विस्तार से मिलता है।

इन सब के सम्बन्ध में यह अज्ञानी आत्मा बाह्य दृष्टि से ही विचार करता है, अन्तर में प्रवेश नहीं करता है। अन्तरंग में धर्मरूप स्वयं तो परिणमित होता नही है, पाप के भय और पुण्य के लोभ में बाह्य प्रवृत्ति को रोकने की चेष्टा करता रहता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए पं० टोडरमल कहते हैं :–

---

[1] तत्त्वार्थसूत्र, अ० ९ सू० १
[2] द्रव्यसंग्रह, गाथा ३४
[3] (क) तत्त्वार्थसूत्र, अ० ९ सू० २
(ख) द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५

"बहुरि बंधादिक के भयतैं वा स्वर्ग मोक्ष की चाहतैं, क्रोधादि न करै है, सो यहाँ क्रोधादि करने का अभिप्राय तौ गया नाहीं। जैसें कोई राजादिक के भयतें वा महंतपना का लोभतें पर-स्त्री न सेवै है तौ वाकौं त्यागी न कहिए। तैसें ही यहु क्रोधादि का त्यागी नाहीं। तौ कैसे त्यागी होय ? पदार्थ अनिष्ट-इष्ट भासें क्रोधादि हो है। जब तत्त्वज्ञान के अभ्यासतैं कोई इष्ट-अनिष्ट न भासें तब स्वयमेव ही क्रोधादि न उपजें, तब सांचा धर्म हो है[1]।"

निर्जरा तत्त्व

आत्मा से बंधे कर्मों का झड़ना निर्जरा है। इसके भी दो भेद हैं – द्रव्यनिर्जरा और भावनिर्जरा। आत्मा के जो भाव कर्म झरने में हेतु हैं, वे भाव ही भावनिर्जरा है और कर्मों का झड़ना द्रव्यनिर्जरा है[2]। निर्जरा तप द्वारा होती है[3]। तप दो प्रकार का होता है – अन्तरंग तप और बहिरंग तप। तप का सही रूप नहीं समझ पाने से जनसाधारण की दृष्टि अंतरंग तप की ओर न जाकर वाह्य अनशनादि तपों की ओर ही जाती है और उनका भी वे सही स्वरूप समझ नहीं पाते हैं; तथा भूख, प्यास, गर्मी, सर्दी आदि के दुःखों को सहने का नाम ही तप मान लेते हैं।

इच्छाओं के अभाव का नाम तप है[4], इस पर ध्यान नहीं जाता और तप के नाम पर वाह्य क्रियाकाण्ड में उलझे रह कर निर्जरा मान लेते है। उक्त संदर्भ में पंडित टोडरमल लिखते हैं :–

"जो बाह्य दुःख सहना ही निर्जरा का कारण होय तौ तिर्यंचादि (पशु) भी भूख तृषादि सहै हैं[5]।"........

उपवासादि के स्वरूप को भी सही नहीं समझते है। कषायों, भोगों और भोजन के त्यागने का नाम उपवास है[6], किन्तु मात्र भोजन

---

[1] मो० मा० प्र०, ३३५–३६
[2] द्रव्यसंग्रह, गाथा ३६
[3] तत्त्वार्थसूत्र, अ० ६ सू० ३
[4] मो० मा० प्र०, ३३८
[5] वही, ३३७
[6] वही, ३४०

के त्यागने को ही उपवास मान लिया जाता है, परिणामों में भोगों की इच्छा तथा कषायों की ज्वाला कितनी ही प्रज्वलित क्यों न रहे, इस पर ध्यान नहीं देते ।

कषायों के अभाव में परिणामों की शुद्धता ही वास्तविक तप है और उससे ही निर्जरा होती है ।

मोक्ष तत्त्व

आत्मा का कर्मबंधन से पूर्णतः मुक्त हो जाना मोक्ष है। यह भी दो प्रकार का होता है—द्रव्यमोक्ष और भावमोक्ष । आत्मा के जो शुद्ध भाव कर्मबंधन से मुक्त होने में हेतु होते हैं वे भाव ही भावमोक्ष हैं और आत्मा का द्रव्यकर्मों से मुक्त हो जाना द्रव्यमोक्ष है[1] । आत्मा की सिद्ध दशा का नाम ही मोक्ष है । सिद्ध दशा अनन्त आनन्दरूप है। वह आनन्द अतीन्द्रिय आनन्द है । उस अलौकिक आनन्द की तुलना लौकिक इन्द्रियजन्य आनन्द से नही की जा सकती है, पर संसारी आत्मा को उक्त अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद तो कभी प्राप्त हुआ नहीं, अतः उस आनन्द की कल्पना भी वह इस लौकिक इन्द्रियजन्य आनन्द से करता है, निराकुलता रूप मोक्ष दशा को पहिचान नहीं पाता । पंडित टोडरमलजी लिखते हैं :—

"स्वर्ग विषैं सुख है, तिनितैं अनन्त गुणों मोक्ष विषै सुख है। सो इस गुणकार विषैं स्वर्ग-मोक्ष सुख की एक जाति जानें है । तहाँ स्वर्ग विषैं तौ विषयादि सामग्रीजनित सुख हो है, ताकी जाति याकौं भासे है अर मोक्ष विषैं विषयादि सामग्री है नाहीं, सो वहाँ का सुख की जाति याकौं भासै तौ नाहीं परन्तु स्वर्ग तैं भी मोक्ष कौ उत्तम, महा-पुरुष कहै हैं, तातैं यहु भी उत्तम ही मानै है । जैसे कोऊ गान का स्वरूप न पहिचानै परन्तु सर्व सभा के सराहैं, तातैं आप भी सराहै है । तैसे यहु मोक्ष कौं उत्तम मानै है[2] ।"

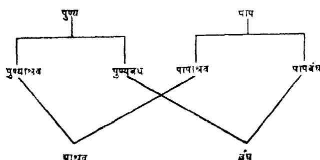
---

[1] द्रव्यसंग्रह, गाथा ३७

[2] मो० मा० प्र०, ३४२

पुण्य-पाप

पुण्य और पाप दोनों आत्मा की विकारी अन्तर्वृत्तियाँ हैं। देव पूजा, गुरु उपासना, दया, दान आदि के प्रशस्त परिणाम पुण्य-भाव कहलाते हैं और इनका फल लौकिक अनुकूलता की प्राप्ति है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह-संग्रह आदि के भाव पाप-भाव हैं और इनका फल लौकिक प्रतिकूलताएँ हैं। जीवादि सप्त तत्त्वों में पुण्य और पाप मिला कर नव तत्त्व भी कहे गए हैं[1]। जहाँ तत्त्वों की संख्या सात बताई गई है, वहाँ पुण्य-पाप को आस्रव-बंध में सम्मिलित कर लिया गया है। वस्तुतः ये आस्रव और बंध के ही भेद हैं। इस तथ्य को निम्न चार्ट द्वारा समझा जा सकता है :–



सामान्यजन पुण्य को भला और पाप को बुरा मानते हैं, क्योंकि पुण्य से मनुष्य व देव गति की प्राप्ति होती है और पाप से नरक और तिर्यंच गति की। वे यह नहीं समझते कि चारों गतियाँ संसार हैं, संसार दुःखरूप है, तथा पुण्य और पाप दोनों संसार के ही कारण हैं, अतः संसार में प्रवेश कराने वाले पुण्य या पाप भले कैसे हो सकते हैं[2] ? पुण्य बंध रूप है और आत्मा का हित मोक्ष (अबंध) दशा प्राप्ति में है। अतः पुण्य रूप शुभ कार्य भी मुक्ति के मार्ग में हेय ही हैं। इतना अवश्य है कि पाप-भाव की अपेक्षा पुण्य-भाव को भला कहा गया है, किन्तु मोक्षमार्ग में उसका स्थान अभावात्मक ही है।

---

[1] समयसार, गाथा १३

[2] वही, १४५

देव

जो वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हों, वे सच्चे देव हैं। जो जन्म-मरण, राग-द्वेषादि अठारह दोषों से रहित हों, वे वीतराग हैं। तीन लोक व तीन काल के समस्त पदार्थों को एक समय में स्पष्ट जानें, वे सर्वज्ञ कहलाते हैं तथा आत्महित (मोक्षमार्ग) का उपदेश देने वाले हितोपदेशी कहे जाते हैं[१]।

अरहंत और सिद्ध परमेष्ठी सच्चे देव (भगवान्) हैं। जैन मान्यता में भगवान् अलग नहीं होते। जो भी आत्मा आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ कर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता को प्राप्त कर वीतरागी हो अपने ज्ञान का पूर्ण विकास कर लेता है, वही परमात्मा बन जाता है।

इस विश्व में अनन्त जीवादि पदार्थ अपनी-अपनी सत्ता में परिपूर्ण भिन्न-भिन्न अनादि-अनन्त हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने में होने वाले परिणमन का स्वयं कर्त्ता-हर्त्ता है। यह सम्पूर्ण जगत अनादि-अनन्त है, इसे किसी ने भी नहीं बनाया है और न इसे कोई नष्ट ही कर सकता है[२]। एक द्रव्य का कर्त्ता दूसरे द्रव्य को मानना द्रव्य की स्वतन्त्रता को खण्डित करना है। यद्यपि निमित्तादिक की अपेक्षा व्यवहार से एक द्रव्य का कर्त्ता दूसरे द्रव्य को कहा जाता है, तथापि परमार्थतः एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है[३]।

सच्चे देव का सही स्वरूप नहीं जानने वाले भक्तों को लक्ष्य करके पं० टोडरमल कहते हैं :– '''तिनि अरहंतनि कौं स्वर्ग-मोक्ष का दाता, दीन-दयाल, अधम-उधारक, पतितपावन मानैं हैं, सो अन्यमती कर्तृत्व बुद्धितैं ईश्वर कौं जैसें मानै हैं, तैसे यहु अरहंत कौं मानैं है। ऐसा नाहीं जानैं है – फल तौ अपने परिणामनि का लागै है, अरहंत तिनिकौं निमित्त-मात्र है, तातैं उपचार करि ये विशेषण सम्भवै है[४]।

वस्तुतः भगवान् जगत का ज्ञाता-दृष्टा मात्र है, कर्त्ता-धर्त्ता नहीं।

---

[१] रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अ० १ श्लोक ५–८

[२] मो० मा० प्र०, ७५,१२८,१२९,१६०,१६१

[३] द्रव्यसंग्रह, गाथा ८

[४] मो०मा०प्र०, ३२५

शास्त्र

आत्महितकारी तत्त्वोपदेश करने वाली, जीवों को उन्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग में ले जाने वाली, पूर्वापर विरोध से रहित सच्चे देव की वाणी को सच्चा शास्त्र कहते हैं[1]। सच्चे देव वीतरागी और पूर्णज्ञानी होते हैं, अतः उनकी वाणी भी वीतरागता की पोषक और पूर्णता की ओर ले जाने वाली होती है।

सच्चे शास्त्र के सम्बन्ध में सबसे अधिक विचारणीय बात यह है कि सर्वज्ञ परमात्मा भगवान् महावीर को हुए २५०० वर्ष हो गए हैं, उनके बाद आज तक की परम्परा में शास्त्रों की प्रामाणिकता किस आधार पर मानी जा सकती है? क्या उसमें इतने लम्बे काल में विकृति सम्भव नहीं है? उक्त प्रश्न पर पंडित टोडरमल ने विस्तार से विचार किया है[2]। जैन शास्त्रों की प्रामाणिकता पर विचार करते हुए कालवश आई हुई विकृतियों को उन्होंने निःसंकोच स्वीकार किया है[3], किन्तु साथ-साथ मूलतत्त्वों के वर्णन की प्रामाणिकता को सयुक्ति संस्थापित किया है। वे लिखते हैं :-

"ऐसे विरोध लिए कथन कालदोष तैं भए हैं। इस काल विषैं प्रत्यक्षज्ञानी वा बहुश्रुतनि का तौ अभाव भया अर स्तोकबुद्धि ग्रन्थ करने के अधिकारी भए। तिनकै भ्रम तै कोई अर्थ अन्यथा भासै ताकौ तैसें लिखें अथवा इस काल विषैं केई जैनमत विषैं भी कषायी भए हैं सो तिननें कोई कारण पाय अन्यथा लिख्या है। ऐसें अन्यथा कथन भया है, तातैं जैन शास्त्रनि विषै विरोध भासने लागा[4]।"

यदि अप्रयोजनभूत पदार्थों में कहीं कोई अन्यथा कथन आ भी गया हो तो उससे आत्मा के हित-अहित से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों में विकृति आने की कोई सम्भावना नहीं है

[1] रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अ० १ श्लोक ६

[2] मो० मा० प्र०, १५-२०

[3] वही, ४४५

[4] वही, ४४५

और यदि कदाचित् हो भी जावे तो उसके निराकरण की प्रक्रिया भी स्वतः सक्रिय है। अतः मूल बातों की प्रामाणिकता असंदिग्ध ही है[१]।

गुरु

जैन दर्शन में गुरुत्व की कल्पना कुलादिक की अपेक्षा से नहीं है किन्तु दर्शन, ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा से है। यदि गुरु के स्वरूप को समझने में गलती हुई तो सर्वत्र गलतियाँ सम्भव हैं, क्योंकि ज्ञान का मूल तो गुरु ही है। अतः पंडित टोडरमल ने इसके सम्बन्ध में बहुत सावधान किया है। गुरुता के अभाव में अपने को गुरु मानने वालों के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है[२]। कुल की अपेक्षा अपने को गुरु मानने वालों को लक्ष्य में करके वे कहते हैं :-

"जो उच्च कुल विषैं उपजि हीन आचरन करै तौ वाकौ उच्च कैसे मानिए। जो कुल विषैं उपजनेही तै उच्चपना रहै, तौ मांस-भक्षणादि किए भी वाकौं उच्च ही मानौं सो बनै नाहीं।........तातै धर्म पद्धति विषैं कुल अपेक्षा महंतपना नाही सम्भवै है[३]।"

इसी प्रकार पट्ट पर बैठने, ऊँचा नाम रखने, विभिन्न प्रकार से भेष बनाने का नाम भी गुरुपना नहीं है। इनके कारणों का विश्लेषण करते हुए पंडित टोडरमल लिखते हैं :-

"शास्त्रनि विषैं तो मार्ग कठिन निरूपण किया सो तौ सधै नाहीं अर अपना ऊँचा नाम धराएं बिना लोक मानैं नाहीं, इस अभिप्राय तैं यति, मुनि, आचार्य, उपाध्याय, साधु, भट्टारक, संन्यासी, योगी, तपस्वी,नग्न इत्यादि नाम तौ ऊंचा धरावै हैं अर इनिका आचारनिकौ नाहीं साधि सकैं हैं तातैं इच्छानुसारि नाना भेष बनावैं हैं। बहुरि केई अपनी इच्छानुसारि ही तौ नवीन नाम धरावै हैं अर इच्छानुसारि ही भेष बनावै हैं। ऐसे अनेक भेष धारने तैं गुरुपनौ मानै हैं, सो यहु मिथ्या है[४]।"

---

[१] मो० मा० प्र०, १९-२०

[२] वही, २५८

[३] वही, २५८-५९

[४] वही, २६१-६२

गुरुनामधारी लोगों को लक्ष्य करके वे आगे लिखते हैं :–

"जो शीत उष्णादि सहे न जाते थे, लज्जा न छूटै थी, तौ पाग, जामा इत्यादि प्रवृत्तिरूप वस्त्रादिक त्याग काहे कौं किया ? उनको छोरि ऐसे स्वांग बनावने में कौन धर्म का अंग भया। गृहस्थनि कौं ठिगने के अर्थि ऐसे भेष जाननें। जो गृहस्थ सारिखा अपना स्वांग राखै तौ गृहस्थ कैसें ठिगावै ? पर याकौं उन करि आजीविका वा धनादिक वा मानादिक का प्रयोजन साधना, तातै ऐ स्वांग बनावै है। जगत भोला, तिस स्वांग को देखि ठिगावै अर धर्म्म भया मानें[1]।"

भक्ति

आत्मीय सद्गुणों में अनुराग को भक्ति कहते हैं। आत्मीय गुणों का चरम विकास पंचपरमेष्ठियों में पाया जाता है। अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, ये पांच पंचपरमेष्ठी कहे जाते हैं। अतः इनके प्रति अनुराग ही भक्ति हुई। पंचपरमेष्ठियों में अरहंत और सिद्ध देव है; एवं आचार्य, उपाध्याय और साधु गुरुओं में आते हैं। इनके द्वारा निर्मित जिनागम ही शास्त्र है। अतः प्रकारान्तर से यह भी कह सकते हैं कि देव-गुरु-शास्त्र के प्रति अनुराग ही भक्ति है। अनुराग राग का ही भेद है, यह वीतरागता का कारण नही हो सकता है। वीतरागता शुद्ध भाव रूप है और राग शुभाशुभ भाव रूप। देवगुरु-शास्त्र के प्रति भक्ति शुभ राग है, अतः शुभ भाव रूप है।

जैन दर्शन में भक्ति को मुक्ति का कारण न मान कर पुण्य बंध का कारण माना गया है, क्योंकि वह राग रूप है. और राग बंध का कारण है, मुक्ति का नहीं। अतः जैन दर्शन में ज्ञानी आत्मा का लक्ष्य भक्ति नही है, किन्तु तीव्र राग से बचने के लिए एवं विषय-भोगों के प्रति होने वाले राग से बचने के लिए ज्ञानी जन भी भक्ति में लगते हैं। अज्ञानी जन भक्ति को मुक्ति का कारण जानते हैं, अतः उसमें तीव्रता से लगते देखे जाते हैं[2]।

---

[1] मो० मा० प्र०, २६१

[2] पंचास्तिकाय संग्रह, समयव्याख्या टीका, गाथा १३६

पंडित टोडरमल वीतरागी सर्वज्ञ देव, आत्मानुभवी निर्ग्रन्थ गुरु एवं वीतरागता की पोषक सरस्वती के परम भक्त थे, किन्तु भक्ति के क्षेत्र में अन्ध श्रद्धा उन्हें स्वीकार न थी। वे लिखते हैं :-

"केई जीव भक्ति कौं मुक्ति का कारण जानि तहाँ अति अनुरागी होय प्रवर्त्तें हैं सो अन्यमती जैसे भक्ति तैं मुक्ति मानैं है तैसे याकैं भी श्रद्धान भया। सो भक्ति तौ रागरूप है। राग तैं बन्ध है। तातैं मोक्ष का कारण नाहीं। जब राग का उदय आवै, तब भक्ति न करै तौ पापानुराग होय, तातैं अशुभ राग छोड़ने कौं ज्ञानी भक्ति विषैं प्रवर्तें है[1] वा मोक्षमार्ग कौ बाह्य निमित्तमात्र जानैं हैं। परन्तु यहाँ ही उपादेयपना मानि संतुष्ट न हो है, शुद्धोपयोग का उद्यमी रहै है[1]।"

जैन मान्यतानुसार भगवान् किसी का अच्छा-बुरा नहीं करते हैं और न ही किसी को कुछ देते-लेते हैं। भक्ति मुक्ति का कारण तो है ही नहीं, किन्तु लौकिक लाभ (भोग सामग्री, धनादि की प्राप्ति, शत्रु नाश आदि) की प्राप्ति की इच्छा से की गई भक्ति से पुण्य भी नही बंधता अपितु पापबंध होता है, क्योंकि वस्तुतः वह भगवान् की भक्ति रूप शुभ भाव न हो कर भोगों की चाह रूपी अशुभ भाव है[2]।

भक्ति के नाम पर होने वाली नृत्य, गीत आदि रागवर्द्धक क्रियाओं का भक्ति में कोई स्थान नहीं है। उक्त संदर्भ में वे लिखते है:-

"बहुरि भक्त्यादि कार्यनि विषैं हिंसादिक पाप बधावै वा गीत नृत्य गानादिक वा इष्ट भोजनादिक वा अन्य सामग्रीनि करि विषयनि कौं पोषैं, कुतूहल प्रमादादि रूप प्रवर्तें। तहाँ पाप तौ बहुत उपजावै अर धर्म का किछू साधन नाहीं, तहाँ धर्म मानै सौ सब कुधर्म है[3]।"

दैव और पुरुषार्थ

दैव भाग्य को कहते हैं। पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्म ही भाग्य है व वर्तमान में किये गए प्रयत्न को पुरुषार्थ कहा जाता है। इस प्रकार दैव पूर्वनियोजित है और पुरुषार्थ इचेष्टित। अबुद्धिपूर्वक हुए कार्यों

[1] मो० मा० प्र०, ३२६
[2] वही, ३२५-३२६, ४२६
[3] वही, २७८-७९

में दैव को मुख्यता दी गई है और बुद्धिपूर्वक किए जाने वाले कार्यों में पौरुष प्रधान है[1]। उपदेश सदा बुद्धिपूर्वक किए जाने वाले कार्यों के लिए ही दिया जाता है। अतः पंडित टोडरमल ने अपने साहित्य में सर्वत्र पुरुषार्थ को प्रधानता दी है। उन्होंने कार्योत्पत्ति में काललब्धि, होनहार एवं कर्म की उपशमादि अवस्थाओं को यथास्थान स्वीकार करते हुए पुरुषार्थ पर जोर दिया है। उपदेश का महत्त्व भी मात्र प्रेरणा तक ही सीमित है, कार्यसिद्धि पुरुषार्थ पर ही निर्भर करती है। पुरुषार्थी को अन्य साधन स्वयमेव मिलते हैं, किन्तु पुरुषार्थ का विवेक-पूर्वक सही दिशा में होना अति आवश्यक है।

पंडित टोडरमल के साहित्य में पुरुषार्थ को प्रमुखता प्राप्त है, पर पुरुषार्थ की व्याख्या उनके अनुसार लौकिक मान्यता से हट कर है। लौकिक जनों में पुरुषार्थ प्रायः उन प्रयत्नों को समझा जाता है, जिनका प्रयोग व्यक्ति लौकिक उपलब्धियों के लिए करता है, पर लौकिक उपलब्धियाँ पुरुष-प्रयत्नसापेक्ष हैं ही कब? यदि लौकिक उपलब्धियाँ पुरुष-प्रयत्नसापेक्ष हों, तो फिर जो जितना श्रम करे उसे उतना मिलना चाहिए, किन्तु वस्तुस्थिति बहुलता से इसके विपरीत देखी जाती है। अतः शरीर-मन-वाणी, सौंदर्य, आरोग्य तथा धन-धान्य, स्त्री-पुत्रादि, सभी वस्तुएँ दैवकृत हैं। वर्तमान में आत्मा तो मात्र इनकी उपलब्धि के लिए राग-द्वेष रूप विकल्प मात्र करता है। इनके सम्पादन में इसका कोई अधिकार नहीं है।

वर्तमान जीवन में जो भी लौकिक उपलब्धियाँ होती हैं, वे पूर्व नियोजित दैव के अनुकूल होती हैं, तथा भावी भाग्य की रचना का आधार आत्मा का वर्तमान पुरुषार्थ है। आत्मा का पुरुषार्थ यदि पाप में प्रवर्तित होता है तो उसके निमित्त से पापकर्म का संचय होता है और यदि पुण्य में वर्तन करता है तो पुण्यकर्म संचित होता है। यही पुण्य-पाप कर्म आत्मा का दैव या भाग्य कहलाता है।

जड़ कर्मों के निमित्त से समस्त लौकिक सुख-दुःख की प्राप्ति सम्भव होती है, किन्तु आत्मा के आधीन शाश्वत आनन्द की प्राप्ति

[1] आप्तमीमांसा, श्लोक ९१

न तो पाप-पुण्य के पुरुषार्थ से होती है और न उनके द्वारा संचित कर्मों से अर्थात् भाग्य से। उसकी उपलब्धि तो एक मात्र ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मस्वरूप के प्रति सचेष्ट सम्यक् पुरुषार्थ से ही होती है और इसी आत्मसन्मुख पुरुषार्थ को पंडित टोडरमल ने सच्चा पुरुषार्थ माना है तथा आत्महित रूप कार्य की सिद्धि में इसे ही प्रधान स्थान दिया है।

निमित्त-उपादान

कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। कार्य की उत्पादक सामग्री को ही कारण कहते हैं। कारण दो प्रकार के होते हैं – उपादान कारण और निमित्त कारण। जो स्वयं कार्यरूप परिणमित हो, उसे उपादान कारण कहते हैं। जो स्वयं कार्यरूप परिणमित न हो, परन्तु कार्य की उत्पत्ति में अनुकूल होने का आरोप जिस पर आ सके उसे निमित्त कारण कहते हैं। घट रूप कार्य का मिट्टी उपादान कारण है और चक्र, दण्ड एवं कुम्हार निमित्त कारण हैं।

किसी एक पदार्थ में जब कोई कार्य निष्पन्न होता है तो वहाँ दूसरा पदार्थ भी नियम से विद्यमान होता है जो उस कार्य को उत्पन्न भी नहीं करता, उसमें योग भी नहीं देता, किन्तु उस कार्य की उत्पत्ति के साथ अपनी अनुकूलता रखता है। वस्तुस्थिति के इस नियम को उपादान-निमित्त, सम्बन्ध कहते हैं[१]।

जिस पदार्थ में कार्य निष्पन्न होता है उसे उपादान और उस कार्य को उपादेय अथवा नैमित्तिक कहते हैं तथा संयोगी इतर पदार्थ को निमित्त कहते हैं[२]। एक पदार्थ को ही उपादान की अपेक्षा कथन करने पर उपादेय और निमित्त की अपेक्षा कथन करने पर नैमित्तिक कहा जाता है। निमित्त-उपादान की स्वतन्त्र स्थिति तथा उनका अनिवार्य सहचर – ये दो इसमें मूलभूत तथ्य हैं, जिनमें से एक की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है[३]। निमित्त को बलपूर्वक कार्य के समीप

---

१ कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २१७

२ जैनतत्त्व मीमांसा, ६०

३ उपादान-निमित्त संवाद, दोहा ३

लाना पड़ता हो, ऐसा नहीं है किन्तु जब किसी पदार्थ में कार्य सम्पन्न होता है तो तदनुकूल निमित्त सहज रहता है और उस कार्य का उससे नैमित्तिक-निमित्त सम्बन्ध भी सहज होता है। निमित्त बलपूर्वक उसमें हस्तक्षेप या सहयोग करता हो, ऐसा भी नहीं है। उक्त तथ्य का पंडित टोडरमल ने कई स्थानों पर विभिन्न संदर्भों में उल्लेख किया है। आत्मा में मोह-राग-द्वेष रूप विकारोत्पत्ति, तथा कर्मोदय एवं वाह्य अनुकूल प्रतिकूल सामग्री की उपस्थिति के संदर्भ में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को वे इस प्रकार स्पष्ट करते हैं :-

"इहाँ कोऊ प्रश्न करै कि कर्म्म तो जड़ है किछू बलवान नाहीं, तिनि करि जीव के स्वभाव का घात होना वा बाह्य सामग्री का मिलना कैसे संभवै ? ताका समाधान – जो कर्म आप कर्त्ता होय उद्यम करि जीव के स्वभाव कौं घातै, बाह्य सामग्री कौ मिलावै तब कर्म्म के चेतनपनौं भी चाहिए और बलवानपनौ भी चाहिए सो तौ है नाही, सहज ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जब उन कर्मनि का उदयकाल होय तिस काल विषैं आप ही आत्मा स्वभावरूप न परिणमै, विभाव-रूप परिणमै……… बहुरि जैसें सूर्य का उदय का काल विषैं चकवा चकवीनि का संयोग होय तहाँ रात्रि विषै किसी नै द्वेषबुद्धि तै जोरावरि करि जुदे किए नाहीं। दिवस विषैं काहू ने करुणाबुद्धि ल्याय करि मिलाए नाहीं। सूर्य उदय का निमित्त पाय आपही मिलै है अर सूर्यास्त का निमित्त पाय आप ही बिछुरैं हैं, ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक बनि रह्या है। तैसें ही कर्म्म का भी निमित्त-नैमित्तिक भाव जानना[1]।"

उपादान निमित्त का सही ज्ञान न होने पर व्यक्ति अपने द्वारा कृत कार्यों (अपराधों) का कर्त्तृत्व निमित्त पर थोप कर स्वयं निर्दोष बना रहना चाहता है, पर जैसे चोर स्वयंकृत चोरी का आरोप चाँदनी रात के नाम पर मढ़ कर दंड-मुक्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार आत्मा भी अपने द्वारा कृत मोह-राग-द्वेष भावों का कर्त्तृत्व कर्मों पर थोप कर दुःख मुक्त नहीं हो सकता है। उक्त स्थिति में स्वदोषदर्शन और आत्मनिरीक्षण की प्रवृत्ति की ओर दृष्टि भी नहीं जाती है।

[1] मो० मा० प्र०, ३७

सम्यग्ज्ञान

जीवादि सप्त तत्त्वों का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है[१]। परस्पर विरुद्ध अनेक कोटि को स्पर्श करने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं। जैसे – वह सीप है या चाँदी ? विपरीत एक कोटि के निश्चय करने वाले ज्ञान को विपर्यय कहते हैं। जैसे – सीप को चाँदी जान लेना। 'यह क्या है' ? या 'कुछ है' केवल इतना अरुचि और अनिर्णयपूर्वक जानने को अनध्यवसाय कहते हैं। जैसे – आत्मा कुछ होगा[२]।

जीवादि सप्त तत्त्वों का विस्तृत वर्णन जैन शास्त्रों में किया गया है। जैन शास्त्रों का वस्तुस्वरूप के कथन करने का अपना एक तरीका है, उसे जाने बिना उनका मर्म नहीं समझा जा सकता है। समस्त जिनागम में निश्चय व्यवहार रूप कथन है[३]। निश्चय और व्यवहार ये दो नय के भेद है। जैनागम का रहस्य जानने के लिए इनका स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है। इनके सही स्वरूप को न समझ पाने के कारण अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिनका विस्तृत वर्णन पंडित टोडरमल ने किया है।

निश्चय और व्यवहार नय

निश्चय नय भूतार्थ है, सत्यार्थ है, क्योंकि वह वस्तु के सत्य (शुद्ध) स्वरूप का उद्‌घाटन करता है। व्यवहार नय अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, क्योंकि वह वस्तु के असत्य (संयोगी, अशुद्ध) स्वरूप का कथन करता है[४]। जैसे – जीव व देह एक हैं, यह कथन व्यवहार नय का है और जीव व देह एक नहीं हैं, भिन्न-भिन्न हैं, यह कथन निश्चय नय का है[५]। यहाँ जीव और शरीर के संयोग को देख कर

---

[१] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ३५

[२] न्यायदीपिका, २

[३] मो० मा० प्र०, २८३

[४] (क) समयसार, गाथा ११
(ख) समयसार, आत्मख्याति टीका, गाथा ११
(ग) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ५

[५] समयसार, गाथा २७

उन्हें एक कहा गया है, अतः यह व्यवहार कथन हुआ तथा जीव और शरीर एक क्षेत्र में रहने पर भी वे वस्तुतः भिन्न ही हैं, अतः यह असंयोगी कथन होने से निश्चय कथन हुआ। व्यवहार नय को निषेध्य और निश्चय नय को निषेधक कहा गया है[1]। पंचाध्यायीकार पंडित राजमलजी पांडे लिखते हैं :-

"व्यवहार नय स्वयं ही मिथ्या उपदेश देता है, अतः मिथ्या है और इसी से वह प्रतिषेध्य है। इसीलिए व्यवहार नय पर दृष्टि रखने वाला मिथ्यादृष्टि माना गया है। तथा निश्चय नय स्वयं भूतार्थ होने से समीचीन है और इसका विषय निर्विकल्पक या वचन अगोचर के समान अनुभवगम्य है, अथवा जो निश्चय दृष्टि वाला है वही सम्यग्दृष्टि है और वही कार्यकारी है। अतः निश्चय नय उपादेय है किन्तु उसके सिवाय अन्य नयवाद उपादेय नहीं है[2]।"

कुन्दकुन्दाचार्य देव ने निश्चय नय से जाने हुए जीवादि सप्त तत्त्वों को सम्यग्दर्शन कहा है[3] और निश्चय नय का आश्रय लेने वाले मुनिवरों को ही निर्वाण प्राप्त होना बताया है[4]। व्यवहार नय का कथन अज्ञानी जीवों को समझाने के लिए किया गया है[5]। जिस प्रकार म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा के बिना समझाना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार व्यवहार के बिना निश्चय का उपदेश सम्भव नहीं है, अतः जिनवाणी मे व्यवहार का कथन आया है। म्लेच्छ को समझाने के लिए भले ही म्लेच्छ भाषा का आश्रय लेना पड़े पर म्लेच्छ हो जाना तो ठीक नहीं, उसी प्रकार निश्चय का प्रतिपादक होने से भले व्यवहार से कथन हो पर उसका अनुकरण करना तो ठीक नहीं[6]। निश्चय-व्यवहार की उक्त स्थिति को पंडित टोडरमल ने विस्तार से

---

[1] समयसार, गाथा २७२

[2] पंचाध्यायी, अ० १ श्लोक ६२८-३०

[3] समयसार, गाथा १३

[4] वही, २७२

[5] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ६

[6] समयसार, आत्मख्याति टीका, २०-२१

सहज व सरल भाषा में जन-जन तक पहुँचाया है[१]। उनके विश्लेषण का संक्षिप्त सार इस प्रकार है :–

सच्चे निरूपण को निश्चय और उपचरित निरूपण को व्यवहार कहते हैं[२]। एक ही द्रव्य के भाव को उस रूप ही कहना निश्चय नय है और उपचार से उक्त द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भाव स्वरूप कहना व्यवहार नय है। जैसे – मिट्टी के घड़े को मिट्टी का कहना निश्चय नय का कथन है और घी का संयोग देखकर घी का घड़ा कहना व्यवहार नय का कथन है[३]। जिस द्रव्य की जो परिणति हो, उसे उस ही की कहने वाला निश्चय नय है और उसे ही अन्य द्रव्य की कहने वाला व्यवहार नय है[४]। व्यवहार नय स्वद्रव्य को, परद्रव्य को व उनके भावों को व कारण कार्यादिक को किसी को किसी में मिला कर निरूपण करता है तथा निश्चय नय उन्ही को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नही मिलाता है[५]। अतः निश्चय नय सत्यार्थ और व्यवहार नय असत्यार्थ है।

वस्तुतः निश्चय नय और व्यवहार नय वस्तु के भेद न होकर समझने और कथन करने की शैली के भेद हैं। जैसे – एक खादी की टोपी है। टोपी तो एक ही है, पर उसका कथन दो प्रकार से हो सकता है और प्रायः होता भी है। यह टोपी किसकी है ? इस प्रश्न के दो उत्तर सम्भव है, खादी की और नेताजी की। इन दोनों उत्तरों में कौन सा उत्तर सही है ? वस्तुतः टोपी तो खादी की ही है किन्तु इसे नेताजी पहनते हैं, अतः संयोग देखकर नेताजी की भी कही जा सकती है। टोपी को खादी की कहना निश्चय नय का कथन है और नेताजी की कहना व्यवहार नय का।

यदि इसी तथ्य को मोक्षमार्ग को ध्यान में रख कर देखें तो इस प्रकार कहा जावेगा – मोक्षमार्ग दो नही हैं, मोक्षमार्ग का कथन

---

[१] मो० मा० प्र०, ३६५–३७८
[२] वही, ३६६
[३] वही, ३६७
[४] वही, ३६८
[५] वही, ३६९

दो प्रकार से है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग कहा जाय वह निश्चय मोक्षमार्ग है और जो मोक्षमार्ग नहीं है किन्तु मोक्षमार्ग का सहचारी या निमित्त है, उसे मोक्षमार्ग कहना व्यवहार मोक्षमार्ग है[1]।

वस्तुस्वरूप के सही ज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि हम निश्चय नय के कथन को सही जान कर उसका श्रद्वान करें और व्यवहार नय के द्वारा किये गए कथन को प्रयोजनवश किया गया उपचरित कथन जान कर उसका श्रद्वान छोड़ें[2]।

व्यवहार नय असत्यार्थ और हेय है फिर भी उसे जैन शास्त्रों में स्थान प्राप्त है, क्योंकि व्यवहार स्वय सत्य नहीं है फिर भी सत्य की प्रतीति और अनुभूति में निमित्त है। प्रारम्भिक भूमिका में व्यवहार की उपयोगिता है क्योकि वह निश्चय का प्रतिपादक है। जैसे – हिमालय पर्वत से निकल कर बगाल की खाड़ी में गिरने वाली सैकड़ों मील लम्बी गंगा नदी की लम्बाई तो क्या चौड़ाई को भी आँख से नहीं देखा जा सकता है। अतः उसकी लम्बाई-चौड़ाई और बहाव के मोड़ों को जानने के लिए हमें नक्शे का सहारा लेना पड़ता है। पर जो गंगा नक्शे में है वह वास्तविक नही है, उससे तो मात्र गंगा को समझा जा सकता है, उससे कोई पथिक प्यास नही बुझा सकता है, प्यास बुझाने के लिए असली गंगा के किनारे ही जाना होगा। उसी प्रकार व्यवहार द्वारा कथित वचन नक्शे की गंगा के समान हैं। उनसे समझा जा सकता है पर उनके आश्रय से आत्मानुभूति प्राप्त नहीं की जा सकती है। आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए निश्चय नय के विषय भूत शुद्धात्मा का ही आश्रय लेना आवश्यक है। अतः व्यवहार नय तो मात्र जानने (समझने) के लिए प्रयोजनवान है।

व्यवहार नय मात्र दूसरों को ही समझाने के लिए ही उपयोगी नहीं वरन् जब तक स्वय निश्चय नय द्वारा वर्णित वस्तु को न पहिचान सके तब तक व्यवहार द्वारा वस्तु को स्वयं समझना भी उपयोगी है। व्यवहार को उपचार मात्र मान कर उसके द्वारा मूलभूत वस्तु का

[1] मो० मा० प्र०, ३६५–३६

[2] वही, ३६८–३६६

निर्णय करना उपयोगी है। व्यवहार को निश्चय के समान सत्य समझ लेना उपयुक्त नहीं है[1]।

जैनाभास

बहुत से लोग जैन कुल में उत्पन्न होते हैं, जैन धर्म की वाह्य श्रद्धा रखते हैं तथा जैन शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन भी करते हैं, फिर भी जैन दर्शन का मर्म नही समझ पाने से तत्त्व से अछूते रह जाते हैं एवं उनके जीवन में अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं[2]। वे सब जैनाभास है।

नय (निश्चय नय और व्यवहार नय) सम्वन्धी अज्ञान के कारण भ्रम में पड़े जैनाभासों को पंडित टोडरमल ने तीन भागों में विभाजित किया है :–

(१) निश्चयाभासी (२) व्यवहाराभासी (३) उभयाभासी

आत्मा के शुद्ध स्वरूप को समझे बिना आत्मा को सर्वथा शुद्ध मानने वाले स्वच्छन्द निश्चयाभासी हैं। व्यवहार व्रत, शील, संयमादि रूप शुभ भावों में आत्मा का हित मान कर उनमें ही लीन रहने वाले मोहमग्न व्यवहारभासी हैं। निश्चय-व्यवहार के सही स्वरूप को समझे बिना ही दोनों को एकसा सत्य मान कर चलने वाले उभयाभासी हैं[3]। उक्त भेदों में से निश्चयाभासी और व्यवहाराभासी जीवों की

---

[1] मो० मा० प्र०, ३७२

[2] वही, २८३

[3] कोउ नय निश्चय से आतमा को शुद्ध मान,
भये हैं सुछन्द न पिछाने निज शुद्धता।
कोऊ व्यवहार दान, शील, तप, भाव कौं ही,
आतम को हित जान, छांड़त न मुद्धता।
कोऊ व्यवहार नय निश्चय के मारग कौ,
भिन्न भिन्न पहिचान करै निज उद्धता।
जब जाने निश्चय के भेद व्यवहार सब,
कारण ह्वै उपचार माने तब बुद्धता।।
– पु० भा० टी०, मंगलाचरण, छन्द ५

चर्चा आचार्य अमृतचन्द्र ने पंचास्तिकाय संग्रह की 'समयव्याख्या' नामक संस्कृत टीका में की है[1], किन्तु बहुत संक्षेप में। उभयाभासी की चर्चा तो वहाँ भी नहीं है। यह तो पंडितजी की मौलिक देन है। जिस प्रकार विस्तृत, स्पष्ट और मनोवैज्ञानिक विवेचन पंडित टोडरमल ने इन सब का किया है, वैसा अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिलता। उक्त भेदों का पृथक्-पृथक् विवेचन अपेक्षित है।

निश्चयाभासी

निश्चय नय वस्तु के शुद्ध स्वरूप का कथन करता है, अतः निश्चय नय की अपेक्षा से शास्त्रों में आत्मा को शुद्ध-बुद्ध, निरंजन, एक, कहा गया है; वहाँ शुद्ध-बुद्ध, निरंजन और एक शब्द अपने विशिष्ट अर्थ को लिये हुए है। यह सब कथन आत्म-स्वभाव को लक्ष्य करके किया गया है। उक्त कथन का ठीक-ठीक भाव समझे बिना वर्तमान में प्रगट रागी-द्वेषी होते हुए भी अपने को शुद्ध (वीतरागी) एवं अल्पज्ञानी होकर भी बुद्ध (केवलज्ञानी) मानने वाले जीव निश्चयाभासी हैं। जब वे अपने को शुद्ध-बुद्ध कल्पित कर लेते हैं तो स्वच्छन्द हो जाते हैं, बाह्य सदाचार का निषेध करने लगते हैं। कहते है – शास्त्राभ्यास निरर्थक है, द्रव्यादि के विचार विकल्प है, तपश्चरण करना व्यर्थ क्लेश है, व्रतादि बंधन है और पूजनादि शुभ कार्य बंध के कारण है[2]।

जिनवाणी में निश्चय नय की अपेक्षा से उक्त कथन आते हैं, पर वे शुभोपयोग और बाह्य क्रियाकाण्ड को ही मोक्ष का कारण मानने वाले और शुद्धोपयोग को नही पहिचानने वालों को लक्ष्य में रख कर किये गए हैं। इस सम्बन्ध में पंडित टोडरमल लिखते है :–

"जे जीव शुभोपयोग कौ मोक्ष का कारण मानि उपादेय मानै हैं, शुद्धोपयोग कौ नाहीं पहिचानैं हैं, तिनिकौ शुभ-अशुभ दोउनि कौ अशुद्धता की अपेक्षा वा बंध कारण की अपेक्षा समान दिखाए हैं, बहुरि शुभ-अशुभनि का परस्पर विचार कीजिए, तौ शुभ भावनि विषैं

---

[1] पंचास्तिकाय संग्रह, ३६१–३६६

[2] मो० मा० प्र०, २६३–२६४

कषाय मंद हो है, तातैं बंध हीन हो है। अशुभ भावनि विषैं कषाय तीव्र हो है, तातैं बंध बहुत हो है। ऐसें विचार किए अशुभ की अपेक्षा सिद्धान्त विषैं शुभ कौ भला भी कहिए है। जैसें रोग तौ थोरा व बहुत बुरा ही है। परन्तु बहुत रोग की अपेक्षा थोरा रोग कौं भला भी कहिए[१]।"

जिनवाणी में सर्वत्र निश्चय नय की अपेक्षा से कथन करते हुए व्रत, शील, संयमादि वाह्य प्रवृत्ति और शुभ भाव को बंध का कारण बता कर आत्मज्ञान और आत्मध्यान में प्रवृत्ति करने की प्रेरणा दी गई है, क्योंकि वस्तुतः मुक्ति का कारण एक मात्र शुद्धोपयोग ही है। साथ ही स्वच्छन्द होने और अशुभ भाव में जाने का भी सर्वत्र निषेध किया गया है। निश्चयाभासी जीव आत्मा के शुद्ध स्वरूप को तो पहिचान नहीं पाते एवं अध्यात्म शास्त्रों में निश्चय नय की प्रधानता से किये गए कथनों को पकड़ कर शुभ भावों एवं वाह्याचार का निषेध कर स्वच्छन्द हो जाते है।

व्यवहाराभासी

व्यवहार नय वस्तु के शुद्ध स्वरूप का कथन न करके संयोगी कथन करता है। जैनागम में व्यवहार नय की मुख्यता से बहुत सा कथन है जो सब का सब प्रयोजन विशेष से किया गया है। उक्त कथन का प्रयोजन पहिचाने बिना वाह्य व्यवहार साधन में ही धर्म की कल्पना कर लेने वाले व्यवहाराभासी हैं। व्यवहाराभासी जैनियों की प्रवृत्तियाँ अनेक प्रकार की देखी जाती हैं।

कुछ लोग कुल अपेक्षा धर्म मानते हैं। जैन धर्म का स्वरूप जानने का प्रयत्न न करके जैन कुल में उत्पन्न हुए हैं, अतः कुलानुकूल आचरण करते हैं और अपने को जैन मान लेते है[२], किन्तु धर्म का कुल से कोई सम्बन्ध नहीं है। हो सकता है उनका आचरण जैन धर्मानुकूल हो पर उन्होंने उसे जैन दर्शन के मर्म को समझ कर स्वीकार नहीं किया है, किन्तु कुलक्रम में चली आई प्रवृत्ति को

[१] मो० मा० प्र०, ३०१

[२] वही, ३१४

कुलीनता के अर्थ में अपनाया है। इस सम्बन्ध में पं० टोडरमल लिखते हैं :-

"जो साँचा भी धर्म को कुलाचार जानि प्रवर्तें है, तौ वाकौं धर्मात्मा न कहिए। जातैं सर्व कुल के उस आचरण को छोड़ें, तौ आप भी छोड़ि दे। बहुरि जो वह आचरण करै है, सो कुल का भय करि करै है। किछू धर्म बुद्धितैं नाहीं करै है, तातैं वह धर्मात्मा नाही। तातैं विवाहादि कुल सम्बन्धी कार्यनि विषैं तौ कुलक्रम का विचार करना और धर्म सम्बन्धी कार्य विषैं कुल का विचार न करना[१]।"

हम जैन हैं, अतः जैनशास्त्रों में जो लिखा है उसे ही सत्य मानते हैं और उनकी ही आज्ञा में चलते हैं। ऐसा मानने वाले आज्ञानुसारी जैनाभास हैं। बिना परीक्षा किए एवं विना हिताहित का विचार किए कोरी आज्ञाकारिता गुलाम मार्ग है।

धर्म परम्परा नहीं, स्वपरीक्षित साधना है। पंडित टोडरमल बिना परीक्षण सत्य को भी स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं, वे परीक्षाप्रधानी हैं। 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' उन्हें स्वीकार नही है। वे परीक्षोपरान्त आज्ञा को स्वीकार करना उपयुक्त मानते है। वे स्पष्ट कहते हैं :-

"तातैं परीक्षा करि जिन वचननि कौ सत्यपनौ पहिचानि जिन आज्ञा माननी योग्य है। बिना परीक्षा किए सत्य असत्य का निर्णय कैसे होय[२] ?"

धार्मिक अंधविश्वास उन्हें पसंद नही। तर्क की तुला पर जो हल्का सिद्ध हो वह उन्हें मान्य नही है और वह किसी भी सत्यान्वेषी को मान्य नहीं हो सकता।

आजीविका, मान, बड़ाई आदि लौकिक प्रयोजन सिद्ध करने के लिए धर्म साधन करने वाले व्यक्ति भी धर्म के मर्म को समझने में असमर्थ रहते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि तत्त्व की गहराई में न जाकर अपने लौकिक स्वार्थ सिद्धि की ओर रहती है। धर्मात्मा के लौकिक

---

[१] मो० मा० प्र०, ३१५

[२] वही, ३१६

कार्य सहज ही सधें तो सधें, पर उनके लक्ष्य से धर्म साधन करना ठीक नहीं है। उक्त सम्बन्ध में पंडित टोडरमल ने लिखा है :-

"जो आप तौ किछू आजीविका आदि का प्रयोजन विचारि धर्म नाहीं साधै है, आपकौं धर्मात्मा जानि केई स्वयमेव भोजन उपकारादि करै हैं, तौ किछू दोष है नाही। बहुरि जो आप ही भोजनादिक का प्रयोजन विचारि धर्म साधै है, तो पापी है ही।···अर आप ही आजीविका आदि का प्रयोजन विचारि बाह्य धर्म साधन करै, जहाँ भोजनादिक उपकार कोई न करै, तहाँ संक्लेश करै, याचना करै, उपाय करै वा धर्म साधना विषैं शिथिल होय जाय, सो पापी ही जानना[1]।"

कुल परम्परा, देखादेखी, आज्ञानुसारी एवं लोभादि के अभिप्राय से धर्म साधना करने वाले व्यवहाराभासी जीवों की प्रवृत्ति का पंडित टोडरमल ने बड़ा ही मार्मिक चित्र खींचा है :-

"तहाँ केई जीव कुल प्रवृत्ति करि वा देख्यां देखी लोभादि का अभिप्राय करि धर्म साधै हैं, तिनिकै तौ धर्मदृष्टि नाहीं। जो भक्ति करै हैं तौ चित्त तौ कही है, दृष्टि फिरचा करै है। अर मुखतैं पाठादि करै हैं वा नमस्कारादि करै हैं। परन्तु यहु ठीक नाहीं – मैं कौन हूँ, किसकी स्तुति करूँ हूँ, किस प्रयोजन के अर्थि स्तुति करूँ हूँ, पाठ विषैं कहा अर्थ है, सो किछू ठीक नाहीं। बहुरि कदाचित् कुदेवादिक की भी सेवा करने लगि जाय। तहाँ सुदेव, सुगुरु, सुशास्त्रादि वा कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्रादि विषै विशेष पहिचान नाहीं। बहुरि जो दान दे है, तौ पात्र अपात्र का विचार रहित जैसें अपनी प्रशंसा होय तैसें दान दे है। बहुरि तप करै है तौ भूखा रहने करि महंतपनौ होय सो कार्य करै है। परिणामनि की पहिचान नाहीं। बहुरि व्रतादिक धारै हैं, तहाँ बाह्य क्रिया ऊपर दृष्टि है। सो भी कोई साँची क्रिया करै है, कोई झूठी करै है। अर अंतरंग रागादि भाव पाइए है, तिनिका विचार ही नाहीं वा बाह्य भी रागादि पौषने का साधन करै है। बहुरि पूजा प्रभावना आदि कार्य करै है। तहाँ जैसे लोक विषैं बड़ाई होय वा विषय-कषाय

---

[1] मो० मा० प्र०, ३२२

पोषे जाँय, तैसे कार्य करै है। बहुरि हिंसादिक निपजावै है। सो ए कार्य तौ अपना वा अन्य जीवनि का परिणाम सुधारने के अर्थि कहे हैं। बहुरि तहाँ किंचित् हिंसादिक भी निपजै है, तौ थोरा अपराध होय, गुण बहुत होय सो कार्य करना कह्या है। सो परिणामनि की पहचान नाहीं। अर यहाँ अपराध केता लागै है, गुण केता हो है, सो नफा-टोटा का ज्ञान नाहीं वा विधि-अविधि का ज्ञान नाहीं। बहुरि शास्त्राभ्यास करै है। तहाँ पद्धति रूप प्रवर्तै है। जो वांचै है तौ औरनि कों सुनाय दे है। जो पढ़े है तौ आप पढ़ि जाय है। सुनै है तौ कहै है सो सुनि ले है। जो शास्त्राभ्यास का प्रयोजन है, ताकौ आप अन्तरंग विषैं नाहीं अवधारे है। इत्यादि धर्मकार्य्यनि का मर्म कौ नाहीं पहिचाने। केईकै तौ कुल विषैं जैसें बड़े प्रवर्त्तें, तैसें हमकौं भी करना अथवा और करै हैं, तैसे हमकौं भी करना वा ऐसें किए हमारा लोभादिक की सिद्धि होगी, इत्यादि विचार लिएं अभूतार्थ धर्म कौ साधै हैं[1]।"

उभयाभासी

ये वे लोग हैं जिनकी समझ में निश्चय-व्यवहार का सच्चा स्वरूप तो आया नहीं है,पर सोचते है कि जैन दर्शन में दोनों नयों का उल्लेख है, अतः हमें दोनों नयों को ही स्वीकार करना चाहिए। निश्चय-व्यवहार का सही ज्ञान न होने से निश्चयाभासी के समान निश्चय नय को और व्यवहाराभासी के समान व्यवहार नय को स्वीकार कर लेते हैं। यद्यपि बिना अपेक्षा समझे इस प्रकार स्वीकार करने में दोनों नयों में परस्पर विरोध स्पष्ट प्रतीत होता है, तथापि करें क्या? इनकी मानसिक स्थिति का चित्रण पंडित टोडरमल ने इस प्रकार किया है:–

"यद्यपि ऐसें अंगीकार करने विषें दोऊ नयनि विषें परस्पर विरोध है तथापि करै कहा, साँचा तो दोऊ नयनि का स्वरूप भास्या नाहीं अर जिनमत विषै दोय नय कहे, तिनि विषें काहू कौ छोड़ी भी जाती नाही। तातें भ्रम लिए दोऊनि का साधन साधै है, ते भी जीव मिथ्यादृष्टि जाननें[2]।"

---

[1] मो० मा० प्र०, ३२२–२४
[2] वही, ३६५

इस प्रकार इनमें कम या अधिक रूप में प्रायः वही दोष पाए जाते हैं जो कि निश्चयाभासी और व्यवहाराभासियों में पाए जाते हैं।

नयकथनों का मर्म और उनका उपयोग

जैन शास्त्रों में यथास्थान सर्वत्र निश्चय व्यवहार रूप कथन है। जैसे औषधि-विज्ञान सम्बन्धी शास्त्रों में अनेक प्रकार की औषधियों का वर्णन होता है। पर प्रत्येक औषधि हर एक रोगी के काम की नहीं होती है, विशेष रोग एवं व्यक्ति के लिए विशेष औषधि विशिष्ट अनुपात के साथ निश्चित मात्रा में ही उपयोगी होती है। यही बात शास्त्रों के कथनों पर भी लागू होती है। अतः उनके सही भाव को पहिचान कर अपने लिए हितकर उपदेश को मानना उपयुक्त है, अन्यथा गलत औषधि के सेवन के समान लाभ के स्थान पर हानि की संभावना अधिक रहती है[1]।

जैन शास्त्रों में अनेक प्रकार उपदेश है। बुद्धि और भूमिकानुसार उपदेश ग्रहण करने पर लाभ होता है। शास्त्रो में कहीं निश्चयपोषक उपदेश है, कही व्यवहारपोषक। कोई पहिले से ही निश्चयपोषक बात सुनकर स्वच्छन्द हो रहा था, बाद में जिनवाणी में निश्चयपोषक उपदेश पढ़ कर और भी स्वच्छन्द हो जाय तो बुरा ही होगा। इसी प्रकार कोई पहिले से ही आत्मज्ञान की ओर से उदास होकर क्रियाकाण्ड में मग्न था, बाद में जिनवाणी में व्यवहारपोषक कथन पढ़ कर और भी क्रियाकाण्डी हो जाय तो बुरा ही होगा[2]। अतः यदि हमारे जीवन में हमें व्यवहार का आधिक्य दिखाई दे तो निश्चयपोषक उपदेश हितकर होगा और यदि स्वच्छन्दता की ओर झुकाव हो तो व्यवहारपोषक उपदेश हितकर होगा। अतः जिनवाणी के मर्म को अत्यन्त सावधानीपूर्वक उसकी शैली के अनुसार ही समझने का यत्न करना चाहिए[3]।

---

[1] मो० मा० प्र०, ४३६

[2] वही, ४३६–४४०

[3] वही, ४४३

चार अनुयोग

जैन शास्त्रों का एक वर्गीकरण चार अनुयोगों के रूप में भी किया गया है[1] :-

(१) प्रथमानुयोग
(२) करणानुयोग
(३) चरणानुयोग
(४) द्रव्यानुयोग

अनुयोगों की कथन-शैली आदि का सामान्य वर्णन तो पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों में मिलता है, पर वह अति संक्षेप में है। पंडित टोडरमल ने उक्त अनुयोगों की कथन-पद्धति का विश्लेषण बड़ी बारीकी एवं विस्तार से किया है। उनका विश्लेषण मौलिक एवं तर्कपूर्ण है। उन्होंने प्रत्येक अनुयोग की परिभाषा, प्रयोजन, व्याख्यान का विधान, व्याख्यान-पद्धति और अभ्यासक्रम का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। प्रत्येक अनुयोग के सम्बन्ध में उठने वाली दोष-कल्पनाओं को स्वयं उठा-उठाकर उनका निराकरण प्रस्तुत किया है। अनुयोगों के कथन में परस्पर प्रतीत होने वाले विरोधाभासों का, स्वयं शंकाएँ उपस्थित करके, समुचित समाधान करने का सफल प्रयास किया है।

अब हम प्रत्येक अनुयोग के सम्बन्ध में उनके द्वारा प्रस्तुत विचारों का परिचयात्मक अनुशीलन प्रस्तुत करेंगे।

प्रथमानुयोग

जिन शास्त्रों में महापुरुषों के चरित्रों द्वारा पुण्य-पाप के फल का वर्णन होता है और वीतरागता को हितकर बताया जाता है, उन्हें प्रथमानुयोग के शास्त्र कहते हैं। इनका प्रयोजन संसार की विचित्रता और पुण्य-पाप का फल दिखा कर तथा महापुरुषों की प्रवृत्ति बता कर प्रथम भूमिका वालों को सन्मार्ग दिखाना है[2]।

---

[1] रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अ० २ श्लोक ४२–४६

[2] मो० मा० प्र०, ३९४

उक्त प्रयोजन की सिद्धि हेतु इनमें पौराणिक मूल आख्यानों के साथ-साथ काल्पनिक कथाएँ भी लिखी जाती हैं तथा प्रयोजन अनुसार उनका संक्षेप-विस्तार भी किया जाता है[१]। कहीं-कहीं धर्मबुद्धिपूर्वक किये गए अनुचित कार्यों की भी प्रशंसा कर दी जाती हैं। जैसे विष्णुकुमार मुनि द्वारा किये गए बलि-बंधन एवं ग्वाले द्वारा मुनि को तपाये जाने की प्रशंसा की है। उक्त कार्य उनकी भूमिकानुसार योग्य नहीं थे, किन्तु प्रयोजनवश प्रशंसा की है[२]। बहुत से लोग प्रथमानुयोग की पद्धति को नहीं जानते हैं, अतः उक्त कार्यों को आदर्श व अनुकरणीय मान लेते हैं। पंडित टोडरमल ने ऐसी प्रवृत्तियों के प्रति सावधान किया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि मुनि विष्णुकुमार के बहाने और मुनियों को ऐसे कार्य करना ठीक नहीं है। इसी प्रकार ग्वाले की प्रशंसा सुन कर और गृहस्थों को मुनियों को तपाना आदि धर्मपद्धति के विरुद्ध कार्य करना योग्य नहीं है।

प्रथमानुयोग में काव्यशास्त्रीय परम्परा के नियमानुसार कथन किया जाता है, क्योंकि काव्य में कही गई बात अधिक असरकारक तथा मनोरंजक होती है[३]।

प्रथमानुयोग में कहीं-कहीं कर्त्तव्य विशेष की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए अल्प शुभ कार्य का फल बढ़ा-चढ़ाकर भी बता दिया जाता है तथा पाप कार्यों के प्रति हतोत्साह करने के लिए अल्प पाप का फल भी बहुत खोटा बता दिया जाता है, क्योंकि अज्ञानी जीव बहुत फल दिखाए बिना धर्म कार्य के प्रति उत्साहित नहीं होते तथा पाप कार्य से डरते नहीं है। यह कथन पूर्ण सत्य न होकर भी प्रयोजन अपेक्षा ठीक है क्योंकि पाप का फल बुरा और धर्म का फल अच्छा ही दिखाया गया है[४], किन्तु उक्त कथन को तारतम्यरूप मानने के प्रति सचेत भी किया गया है[५]।

---

[१] मो० मा० प्र०, ३९८-३९९

[२] वही, ४०२

[३] वही, ४२१

[४] वही, ३९९-४००

[५] वही, ४०१

करणानुयोग

करणानुयोग में गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि रूप जीव का तथा कर्मों का और तीन लोक सम्बन्धी भूगोल का वर्णन होता है[१]। गणना और नाप आदि का विशेष वर्णन होने से इसमें गणित की मुख्यता रहती है[२]। इसमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों का स्थूल बुद्धिगोचर कथन होता है। जैसे जीवों के भाव तो अनन्त प्रकार के होते हैं, वे सब तो कहे नहीं जा सकते, अतः उनका वर्गीकरण चौदह भागों में करके चौदह गुणस्थान रूप वर्णन किया है। इसी प्रकार कर्म परमाणु तो अनन्त एवं अनन्तानन्त प्रकार की शक्तियों से युक्त हैं, पर उन सब का कथन तो सम्भव नहीं है, अतः उनका भी वर्गीकरण आठ कर्मों एवं एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों के रूप में किया गया है[३]।

इसमें अधिकांश कथन तो केवलज्ञानी द्वारा कथित[४] निश्चय कथन है, किन्तु कहीं-कहीं उपदेश की अपेक्षा व्यवहार कथन भी है, उसको तारतम्य रूप से सत्य मान लेने के प्रति पंडित टोडरमल ने सावधान किया है तथा कहीं-कहीं स्थूल कथन को भी पूर्ण तारतम्य रूप से सत्य मान लेने के प्रति भी सचेत किया है[५]।

चरणानुयोग

गृहस्थ और मुनियों के आचरण-नियमों का वर्णन चरणानुयोग के शास्त्रों में होता है[६]। इसमें सुभाषित नीतिशास्त्रों की पद्धति मुख्य है[७] तथा इसमें स्थूल बुद्धिगोचर कथन होता है। जीवों को पाप से छुड़ा कर धर्म में लगाना इसका मूल प्रयोजन है व उनका जीवन नैतिक और सदाचार से युक्त हो, यह इसका मुख्य उद्देश्य है। इसमें

---

[१] मो० मा० प्र०, ३९३, ३९५
[२] वही, ३९६, ४२१
[३] वही, ४०३
[४] वही, ४०३
[५] वही, ४०६
[६] वही, ३९३
[७] वही, ४२१

प्रायः व्यवहार नय की मुख्यता से कथन किया जाता है। कहीं-कहीं निश्चय सहित व्यवहार का भी उपदेश होता है[१]। व्यवहार उपदेश में तो वाह्य क्रिया की ही प्रधानता रहती है, किन्तु निश्चय सहित व्यवहार के उपदेश में परिणामों के सुधारने पर विशेष बल दिया जाता है[२]।

यद्यपि कषाय करना बुरा ही है तथापि सर्व कषाय छूटते न जान कर चरणानुयोग में तीव्र कषाय छोड़ कर मंद कषाय करने का भी उपदेश दिया जाता है[३], किन्तु पुष्टि अकषाय भाव की ही करते हैं। तीव्र कषायी जीवों को कषाय उत्पन्न करके भी पाप कार्यों से विरक्त कर धर्म कार्यों की ओर प्रेरित करते हैं। जैसे पाप का फल नरकादि के दुःख दिखा कर भय उत्पन्न कराते हैं और स्वर्गादिक के सुख का लोभ दिखा कर धर्म की ओर प्रेरित करते हैं[४]। वाह्याचार का समस्त विधान चरणानुयोग का मूल वर्ण्य-विषय है। परिणामों की निर्मलता के लिए वाह्य व्यवहार की भी शुद्धि आवश्यक है[५]।

द्रव्यानुयोग

द्रव्यानुयोग में षट् द्रव्य, सप्त तत्त्व और स्वपर-भेदविज्ञान का वर्णन होता है। द्रव्यानुयोग में प्रत्येक कथन सबल युक्तियों से सिद्ध व पुष्ट किया जाता है एवं उपयुक्त उदाहरणों द्वारा विषय स्पष्ट किया जाता है; पाठक को विषय हृदयंगम कराने के लिए विषय की पुष्टि में आवश्यक प्रमाण प्रस्तुत किए जाते हैं; पाठक की तत्सम्बन्धी समस्त जिज्ञासाओं का तर्कसंगत समाधान प्रस्तुत किया जाता है; क्योंकि इस अनुयोग का प्रयोजन वस्तुस्वरूप का सच्चा श्रद्धान तथा स्वपर-भेदविज्ञान उत्पन्न कर वीतरागता प्राप्त करने की प्रेरणा देना है। इसमें जीवादि तत्त्वों का वर्णन एक विशेष दृष्टिकोण से किया

[१] मो० मा० प्र०, ४०७

[२] वही, ४०६

[३] वही, ४११

[४] वही, ४१२

[५] वही, ४२६

जाता है। आस्रवादि तत्त्वों का वर्णन वीतरागता प्राप्ति के दृष्टिकोण को लक्ष्य में रख कर किया जाता है। आत्मानुभूति प्राप्त करने की प्रेरणा देने के लिए उसकी महिमा विशेष बताई जाती है। अध्यात्म उपदेश को विशेष स्थान प्राप्त रहता है तथा वाह्याचार और व्यवहार का सर्वत्र निषेध किया जाता है। उक्त कथन-शैली का उद्देश्य न समझ पाने से अनेक विसगतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, अतः पंडित टोडरमल ने इसके अध्ययन करने वालों को सावधान किया है। वे लिखते हैं :-

"जे जीव आत्मानुभवन के उपाय कौं न करैं हैं अर बाह्य क्रियाकाण्ड विषैं मग्न हैं, तिनकौं तहाँ तैं उदास करि आत्मानुभवनादि विषैं लगावने कौं व्रत, शील, संयमादि का हीनपना प्रगट कीजिए है। तहाँ ऐसा न जानि लेना, जो इनकौं छोड़ि पाप विषैं लगना। जातैं तिस उपदेश का प्रयोजन अशुभ विषैं लगावनें का नाहीं। शुद्धोपयोग विषैं लगावने कौं शुभोपयोग का निषेध कीजिए है।...तैसैं बंधकारण अपेक्षा पुण्य-पाप समान है, परन्तु पापतैं पुण्य किछु भला है। वह तीव्रकषाय रूप है, यह मंदकषाय रूप है। तातैं पुण्य छोड़ि पाप विषैं लगना युक्त नाहीं है।......ऐसैं ही अन्य व्यवहार का निषेध तहाँ किया होय, ताकौं जानि प्रमादी न होना। ऐसा जानना – जे केवल व्यवहार विषैं ही मग्न हैं तिनकौ निश्चय की रुचि करावने के अर्थि व्यवहार कौ हीन दिखाया है[1]।"

द्रव्यानुयोग के शास्त्रों का विशेषकर अध्यात्म के शास्त्रों के अध्ययन का निषेध निहित स्वार्थ वालों द्वारा किया जाता रहा है। इन्होंने इनके अध्ययन में अनेक काल्पनिक खतरे खड़े किए हैं। पंडित टोडरमल के युग में भी इसी प्रकार के लोग बहुत थे, जो अध्यात्म ग्रंथों के अध्ययन-अध्यापन का विरोध करते थे, अतः उक्त संदर्भ में उठाई जाने वाली समस्त संभावित आशंकाओं का युक्तिसंगत समाधान पंडितजी ने प्रस्तुत किया है। सब से बड़ा भय यह दिखाया जाता है कि इन शास्त्रों को पढ़ कर लोग स्वच्छन्द हो जावेंगे, पुण्य छोड़ कर पाप में लग जावेंगे। इसके सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है :-

[1] मो० मा० प्र०, ४१८-१९

"जैसें गर्दभ मिश्री खाय मरे, तौ मनुष्य तौ मिश्री खाना न छोड़ै। तैसें विपरीत बुद्धि अध्यात्म ग्रन्थ सुनि स्वच्छन्द होय, तौ विवेकी तौ अध्यात्म ग्रंथनि का अभ्यास न छोड़ै[१]।"

हाँ, इतना अवश्य है कि जहाँ-जहाँ स्वच्छन्द होने की थोड़ी भी आशंका हो, वहाँ-वहाँ सावधान अवश्य किया जाना चाहिए तथा अध्यात्म ग्रन्थों में यथास्थान सावधान किया भी गया है[२]। यदि स्वच्छन्द होने के भय से अध्यात्म उपदेश का निषेध कर देवें तो मुक्ति के मार्ग का ही निषेध हो जायगा, क्योंकि मोक्षमार्ग का मूल उपदेश तो वहाँ ही है[३]।

कुछ लोग कहते हैं कि उत्कृष्ट अध्यात्म उपदेश उच्च भूमिका प्राप्त पुरुषों के लिए तो उपयुक्त है, पर निम्न स्तर वालों को तो व्रत, शील, संयमादि का उपदेश ही उपयुक्त है। उक्त शंका का समाधान वे इस प्रकार करते हैं :–

"जिनमत विषें तो यहु परिपाटी है, जो पहलै सम्यक्त्व होय पीछें व्रत होय। सो सम्यक्त्व स्वपर का श्रद्धान भए होय अर सो श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास किएं होय। तातैं पहलें द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करि सम्यग्दृष्टि होय, पीछें चरणानुयोग के अनुसार व्रतादिक धारि व्रती होय, ऐसें मुख्यपनैं तौ नीचली दशा विषै ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है, गौणपनें जाकें मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती न जानिए, ताकौं कोई व्रतादिक[४] का उपदेश दीजिए है। जातैं ऊँची दशा वालौं कौ अध्यात्म अभ्यास योग्य है, ऐसा जानि नीचली दशा वालौं कौं तहाँ तैं पराङ्मुख होना योग्य नाहीं[५]।"

---

[१] मो० मा० प्र०, ४२६

[२] वही, ४२६–३०

[३] वही, ४३०

[४] यहाँ व्रतादिक का अर्थ अणुव्रत या महाव्रत न होकर साधारण प्रतिज्ञा रूप व्रतों से है – जैसे मद्य-मांस-मधु, सचित्त पदार्थ आदि के त्याग, देवदर्शन करने, अनछना पानी नहीं पीने आदि की प्रतिज्ञा।

[५] मो० मा० प्र०, ४३०–३१

वे तो अध्यात्म की धारा घर-घर तक पहुँचाना चाहते थे किन्तु कुछ लोगों को यह पसन्द न था, अतः वे लोग कहते थे कि उत्कृष्ट अध्यात्म-उपदेश कम से कम ग्राम सभाओं में तो न दिया जाय। पंडित टोडरमल ग्राम जनता में अध्यात्म-उपदेश की आवश्यकता निम्नानुसार प्रतिपादित करते हैं :–

"जैसें मेघ वर्षा भए बहुत जीवनि का कल्याण होय अर काहू कै उलटा टोटा पड़े, तौ तिसकी मुख्यता करि मेघ का तौ निषेध न करना। तैसें सभा विषैं अध्यात्म उपदेश भए बहुत जीवनि कौं मोक्षमार्ग की प्राप्ति होय अर काहू कै उलटा पाप प्रवर्त्ते, तौ तिसकी मुख्यता करि अध्यात्म शास्त्रनि का तौ निषेध न करना[1]।"

अनुयोगों का अध्ययन-क्रम

अनुयोगों के अध्ययन-क्रम के सम्बन्ध में कोई नियम सम्भव नही है। अपनी योग्यता और रुचि के अनुकूल अध्ययन करना चाहिए। फेर-बदल कर चारों अनुयोगों का अध्ययन करना रुचि एवं सर्वाङ्गीण अध्ययन की दृष्टि से अधिक उपयुक्त है[2]। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उनमें वर्णित-विषय के भाव को, उनकी कथन-शैली के सन्दर्भ में समझा जाना चाहिए। सब को एक समान जान कर अध्ययन करने में भ्रम हो जाना सम्भव है। कई ग्रन्थों में एकाधिक अनुयोगों का कथन भी एक साथ प्राप्त होता है[3]। अतः अनुयोगों का अध्ययन-क्रम निर्धारित नहीं किया जा सकता है।

वीतरागता एकमात्र प्रयोजन

समस्त जिनवाणी का तात्पर्य एकमात्र वीतरागता है[4]। वीतरागता ही परम धर्म है, अतः चारों अनुयोगों में वीतरागता की ही पुष्टि की गई है। यदि कहीं पूर्ण राग त्याग की बात कही गई है, तो कहीं पूर्ण राग छूटता संभव दिखाई न दिया तो अधिक राग छोड़

---

[1] मो० मा० प्र०, ४३०

[2] वही, ४४८

[3] वही, ४२१

[4] पंचास्तिकाय, समयव्याख्या टीका, २५७

कर अल्प राग करने की सलाह दी गई है, पर रागादि भाव बढ़ाने को कहीं भी अच्छा नहीं बताया गया है। जिसमें राग का पोषण हो, वह शास्त्र जैन शास्त्र नहीं है[1]।

न्याय व्याकरणादि शास्त्रों के अध्ययन की उपयोगिता

चार अनुयोगों के अतिरिक्त न्याय व्याकरणादि-विषयक शास्त्र भी जैन साहित्य में उपलब्ध हैं। अनुयोग रूप शास्त्रों में प्रवेश पाने के लिए उनके सामान्य अध्ययन की उपयोगिता पंडित टोडरमल ने स्वीकार की है, क्योंकि व्याकरण और भाषा के सामान्य ज्ञान बिना अनुयोग रूप शास्त्रों का अध्ययन सम्भव नहीं है तथा न्याय शास्त्रों के अध्ययन बिना तत्त्व निर्णय करना कठिन है[2]। पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए इनके अभ्यास में समय नष्ट करना वे उपयुक्त नहीं समझते हैं। वे लिखते हैं :–

"जे जीव शब्दनि की नाना युक्ति लिएं अर्थ करने कौं ही व्याकरण अवगाहैं हैं, वादादि करि महन्त हौने कौं न्याय अवगाहैं हैं, चतुरपना प्रकट करने के अर्थि काव्य अवगाहैं हैं, इत्यादि लौकिक प्रयोजन लिएं इनिका अभ्यास करें हैं, ते धर्मात्मा नाहीं। बनें जेता थोरा बहुत अभ्यास इनका करि आत्महित के अर्थि तत्त्वादिक का निर्णय करें हैं, सोई धर्मात्मा पंडित जानना[3]।"

सम्यक्चारित्र

आत्मस्वरूप में रमण करना ही चारित्र है। मोह-राग-द्वेष से रहित आत्मा का परिणाम साम्यभाव है और साम्यभाव की प्राप्ति ही चारित्र है[4]। अशुभ भाव से निवृत्त होकर शुभ भाव में प्रवृत्ति को भी व्यवहार से चारित्र कहा गया है[5]। जैन दर्शन में वाह्याचार की अपेक्षा भाव शुद्धि पर विशेष बल दिया गया है। भाव शुद्धि बिना

[1] मो० मा० प्र०, ४४६
[2] वही, ४३२
[3] वही, ३४७
[4] प्रवचनसार, गाथा ७
[5] द्रव्यसंग्रह, गाथा ४५

वाह्याचार निष्फल है[१]। वाह्याचार शुद्ध होने पर भी यदि अभिप्राय में वासना बनी रहती है तो उसका आत्महित की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है। विषय-कषाय की वासना का अभाव ही सच्चा चारित्र है और उसका क्रमशः कम होते जाना ही चारित्र की दिशा में क्रमिक विकास है[२]।

चारित्र के नाम पर किए जाने वाले असंगत आचरण एवं हिंसामूलक प्रवृत्तियों का पं० टोडरमल ने अपने साहित्य में यथास्थान जोरदार खण्डन किया है। हिंसामूलक अयत्नाचार-प्रवृत्ति का उन्होंने धार्मिक अनुष्ठानों में भी निषेध किया है। वे लिखते है :–

"देहुरा पूजा प्रतिष्ठादिक कार्य विषैं जो जीव हिंसा होने का भय न राखै, जतन स्यौं न प्रवर्त्तै, केवल बड़ाई के वास्तै जैसे-तैसे कार्य करै, तो धर्म है नाहीं, पाप ही है[३]।"

आचरण को उन्होंने सर्वत्र अहिंसामूलक और विवेकसंगत ही स्वीकार किया है। सर्वत्र आध्यात्मिक लाभ-हानि के विचारपूर्वक चलने की सलाह दी है। लौकिक प्रतिष्ठा और सम्मान के लिए किये गए धार्मिक सदाचार रूप आचरण का उनकी दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है। उन्होंने लिखा है :–

"जो मान बड़ाई के वास्ते बहुत उपवास अंगीकार करि लंघन की ज्यौं भूखा मरै तौ किछू सिद्धि नाही[४]।"

उनका मानना है कि वाह्य व्रतादिक की प्रतिज्ञा लेने के पूर्व परिणामों की विशुद्धता पर पूरा-पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए। शक्ति के अनुसार ही प्रतिज्ञा ली जानी चाहिए। शक्ति के अभाव में प्रतिज्ञा आकुलता ही उत्पन्न करेगी। इस संबंध में वे लिखते हैं :–

'केई जीव पहलै तो बड़ी प्रतिज्ञा धरि बैठें अर अंतरंग विषय कषायवासना मिटी नाहीं। तब जैसें तैसें प्रतिज्ञा पूरी किया चाहैं,

---

[१] (क) मो० मा० प्र०, ३३६
(ख) तस्मात्क्रिया प्रतिफलति न भावशून्याः —आ० समन्तभद्र
[२] मो० मा० प्र०, ३४६
[३] पु० भा० टी०, ४६
[४] वही, ५२

तहाँ तिस प्रतिज्ञाकरि परिणाम दुःखी हो हैं । जैसें बहुत उपवास करि बैठे, पीछें पीड़ा तें दुखी हुवा रोगीवत् काल गमावै, धर्मसाधन न करै । सो पहलें ही सधती जानिए तितनी ही प्रतिज्ञा क्यों न लीजिए । दुःखी होने में आर्तध्यान होय, ताका फल भला कैसें लागैगा । अथवा उस प्रतिज्ञा का दुःख न सह्या जाय, तब ताकी एवज विषय पोषने कौं अन्य उपाय करै । जैसें तृषा लागै तब पानी तौ न पीवै अर अन्य शीतल उपचार अनेक प्रकार करै । वा घृत तौ छोड़े अर अन्य स्निग्ध वस्तुकौं उपायकरि भखै । ऐसें ही अन्य जानना । सौ परीषह न सही जाय थी, विषयवासना न छूटै थी, तौ ऐसी प्रतिज्ञा काहे कौं करी । सुगम विषय छोड़ि विषम विषयनिका उपाय करना पड़ै, ऐसा कार्य काहे कौं कीजिए । यहाँ तौ उलटा राग भाव तीव्र हो है [1] ।

अविवेकपूर्वक आचरण को उनकी दृष्टि में कोई स्थान प्राप्त नहीं है । अन्यायपूर्वक धन कमा कर दान देने वालों एवं सब कुछ त्याग कर भिक्षावृत्ति करने वालों को उन्होंने खूब फटकारा है[2] ।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँचों पापों के त्याग को भी चारित्र कहा गया है[3] । यह चारित्र दो प्रकार का होता है । सकल चारित्र और विकल चारित्र । सकल चारित्र पाँचों पापों के पूर्ण त्याग रूप होता है और यह मुनियों के होता है । विकल चारित्र पाँचों पापों के एकदेश त्याग रूप होता है और वह गृहस्थों के होता है[4] । हिंसादि पाँचों पापों के पूर्ण त्याग को महाव्रत कहते हैं और एकदेश त्याग को अणुव्रत । ये अणुव्रत और महाव्रत सब शुभ भाव रूप हैं, अतः इन्हें व्यवहार से चारित्र कहा जाता है । वास्तविक चारित्र तो वीतराग भाव रूप ही होता है । इस संदर्भ में पंडित टोडरमल ने लिखा है :–

---

[1] मो० मा० प्र०, ३५०–३५१

[2] वही, ३५४

[3] रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अ० ३ श्लोक ४६

[4] वही, अ० ३ श्लोक ५०

"बहुरि हिंसादि सावद्ययोग का त्याग कौ चारित्र मानैं है। तहाँ महाव्रतादि रूप शुभ योग कौं उपादेयपने करि ग्राह्य मानैं है। सो तत्त्वार्थसूत्र विषैं आस्रव-पदार्थ का निरूपण करतैं महाव्रत अणुव्रत भी आस्रव रूप कहे है। ए उपादेय कैसें होय ? अर आस्रव तो बंध का साधक है, चारित्र मोक्ष का साधक है, तातैं महाव्रतादिरूप आस्रव भावनिकौं चारित्रपनौं संभवै नाहीं, सकल कषाय रहित जो उदासीन भाव ताही का नाम चारित्र है। सौ चारित्रमोह के देशघाति स्पर्द्धकनि के उदय तें महामंद प्रशस्त राग हो है, सो चारित्र का मल है। याकौ छूटता न जानि याका त्याग न करै है, सावद्ययोग ही का त्याग करै है। परन्तु जैसें कोई पुरुष कंदमूलादि बहुत दोषीक हरितकाय का त्याग करै है अर केई हरितकायनि कौ भखे है परन्तु याकौ धर्म न मानै है। तैसें मुनि हिंसादि तीव्र कषाय रूप भावनि का त्याग करैं है अर केई मंदकषाय रूप महाव्रतादि कौं पालैं है परन्तु ताकौ मोक्षमार्ग न मानैं हैं।

यहां प्रश्न – जो ऐसैं हैं, तौ चारित्र के तेरह भेदनि विषै महाव्रतादि कैसे कहे है ?

ताका समाधान – यहु व्यवहारचारित्र कहा है। व्यवहार नाम उपचार का है। सो महाव्रतादि भए ही वीतरागचारित्र हो है। ऐसा सम्बन्ध जानि महाव्रतादि विषैं चारित्र का उपचार किया है। निश्चय करि निःकषाय भाव है, सोई साँचा चारित्र है[१]।"

इन सब का विस्तृत वर्णन पंडित टोडरमल मोक्षमार्ग प्रकाशक के 'चारित्र अधिकार' में करने वाले थे[२] जो दुर्भाग्य से लिखा नहीं जा सका, किन्तु जैनाचार के मूल सिद्धान्त 'अहिंसा' पर पंडित टोडरमल के प्राप्त साहित्य में यत्र-तत्र पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

अहिंसा

राग-द्वेष-मोह आदि विकारी भावों की उत्पत्ति हिंसा है और उन भावों की उत्पत्ति नहीं होना अहिंसा है[३]। हिंसा-अहिंसा की

[१] मो० मा० प्र०, ३३६-३३७
[२] वही, २३१
[३] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ४४

चर्चा जब भी चलती है, जनसाधारण का ध्यान दूसरे जीवों को मारने, सताने या रक्षा करने आदि की ओर ही जाता है। हिंसा और अहिंसा का सम्बन्ध प्रायः दूसरों से ही जोड़ा जाता है। दूसरों की हिंसा मत करो, बस यही अहिंसा है, ऐसा ही सर्वाधिक विश्वास है। अपनी भी हिंसा होती है, इस ओर बहुत कम लोगों का ध्यान जाता है। जिनका जाता भी है तो आत्महिंसा का अर्थ विष भक्षणादि द्वारा आत्मघात (आत्महत्या) ही मानते हैं। अन्तर में राग-द्वेष की उत्पत्ति भी हिंसा है, इस बात को बहुत कम लोग जानते हैं। यह तथ्य पंडित टोडरमल की दृष्टि से ओझल न रह सका। वे लिखते हैं :-

"अपने शुद्धोपयोग रूप प्राण का घात रागादिक भावनि तैं होय है, तिसतैं रागादिक भावनि का अभाव सोई अहिंसा है। आदि शब्द से द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, शोक, जुगुप्सा प्रमादादिक समस्त विभाव भाव जानने[1]।"

व्यवहार में जिसे हिंसा कहते है, जैसे किसी को सताना, दु:ख देना आदि, वह हिंसा न हो; यह बात नहीं है। वह तो हिंसा है ही, क्योंकि उसमें प्रमाद और कषाय का योग रहता है[2]। झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह भी हिंसा के ही रूपान्तर हैं, क्योंकि इन सब में रागादि विकारी भावों का सद्भाव होने से आत्मा के चैतन्य प्राणों का घात होता है[3]।

हिंसा दो प्रकार की होती है – द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। जीवों के घात को द्रव्यहिंसा कहते हैं और घात करने के भाव को भावहिंसा।

अहिंसा के सम्बन्ध में एक भ्रम यह भी चलता है कि मारने का भाव हिंसा है तो बचाने का भाव अहिंसा होगा। शास्त्रों में उसे व्यवहार से अहिंसा कहा भी है, किन्तु वह भी राग रूप होने से वस्तुतः हिंसा ही है। वीतराग भाव ही अहिंसा है, वस्तु का स्वभाव

---

[1] पु० भा० टी०, ३४

[2] (क) तत्त्वार्थसूत्र, अ० ७ सू० १३
(ख) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ४६

[3] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ४२

होने से वही धर्म है और वही मुक्ति का कारण है। बचाने के शुभ भाव रूप अहिंसा, जो कि हिंसा का ही एक रूप है, पुण्य बंध का कारण है, मुक्ति का कारण नहीं। उक्त तथ्य को पंडित टोडरमल ने इस प्रकार व्यक्त किया है :–

"तहाँ अन्य जीवनि कौ जिवावने का वा सुखी करने का अध्यवसाय होय सो तौ पुण्य बंध का कारण है, अर मारने का वा दुःखी करने का अध्यवसाय होय सो पाप बंध का कारण है। ऐसें अहिसावत् सत्यादिक तौ पुण्य बंध कौं कारण हैं, अर हिंसावत् असत्यादिक पाप बंध कौं कारण हैं। ए सर्व मिथ्याध्यवसाय हैं, ते त्याज्य हैं। तातै हिसादिवत् अहिंसादिक कौ भी बंध का कारण जानि हेय ही मानना। हिंसा विषै मारने की बुद्धि होय सो वाका आयु पूरा हुवा बिना मरै नाहीं, अपनी द्वेष परिणति करि आप ही पाप बांधै है। अहिसा विषै रक्षा करने की बुद्धि होय सो वाका आयु अवशेष बिना जीवै नाहीं, अपनी प्रशस्त राग परिणति करि आप ही पुण्य बांधै है। ऐसें ए दोऊ हेय हैं। जहां वीतराग होय दृष्टा-ज्ञाता प्रवर्तै, तहाँ निर्बन्ध है। सो उपादेय है। सो ऐसी दशा न होय, तावत् प्रशस्त राग रूप प्रवर्तौ, परन्तु श्रद्धान तौ ऐसा राखौ – यहु भी बंध का कारण है, हेय है। श्रद्धान विषैं याकौं मोक्षमार्ग जानें मिथ्यादृष्टि ही हो है[1]।"

दूसरों की रक्षा करने के भाव को मुक्ति का कारण मानने वालों से वे पूछते हैं – "सो हिंसा के परिणामनि तैं तौ पाप हो है अर रक्षा के परिणामनि तैं संवर (बंध का अभाव) कहोगे तो पुण्य बंध का कारण कौन ठहरैगा[2]।"

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि ऐसी अहिंसा तो साधु ही पाल सकते हैं, अतः यह तो उनकी बात हुई। सामान्यजनों (श्रावकों) को तो दया रूप (दूसरों को बचाने का भाव) अहिंसा ही सच्ची है। आचार्य अमृतचन्द्र ने श्रावक के आचरण के प्रकरण में ही इस बात को लेकर यह सिद्ध कर दिया है कि अहिंसा दो प्रकार की नहीं होती।

[1] मो० मा० प्र०, ३३१–३२

[2] वही, ३३५

अहिंसा को जीवन में उतारने के स्तर दो हो सकते हैं। हिंसा तो हिंसा ही रहेगी। यदि श्रावक पूर्ण हिंसा का त्यागी नहीं हो सकता तो अल्प हिंसा का त्याग करे, पर जो हिंसा वह छोड़ न सके, उसे अहिंसा तो नहीं माना जा सकता है। यदि हम पूर्णतः हिंसा का त्याग नहीं कर सकते हैं तो अंशतः त्याग करना चाहिए। यदि वह भी न कर सकें तो कम से कम हिंसा को धर्म मानना और कहना तो छोड़ना ही चाहिए। शुभ राग, राग होने से हिंसा में आता है और उसे धर्म नहीं माना जा सकता।

एक प्रश्न यह भी संभव है कि तीव्र राग तो हिंसा है पर मंद राग को हिंसा क्यों कहते हो? जब राग हिंसा है तो मंद राग अहिंसा कैसे हो जावेगा, वह भी तो राग की ही एक दशा है। यह बात अवश्य है कि मंद राग मंद हिंसा है और तीव्र राग तीव्र हिंसा है। अतः यदि हम हिंसा का पूर्ण त्याग नहीं कर सकते हैं तो उसे मंद तो करना ही चाहिए। राग जितना घटे उतना ही अच्छा है, पर उसके सद्भाव को धर्म नहीं कहा जा सकता है। धर्म तो राग-द्वेष-मोह का अभाव ही है और वही अहिंसा है, जिसे परम धर्म कहा जाता है।

राग-द्वेष-मोह भावों की उत्पत्ति होना हिंसा है और उन्हें धर्म मानना महा हिंसा है तथा रागादि भावों की उत्पत्ति नहीं होना ही परम अहिंसा है और रागादि भावों को धर्म नहीं मानना ही अहिंसा के सम्बन्ध में सच्ची समझ है।

भावों का तात्त्विक विश्लेषण

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य आदि विकारी मनोभाव राग-द्वेष-मोह के ही भेद हैं[1]। अतः यह सब हिंसा के ही रूप हैं। पूर्ण अहिंसक बनने के लिए इनका त्याग आवश्यक है। इनकी उत्पत्ति के कारणों एवं नाश के उपायों पर विचार करते हुए पंडित टोडरमल ने इनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

[1] मो० मा० प्र०, ५६

जब आत्मा यह अनुभव करता है कि कुछ पर-पदार्थ मुझे सुखी करते हैं और कुछ दुःखी करते हैं; कुछ मेरे जीवन के रक्षक हैं, कुछ विनाशक; तब उनके प्रति इष्ट अनिष्ट बुद्धि उत्पन्न होती है। यह इष्ट-अनिष्ट बुद्धि ही राग-द्वेष भावों की मुख्योत्पादक है[१]। जब तत्त्वाभ्यास से वस्तुस्वरूप का सच्चा ज्ञान होता है और आत्मा यह अनुभव करने लगता है कि मेरे सुख-दुःख और जीवन-मरण के कारण मुझ में ही हैं, मैं अपने सुख-दुःख व जीवन-मरण का स्वयं उत्तरदायी हूँ, कोई पर-पदार्थ मुझे सुखी-दुःखी नहीं करता है और न कर ही सकता है, तो पर-पदार्थ से इष्ट-अनिष्ट बुद्धि समाप्त होने लगती है और क्रोधादि का भी अभाव होने लगता है[२]।

पंडितजी ने क्रोध, मानादि कषायों से युक्त मानसिक और वाह्य क्रिया-कलापों के सजीव चित्र प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने सब कुछ शास्त्रों में ही देख कर नहीं लिखा है, वरन् अपने अन्तर एवं जगत् का पूरा-पूरा निरीक्षण करके लिखा है। अभिमानी व्यक्ति की प्रवृत्ति का वर्णन वे इस प्रकार करते हैं :–

"बहुरि जब याकै मान कषाय उपजै तब औरनि कौं नीचा वा आपकौ ऊँचा दिखावने की इच्छा हो है। बहुरि ताकै अर्थि अनेक उपाय विचारै, अन्य की निन्दा करै, आपकी प्रशंसा करै वा अनेक प्रकार करि औरनि की महिमा मिटावै, आपकी महिमा करै। महा कष्ट करि धनादिक का संग्रह किया ताकौं विवाहादि कार्यनि विषैं खरचै वा देना करि (कर्ज लेकर) भी खरचै। मूए पीछैं हमारा जस रहेगा ऐसा विचारि अपना मरन करिकैं भी अपनी महिमा बधावै। जो अपना सन्मानादि न करै ताकौ भय आदिक दिखाय दुःख उपजाय अपना सम्मान करावै। बहुरि मान होतैं कोई पूज्य बड़े होंहि तिनका भी सम्मान न करै, किछू विचार रहता नाहीं। बहुरि अन्य नीचा, आप ऊँचा न दीसै तौ अपने अंतरंग विषैं आप बहुत सन्तापवान होय

[१] मो० मा० प्र०, ३३६

[२] वही, ३३६

वा अपने अंगनि का घात करै वा विषाद करि मरि जाय। ऐसी अवस्था मान होतें होय है[1]।

पंडितजी ने चारित्र मोह के अन्तर्गत उत्पन्न कषाय भावों का विश्लेषण केवल शास्त्रीय दृष्टि से नहीं किया है, उसमें उनकी मनोवैज्ञानिक पकड़ है। अन्तर केवल इतना ही है कि मनोविज्ञान जहाँ विभिन्न भावों की सत्ता के मनोवैज्ञानिक कारण खोजता है, वहाँ वे इसका कारण मोहजन्य रागात्मक परिणति को मानते हैं। इस बात में दोनों एक मत हैं कि कषाय और मनोवेग ही मनुष्य के लौकिक चरित्र की विधायक शक्तियाँ हैं। जीवन में सारी विषमताएँ इन्हीं के कारण उत्पन्न होती हैं। इन्हीं के कारण वह अपने-पराये का भेद करता है।

मनोविज्ञान जिन्हें मनोवेग कहता है, जैन दर्शन में उन्हें राग-द्वेष रूप कषाय भाव कहा गया है। मनोविज्ञान के अनुसार मानव का सम्पूर्ण व्यवहार मनोवेगों से नियन्त्रित होता है और पंडितजी भी यही कहते हैं कि रागी-द्वेषी प्राणी का व्यवहार राग-द्वेषमूलक है। इस प्रकार उनका मोह-राग द्वेष भावों का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक है।

विविध विचार

उपर्युक्त दार्शनिक विचारों के अतिरिक्त उन्होंने अपने साहित्य में यत्र-तत्र यथाप्रसंग अन्य लौकिक एवं पारिलौकिक, सामयिक एवं त्रैकालिक, सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक विषयों पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। अब सामान्य रूप से उनका संक्षेप में परिशीलन किया जाता है।

वक्ता और श्रोता

पंडित टोडरमल मुख्य रूप से विशुद्ध आध्यात्मिक विचारक हैं। विचार उनकी अनुभूति का अंग है। लेकिन यह अनुभूतिमूलकता उन्हें तर्क से विरत नहीं करती। वे जिस बात का भी विचार करते हैं, तर्क उसकी पहली सीढ़ी है। उन्होंने तत्त्वज्ञान और उससे सम्बन्धित

[1] मो० मा० प्र०, ७६–७७

वक्ता-श्रोता दोनों पक्षों की योग्यता-अयोग्यता को तर्क की कसौटी पर कसा है। वक्ता-श्रोता सम्बन्धी विचार यद्यपि परम्परागत हैं फिर भी वह इन दोनों के सम्बन्ध में अपना विशिष्ट दृष्टिकोण रखते हैं। कहना न होगा इस दृष्टिकोण में उनके व्यक्तित्व और लेखनशैली की झलक मिलती है। उदाहरण के लिए वक्ता श्रद्धावान होना चाहिए, वह विद्याभ्यासी हो और अपने वक्तव्य के लक्ष्य को ठीक से जानता हो। उसे अपने स्वीकृत मत के प्रति निष्ठावान् होना चाहिए। उसका शास्त्रचिंतन आजीविका का साधन न हो। यदि वह कोई लौकिक उद्देश्य रखता है तो सम्भव है कि श्रोताओं के प्रभाव में आकर उनके अनुसार शास्त्र की व्याख्या कर दे। उन्होंने लिखा है :-

"बहुरि वक्ता कैसा होना चाहिए, जाकै शास्त्र वांचि आजीविका आदि लौकिक कार्य साधने की इच्छा न होय। जातै जो आशावान् होइ तो यथार्थ उपदेश देइ सकै नाहीं, वाकै तौ किछू श्रोतानिका अभिप्राय के अनुसारि व्याख्यान करि अपने प्रयोजन साधने का ही साधन रहै अर श्रोतानितैं वक्ता का पद ऊंचा है परन्तु यदि वक्ता लोभी होय तौ वक्ता आप ही हीन हो जाय, श्रोता ऊंचा होय। बहुरि वक्ता कैसा चाहिए जाकै तीव्र क्रोध मान न होय जातैं तीव्र क्रोधी मानी की निंदा होय, श्रोता तिसतैं डरते रहैं, तब तिसतैं अपना हित कैसे करैं। बहुरि वक्ता कैसा चाहिए जो आप ही नाना प्रश्न उठाय आप ही उत्तर करै अथवा अन्य जीव अनेक प्रकार करि बहुत बार प्रश्न करैं तो मिष्ट वचननि करि जैसैं उनका संदेह दूर होय तैसैं समाधान करै। जो आपकै उत्तर देने की सामर्थ्य न होय तौ या कहै, याका मौकों ज्ञान नाहीं, किसी विशेष ज्ञानी से पूछ कर तिहारे ताईं उत्तर दूँगा, अथवा कोई समय पाय विशेष ज्ञानी तुम सौं मिलै तौ पूछ कर अपना सन्देह दूर करना और मौकूँ हू बताय देना[१]।"

वक्ता का सबसे बड़ा और मौलिक गुण है – सत्य के प्रति सच्ची जिज्ञासा और अनुभूत सत्य की प्रामाणिक अभिव्यक्ति। स्पष्ट है कि वक्ता अपनी सीमा में ही उत्तर दे, यदि उसे नहीं आता है तो स्पष्ट

[१] मो० मा० प्र०, २२–२३

रूप में स्वीकार करे और कहे कि मैं विशेष ज्ञानी से पूछ कर बताऊँगा अथवा श्रोता ही विशेष ज्ञानी से पूछ ले और उसे भी बताए। इससे सिद्ध है कि उनके अनुसार वक्ता में जितनी प्रमाणिक बात बताने की ईमानदारी एवं कुशलता होनी चाहिए, श्रोता में भी उतनी ही जिज्ञासा होनी चाहिए, क्योंकि वक्ता के अभिमान या पाण्डित्य के झूठे प्रदर्शन से एवं श्रोता की सजगता के अभाव में प्रकरण विरुद्ध अर्थ की सम्भावना बनी रहती है। उन्होंने उन्हीं अर्थों का विरोध किया जो अभिमान या पाण्डित्य के थोथे प्रदर्शन से किये गए हों, लेकिन जहाँ वक्ता अपने अध्ययन से प्रसंगों की नई व्याख्या करता है और प्रचलित मान्यताओं को काटता है तो उसे इसकी स्वतन्त्रता है। कहना न होगा कि पंडितजी ने इस स्वतन्त्रता का भरपूर उपयोग किया है, परन्तु ऐसा करते समय नम्र शब्दों में यह भी कह दिया है कि मैं जो कुछ समझ सका वह मैंने लिखा है, बाकी सर्वज्ञ जानें। क्षयोपशम सम्यग्दर्शन में लगने वाले दोषों की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं :-

"तातें समल तत्त्वार्थ श्रद्धान होय सो क्षयोपशम सम्यक्त्व है। यहां जो मल लागै है, ताका तारतम्य स्वरूप तो केवली जानैं हैं, उदाहरण दिखावने के अर्थि चलमलिनअगाढ़पना कह्या है। तहाँ व्यवहार मात्र देवादिक की प्रतीति तो होय परन्तु अरहन्त देवादि विषैं यहु मेरा है, यहु अन्य का है, इत्यादि भाव सो चलपना है। शंकादि मल लागै है सो मलिनपना है। यहु शांतिनाथ शांति का कर्त्ता है इत्यादि भाव सो अगाढ़पना है। सो ऐसे उदाहरण व्यवहारमात्र दिखाए परन्तु नियमरूप नाहीं। क्षयोपशम सम्यक्त्व विषैं जो नियमरूप कोई मल लागै है सो केवली जानैं हैं[1]।"

उन्होंने अपना मत सर्वत्र सविनय किन्तु खुल कर व्यक्त किया है। जैसे :-

(१) "बहुरि जैसें कहीं प्रमाणादिक किछू कह्या होय, सोई तहाँ न मानि लैंना, तहाँ प्रयोजन होय सो जानना। ज्ञानार्णव विषैं ऐसा

[1] मो० मा० प्र०, ४६६

लिखा है – 'अवार दोय तीन सत्पुरुष हैं।' सो नियम तें इतने ही नाहीं। यहां 'थोरे हैं' ऐसा प्रयोजन जानना। ऐसें ही अन्यत्र जानना[1]।"

(२) "बहुरि प्रथमानुयोग विषें कोई धर्मबुद्धितें अनुचित कार्य करै ताकी भी प्रशंसा करिये है। जैसें विष्णुकुमार मुनिन का उपसर्ग दूरि किया, सो धर्मानुरागतें किया, परन्तु मुनिपद छोड़ि यहु कार्य करना योग्य न था। जातें ऐसा कार्य तौ गृहस्थधर्म विषें सम्भवै अर गृहस्थधर्मतें मुनि धर्म ऊँचा है। सो ऊँचा धर्मकौं छोड़ि नीचा धर्म अंगीकार किया सो अयोग्य है। परन्तु वात्सल्य अंग की प्रधानता करि विष्णुकुमारजी की प्रशंसा करी। इस छल करि औरनिकौ ऊँचा धर्म छोड़ि नीचा धर्म अंगीकार करना योग्य नाहीं[2]।"

(३) "बहुरि जैसें गुवालिया मुनिकौं अग्नि करि तपाया, सो करुणातें यहु कार्य किया। परन्तु आया उपसर्गकौं तौ दूरि करै, सहज अवस्था विषें जो शीतादिक की परीषह हो है, तिसकौं दूर किए रति मानने का कारण होय, तामैं उनकौं रति करनी नाहीं, तब उलटा उपसर्ग होय। याहीतें विवेकी उनकै शीतादि का उपचार करते नाहीं। गुवालिया अविवेकी था, करुणा करि यहु कार्य किया, तातें याकी प्रशंसा करी। इस छल करि औरनिकौं धर्मपद्धति विषें जो विरुद्ध होय सो कार्य करना योग्य नाहीं[3]।"

(४) "बहुरि केई पुरुषों ने पुत्रादि की प्राप्ति के अर्थि वा रोग कष्टादि दूरि करने के अर्थि चैत्यालय पूजनादि कार्य किए, स्तोत्रादि किए, नमस्कारमन्त्र स्मरण किया। सो ऐसें किए तौ निःकांक्षित गुण का अभाव होय, निदानबंध नामा आर्त्तध्यान होय। पाप ही का प्रयोजन अंतरंग विषें है, तातें पाप ही का बंध होई। परन्तु मोहित होय करि भी बहुत पाप बंध का कारण कुदेवादिक का तौ पूजनादि न किया, इतना वाका गुण ग्रहण करि वाकी प्रशंसा करिए है। इस

---

[1] मो० मा० प्र०, ४३८–४३९

[2] वही, ४०२

[3] वही, ४०२

छल करि औरनिकों लौकिक कार्यनि के अर्थि धर्म साधन करना युक्त नाहीं। ऐसें ही अन्यत्र जानने[1]।"

पंडितजी ने जो वक्ता और श्रोता के लक्षण दिए हैं, उनमें उनका व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता है। उनके अनुसार वक्ता का बाह्य व्यक्तित्व भी प्रभावशाली होना चाहिए। जैसे – कुलहीन न हो, अंगहीन न हो, उसका स्वर भंग न हो, वह लोकनिंदक अनीतिमूलक आचरण से सदा दूर रहता हो। इस प्रकार आन्तरिक ज्ञान के साथ बाह्य व्यक्तित्व समन्वय ही अच्छे वक्ता की कसौटी है।

वक्ता के समान उनके अनुसार श्रोता में भी तत्त्वज्ञान के प्रति सच्ची जिज्ञासा होनी चाहिए। वह मननशील हो और उद्यमी। उसका विनयवान होना भी जरूरी है। मोक्षमार्ग प्रकाशक के पंडित टोडरमल ही वक्ता हैं और वे ही श्रोता, वे ही शंकाकार हैं और वे ही समाधानकर्त्ता हैं। उक्त ग्रंथ में अभिन्न वक्ता-श्रोता का जो स्वरूप है वह अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिलता। मोक्षमार्ग प्रकाशक का शंकाकार और समाधानकर्त्ता उनके आदर्श श्रोता और वक्ता हैं।

पठन-पाठन के योग्य शास्त्र

वक्ता और श्रोता के स्वरूप के साथ ही उन्होंने आदर्श शास्त्र के बारे में भी विचार व्यक्त किए हैं। उनकी दृष्टि में वीतराग भाव के पोषक शास्त्र ही पठन-पाठन के योग्य हैं। वे लिखते हैं :–

"जातैं जीव संसार विषैं नाना दुःखनि करि पीड़ित हैं, सो शास्त्र-रूपी दीपक करि मोक्षमार्गकौं पावैं तौ उस मार्ग विषैं आप गमन करि उन दुःखनितैं मुक्त होय। सो मोक्षमार्ग एक वीतराग भाव है, तातैं जिन शास्त्रनि विषैं काहू प्रकार राग-द्वेष-मोह भावनि का निषेध करि वीतराग भाव का प्रयोजन प्रगट किया होय तिनिही शास्त्रनि का वांचना सुनना उचित है। बहुरि जिन शास्त्रनि विषैं शृंगार भोग कौतूहलादिक पोषि राग भाव का अर हिंसा-युद्धादिक पोषि द्वेष भाव का अर अतत्त्व श्रद्धान पोषि मोह भाव का प्रयोजन प्रगट किया होय

---

[1] मो० मा० प्र०, ४०२–४०३

ते शास्त्र नाहीं शस्त्र हैं। जातैं जिन राग-द्वेष-मोह भावनि करि जीव अनादितैं दुःखी भया तिनकी वासना जीव कै बिना सिखाई ही थी। बहुरि इन शास्त्रनि करि तिनही का पोषण किया, भले होने की कहा शिक्षा दीनी। जीव का स्वभाव घात ही किया तातैं ऐसे शास्त्रनि का बाँचना सुनना उचित नाहीं है। इहाँ बाँचना सुनना जैसे कह्या तैसें ही जोड़ना सीखना सिखावना लिखना लिखावना आदि कार्य भी उपलक्षण करि जान लेनें। ऐसें साक्षात् वा परम्परा करि वीतराग भाव कौं पोषें ऐसे शास्त्र ही का अभ्यास करने योग्य है[१]।"

जिनमें वस्तु स्वरूप का सच्चा वर्णन हो, जो वीतराग भाव के पोषक हों, जो आत्म-शान्ति का मार्ग दिखाते हों, जिनमें व्यर्थ की राग-द्वेषवर्द्धक बातें न हों, जिनसे सच्चा सुख प्राप्त करने का प्रयोजन सिद्ध होता हो, वे ऐसे शास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने की प्रेरणा देते हैं।

अप्रयोजनभूत शास्त्रों के पढ़ने के पंडितजी विरोधी नहीं हैं क्योंकि उनके जानने से तत्त्वज्ञान विशेष निर्मल होता है और वे भी आगामी रागादि भाव के घटाने वाले हैं, पर उनकी शर्त यह है कि वे राग-द्वेष के पोषक न हों। शास्त्रों के इस कथन का कि 'प्रयोजनभूत थोड़ा जानना ही कार्यकारी है' – आशय स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि यह कथन उस व्यक्ति की अपेक्षा है जिसमें बुद्धि कम है और जिसके पास समय कम है। यदि कोई शक्तिसम्पन्न है, वह बहुशास्त्रविद् भी हो सकता है। बहुशास्त्रज्ञता प्रयोजनभूत ज्ञान को अधिक स्पष्ट और विशद् करती है[२]। वे स्वयं बहुशास्त्रविद् थे[३]। इस सम्बन्ध में उनके विचार एकदम स्पष्ट हैं :–

"सामान्य जाननेतैं विशेष जानना बलवान् है। ज्यौं-ज्यौं विशेष जानैं त्यौं-त्यौं वस्तु स्वभाव निर्मल भासै, श्रद्धान दृढ़ होय, रागादि घटैं, तातैं तिस अभ्यास विषैं प्रवर्त्तना योग्य है[४]।"

---

[१] मो० मा० प्र०, २१–२२

[२] वही, २६७

[३] देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ, ६२–६३

[४] मो० मा० प्र०, ४३२

"बहुरि व्याकरण न्यायादिक शास्त्र हैं, तिनका भी थोरा-बहुत अभ्यास करना। जातैं इनिका ज्ञान बिना बड़े शास्त्रनिका अर्थ भासै नाहीं। बहुरि वस्तु का भी स्वरूप इनकी पद्धति जानें जैसा भासै, तैसा भाषादिक करि भासै नाहीं। तातैं परम्परा कार्यकारी जान इनका भी अभ्यास करना। परन्तु इनहीं विषैं फंसि न जाना। किछू इनका अभ्यास करि प्रयोजनभूत शास्त्रनि का अभ्यास विषैं प्रवर्त्तना। बहुरि वैद्यकादि शास्त्र हैं, तिनतैं मोक्षमार्ग विषैं किछू प्रयोजन ही नाहीं। तातैं कोई व्यवहारधर्म का अभिप्रायतैं बिना खेद इनिका अभ्यास हो जाय तौ उपकारादि करना, पाप रूप न प्रवर्त्तना। अर इनका अभ्यास न होय तौ मति होहु, बिगार किछू नाहीं[1]।"

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका की पीठिका में चतुर और मूर्ख किसान का उदाहरण देकर उन्होंने अपने विचारों को स्पष्ट किया है। उन्होंने लिखा है :–

"जैसें स्याना खितहर अपनी शक्ति अनुसारि हलादिकतैं थोड़ा बहुत खेत को संवारि समय विषैं बीज बोवे तो ताकौं फल की प्राप्ति होई। तैसें तू भी जो अपनी शक्ति अनुसारि व्याकरणादिक के अभ्यास तैं थौरी-बहुत बुद्धि को संवारि यावत् मनुष्य पर्याय वा इंद्रियनि की प्रबलता इत्यादिक प्रवर्तें हैं तावत् समय विषैं तत्त्वज्ञान को कारण जे शास्त्र तिनिका अभ्यास करेगा तो तुझको सम्यक्तादि की प्राप्ति हो सकेगी। बहुरि जैसें अयाना खितहर हलादिकतैं खेत को संवारता-संवारता ही समय को खोवे, तो ताकौं फल प्राप्ति होने की नाहीं, वृथा ही खेद-खिन्न भया। तैसें तूं भी जो व्याकरणादिकतैं बुद्धि को संवारता-संवारता ही समय खोवेगा तो सम्यक्त्वदिक की प्राप्ति होने की नाहीं। वृथा ही खेद-खिन्न भया। बहुरि इस काल विषैं आयु बुद्धि आदि स्तोक हैं तातैं प्रयोजन मात्र अभ्यास करना, शास्त्रनि का तो पार है नाहीं[2]।"

---

[1] मो० मा० प्र०, ४३२–३३

[2] स० चं० पी०, १३

मोक्षमार्ग प्रकाशक उनका आदर्श शास्त्र है । उनका शास्त्र लिखने का उद्देश्य उस समय के मंदज्ञान वाले जीवों का भला करना था। इसीलिए उन्होंने धर्मबुद्धि से भाषामय ग्रंथ की रचना की है। वे लिखते हैं कि यदि कोई इससे लाभ नहीं उठाता है तो इनकी कृति का कोई दोष नहीं है, बल्कि लाभ न लेने वाले का अभाग्य है। जैसे एक दरिद्री चिन्तामणि को देखकर भी नहीं देखना चाहता और कोढ़ी उपलब्ध अमृत का पान नहीं करता तो इसमें दोष दरिद्री और कोढ़ी का ही है, चिन्तामणि और अमृत का नहीं[1] ।

मोक्षमार्ग प्रकाशक की उन्होंने दीपक से तुलना की है । संसार को भयंकर अटवी बताते हुए वे लिखते हैं कि इसमें अज्ञान-अंधकार व्याप्त हो रहा है, अतः जीव इससे बाहर निकलने का रास्ता प्राप्त नहीं कर पाते हैं और तड़फ-तड़फ कर दुःख भोगते रहते हैं। उनके भले के लिए तीर्थंकर केवली भगवानरूपी सूर्य का प्रकाश होता है। जब सूर्यास्त हो जाता है तो प्रकाश के लिए दीपकों की आवश्यकता होती है। अतः जब केवलीरूपी सूर्य अस्त हो गया तो ग्रन्थरूपी दीपक जलाये गए। जैसे दीपकों से दीपक जलाने की परम्परा चलती रहती है, उसी प्रकार ग्रंथों से ग्रंथनिर्माण की परम्परा चलती रही। उसी परम्परा में यह मोक्षमार्ग प्रकाशक भी मुक्ति के मार्ग पर प्रकाश डालने वाला एक दीपक है[2] । यद्यपि मार्ग पर कितना ही प्रकाश क्यों न हो, पर आँख वाले को ही दिखाई देता है, अन्धे को नहीं; तथापि अन्धे को दिखाई नहीं देने से प्रकाश अन्धकार नहीं हो जाता, प्रकाश तो प्रकाश ही रहता है । वे कहते हैं कि यदि किसी को मोक्षमार्ग दिखाई न दे तो मोक्षमार्ग प्रकाशक के प्रकाशकत्व में कोई अन्तर नहीं आता । उन्हीं के शब्दों में :–

"बहुरि जैसें प्रकाश भी नेत्र रहित वा नेत्र विकार सहित पुरुष हैं तिनिकूं मार्ग सूझता नाहीं तौ दीपककै तौ मार्गप्रकाशकपने का

---

[1] मो० मा० प्र०, २९-३०

[2] वही, २८

अभाव भया नाहीं, तैसें प्रगट किए भी जे मनुष्य ज्ञानरहित हैं वा मिथ्यात्वादि विकार सहित हैं तिनकूं मोक्षमार्ग सूझता नाहीं, तौ ग्रन्थकै तौ मोक्षमार्ग प्रकाशकपने का अभाव भया नाहीं[1]।

वीतराग-विज्ञान (सम्यक्भाव)

पंडित टोडरमल ने मंगलाचरण में पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करने के पूर्व 'वीतराग-विज्ञान' को नमस्कार किया क्योंकि पंचपरमेष्ठी बनने का उपाय वीतराग-विज्ञान ही है। वीतराग-विज्ञान केवल विज्ञान ही नहीं है, वह आत्मविज्ञान भी है, इसीसे मंगलमय और मंगलकरण है[2]। मंगलकरण इसलिए क्योंकि वह स्वयं मंगलस्वरूप है तथा जो स्वयं मंगलमय हो, वही मंगलकरण हो सकता है। पंचपरमेष्ठी पद इसी वीतराग-विज्ञान के परिणाम हैं।

पंडित टोडरमल के लिए मोक्षमार्ग मात्र ज्ञान नहीं वरन् आत्मविज्ञान है, जिसे वे वीतराग-विज्ञान कहते हैं। चूकि आत्मा अमूर्त है, निराकार है, ज्ञानदर्शन स्वरूप है, अतः उसका वैज्ञानिक (भौतिक) विश्लेषण सम्भव नहीं है। वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए जिस वैज्ञानिक प्रक्रिया की जरूरत होती है, उसमें किसी भी मान्यता या सिद्धान्त को तब तक सिद्ध नहीं माना जाता, जब तक वह तथ्यों को प्रायोगिक विधि से सिद्ध नही हो जाता। फिर भी किसी पदार्थ की सिद्धि के लिए कोई न कोई सिद्धान्त की कल्पना करनी ही पड़ती है। जैन दर्शन का स्थापित सिद्धान्त है कि संसार में जड़ और चेतन ये दो मुख्य तत्त्व हैं। वह दोनों की अनन्तता में विश्वास करता है। अनादिकाल से चेतन और जड़ (कर्म) संयोगरूप से सम्बन्धित हैं। कर्मोदय में जीव के रागादि विकार भाव होते हैं और उन भावों से नवीन कर्म बन्ध होता है।

---

[1] मो० मा० प्र०, २८-२६

[2] मगलमय मंगलकरण, वीतराग विज्ञान।
नमौं ताहि जातैं भये, अरहंतादि महान ।।
—मो० मा० प्र०, १

इस प्रकार अनादिचक्र चल रहा है । इसी का नाम संसार है । शरीर सहित आत्मा ही वीतराग-विज्ञान की प्रयोगशाला है । शरीरादि जड़ पदार्थों की उपस्थिति में ही चेतन तत्त्व की अनुभूति वीतराग-विज्ञान का मूल लक्ष्य है । अतः इसे भेद-विज्ञान भी कहा गया है । भेद-विज्ञान अर्थात् जड़ और चेतन की भिन्नता का ज्ञान । यद्यपि आत्मा का वैज्ञानिक (भौतिक) विश्लेषण तो संभव नहीं तथापि उसकी अनुभूति संभव है, इसी अर्थ में वह विज्ञान है । उसका आधार वीतरागता है क्योंकि आत्मानुभूति वीतराग भाव से ही संभव है, अतः वह वीतराग-विज्ञान है । पंडित टोडरमल ने मोक्षमार्ग में वीतरागता को सर्वोच्च प्राथमिकता दी है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों की परिभाषा करते हुए उन्होंने निष्कर्ष रूप में वीतरागता को प्रमुख स्थान दिया है । बहुत विस्तृत विश्लेषण करने के बाद वे लिखते हैं :–

"तातैं बहुत कहा कहिए, जैसैं रागादि मिटावनेका श्रद्धान होय सो ही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है । बहुरि जैसैं रागादि मिटावनेका जानना होय सो ही जानना सम्यग्ज्ञान है । बहुरि जैसैं रागादि मिटैं सो ही आचरण सम्यक्चारित्र है । ऐसा ही मोक्षमार्ग मानना योग्य है[1] ।"

रागादि भाव के अभाव का नाम ही वीतराग भाव है । वीतराग भाव राग-द्वेष के अभावरूप आत्मा की वास्तविक स्थिति है । उसका विज्ञान ही वीतराग-विज्ञान है । वीतराग-विज्ञान ही निज भाव है, वह ही मोक्षमार्ग है, और वह मिथ्यात्व के अभाव से प्रगट होता है । यदि वीतराग-विज्ञान के प्रकाश से वीतराग-विज्ञानरूप निज भाव की प्राप्ति हो जाये तो सम्पूर्ण दुःखों का अभाव सहज ही हो जाता है ।

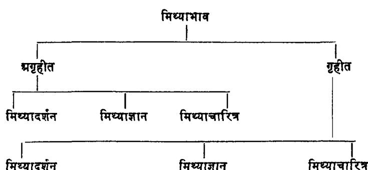
मिथ्याभाव

इस आत्मा के समस्त दुःखों का कारण एक मिथ्याभाव (मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र) ही है। यही संसाररूपी वृक्ष की जड़ है । इसका नाश किए बिना आत्मानुभूति प्राप्त नहीं हो

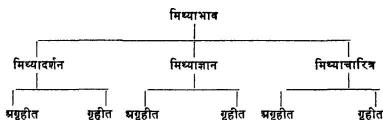
[1] मो० मा० प्र०, ३१३

सकती है। इस मिथ्यात्व भाव की पुष्टि कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र के संयोग से होती रहती है[1]।

यही कारण है कि पंडित टोडरमल ने मिथ्याभावों और उनके कारणों का विस्तृत वर्णन किया है। उन्हें उन्होंने दो भागों में विभाजित किया है, अगृहीत और गृहीत। मिथ्याभाव तीन प्रकार के होते हैं। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र। इस प्रकार ये कुल मिलाकर छह हुए। इन्हें यों रखा जा सकता है :–



एक तरीका यह भी हो सकता है :–



---

[1] मो० मा० प्र०

(क) इस भव के सब दुःखनिके, कारण मिथ्या भाव। पृ० १०६

(ख) इस भवतरु का मूल इक, जानहु मिथ्या भाव। पृ० २८३

(ग) मिथ्या देवादिक भजें, हो है मिथ्या भाव।
तज तिनकौं सांचे भजौ, यह हित हेतु उपाव ॥ पृ० २४७

अगृहीत मिथ्याभाव अनादि हैं। ये जीव ने ग्रहण नहीं किए हैं, इनका अस्तित्व दूध में घी के समान उसके अस्तित्व से ही जुड़ा हुआ है। इनसे कर्म बन्धन होता है और बन्धन ही दुःख है। अगृहीत मिथ्यात्व जीव की विवशता है, परन्तु गृहीत मिथ्यात्व वह है जिसे जीव स्वयं स्वीकारता है और उसमें कारण (निमित्त) पड़ते हैं – कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का सही स्वरूप न समझ पाने के कारण ही यह गलत मार्ग अपना लेता है। इसलिए उन्होंने इनका विस्तृत वर्णन किया है।

वे किसी व्यक्ति विशेष को कुदेव, कुगुरु या कुधर्म नहीं कहते वरन् अदेव में देवबुद्धि, अगुरु में गुरुबुद्धि एवं अधर्म में धर्मबुद्धि – कुदेव, कुगुरु और कुधर्म हैं। उन्होंने कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र और कुधर्म की आलोचना करते हुए मात्र जैनेतर दर्शनों की ही नहीं वरन् जैन दर्शन व उसके अन्तर्गत आनेवाले भेद-प्रभेदों में उत्पन्न विकृतियों की समान रूप से आलोचना की है। जैनेतर दर्शनों पर संक्षिप्त में सामान्य रूप से विचार करने के उपरान्त जैन दर्शन में विशेषकर दिगम्बर जैनियों (वे स्वयं दिगम्बर जैन थे) में समागत विकृतियों की विस्तृत समीक्षा उन्होंने की।

जैनेतर दर्शनों में उन्होंने सर्वव्यापी अद्वैत ब्रह्म, सृष्टि कर्तृत्ववाद, मायावाद, अवतारवाद, भक्तियोग, ज्ञानयोग, सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक, जैमिनी, बौद्ध, चार्वाक, मुस्लिम मत, एवं इनके ही अन्तर्गत ब्रह्म से कुल प्रवृत्ति, यज्ञ में पशुहिंसा, पवनादि साधन द्वारा ज्ञानी होना, आदि विषयों पर विचार किया है। श्वेताम्बर जैन मत को भी उन्होंने अन्य मत विचार वाले अधिकार में रखा है तथा उसके सम्बन्ध में विचार करते हुए ढूंढक मत पर भी अपने विचार व्यक्त किए हैं। अन्य मत-मतान्तरों के अतिरिक्त लोक-प्रचलित सूर्य, चन्द्र, ग्रह, गौ, सर्प, भूत-प्रेत-व्यन्तर, एवं स्थानीय गणगौर, सांझी, चौथि, शीतला, दिहाड़ी, तथा मुस्लिमों में प्रचलित पीर-पैगम्बर आदि तथा शस्त्र, अग्नि, जल, वृक्ष, रोड़ी आदि की उपासना पर भी अपने तर्कसंगत विचार प्रस्तुत किए हैं।

इस प्रकार उन्होंने उस समय सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रचलित मत-मतान्तर एवं उपासना-पद्धतियों पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। इससे प्रतीत होता है कि वे मात्र स्वप्नलोक में विचरण करने वाले दार्शनिक न थे वरन् देश-काल की परिस्थितियों से पूर्ण परिचित थे और उन सब के बारे में उन्होंने विचार किया था।

उन्होंने गुरुओं के सम्बन्ध में विचार करते हुए कुल अपेक्षा, पट्ट अपेक्षा, भेष अपेक्षा आदि से अपने को गुरु मानने वालों की भी आलोचना की है। इसके बाद वे जैनियों में विद्यमान सूक्ष्म मिथ्याभाव का वर्णन करते हैं। वे लिखते हैं :–

"जे जीव जैनी हैं, जिन आज्ञाकौं मानें हैं अर तिनकै भी मिथ्यात्व रहै है ताका वर्णन कीजिए है – जातें इस मिथ्यात्व वैरी का अंश भी बुरा है, तातें सूक्ष्म मिथ्यात्व भी त्यागने योग्य है[1]।"

विविध मत समीक्षा करते समय या जैनियों में समागत विकृतियों की आलोचना करते समय वे अपने वीतराग भाव को नहीं भूलते हैं। इसमें उनका उद्देश्य किसी को दुःख पहुंचाना नहीं है और न वे द्वेष भाव से ऐसा करते हैं, किन्तु करुणा भाव से ही यह सब किया है। जहाँ वे द्वेषपूर्वक कुछ कहना पसन्द नहीं करते हैं, वहाँ उन्हें भय के कारण सत्य छिपाना भी स्वीकार नहीं है। वे निर्भय हैं, पर शान्त। वे अपनी स्थिति इस प्रकार स्पष्ट करते हैं :–

"जो हम कषाय करि निन्दा करें वा औरनिकौं दुःख उपजावें तौ हम पापी ही हैं। अन्य मत के श्रद्धानादिक करि जीवनिकै अतत्वश्रद्धान दृढ़ होय, तातें संसारविषें जीव दुःखी होय, तातें करुणा भाव करि यथार्थ निरूपण किया है। कोई बिना दोष ही दुःख पावै, विरोध उपजावै तौ हम कहा करें। जैसें मदिरा की निन्दा करतें कलाल दुःख पावें, कुशील की निन्दा करतें वेश्यादिक दुःख पावें, खोटा-खरा पहिचानने की परीक्षा बतावतें ठग दुःख पावें तौ कहा

[1] मो०मा० प्र०, २८३

करिए। ऐसें जो पापीनिके भयकरि धर्मोपदेश न दीजिए तौ जीवनिका भला कैसें होय ? ऐसा तौ कोई उपदेश है नाहीं, जाकरि सर्व ही चैन पावें। बहुरि वह विरोध उपजावै, सौ विरोध तौ परस्पर हो है। हम लरें नाहीं, वे आप ही उपशान्त होय जायेंगे। हमकौं तौ हमारे परिणामों का फल होगा[1]।"

उनकी दृष्टि में एक वीतराग भाव ही परम धर्म है और वही अहिंसा है। अतः राग भाव की पोषक और हिंसामूलक क्रियाओं को उन्होंने कुधर्म कहा है। धर्म के नाम पर फैले आडम्बर और शिथिलाचार का उन्होंने डट कर विरोध किया है। शैथिल्य के वर्णन में तत्कालीन समाज में धर्म के नाम पर चलने वाली प्रवृत्तियों का चित्र उपस्थित होता है :-

"बहुरि व्रतादिक करिकैं तहाँ हिंसादिक वा विषयादिक बधावै है। सौ व्रतादिक तौ तिनकौं घटावने के अर्थि कीजिए है। बहुरि जहाँ अन्न का तौ त्याग करै अर कंदमूलादिकनि का भक्षण करै, तहाँ हिसा विशेष भई – स्वादादिक विषय विशेष भए। बहुरि दिवस विषैं तौ भोजन करै नाही, अर रात्रि विषैं करें। सौ प्रत्यक्ष दिवस भोजनतैं रात्रि भौजन विषैं हिंसा विशैष भासै, प्रमाद विशेष होय। बहुरि व्रतादिक करि नाना शृंगार बनावै, कुतूहल करै, जूवा आदिरूप प्रवर्तै, इत्यादि पापक्रिया करै। बहुरि व्रतादिक का फल लौकिक इष्ट की प्राप्ति, अनिष्ट का नाशकौं चाहै, तहाँ कषायनि की तीव्रता विशेष भई। ऐसैं व्रतादिक करि धर्म मानैं हैं, सौ कुधर्म है।

बहुरि भक्त्यादि कार्यनिविषै हिंसादिक पाप बधावें, वा गीत नृत्यगानादिक वा इष्ट भोजनादिक वा अन्य सामग्रीनि करि विषयनिकौं पौषें, कुतूहल प्रमादादिरूप प्रवर्तै। तहाँ पाप तौ बहुत उपजावें अर धर्मका किछू साधन नाहीं, तहाँ धर्म मानै सो सब कुधर्म है[2]।"

---

[1] मो० मा० प्र०, २०२

[2] वही, २७८–७६

वे सती होना, काशीकरोत लेना आदि आत्मघाती प्रवृत्तियों का धर्म के नाम पर होना धर्म के लिए कलंक मानते थे और उस सामन्त युग में उन्होंने उनका डट कर विरोध किया। उन्होंने निर्भय होकर उनके विरुद्ध आवाज उठाई, उन्हें कुधर्म घोषित किया। उन्होंने यह सब कुछ अपने जीवन की बाजी लगा कर किया। उनके निम्नलिखित शब्दों में क्रान्ति का शंखनाद है :–

"बहुरि केई इस लोक विषैं दुःख सह्या न जाय या परलोक विषैं इष्ट की इच्छा वा अपनी पूजा बढ़ावने के अर्थि वा कोई क्रोधादिककरि अपघात करैं। जैसें पतिवियोगतैं अग्नि विषैं जलकरि सती कुहावे है वा हिमालय गलै है, काशीकरोत ले है, जीवित मारी ले है, इत्यादि कार्यकरि धर्म मानैं हैं। सो अपघातका तौ बड़ा पाप है। शरीरादिकतैं अनुराग घट्या था, तौ तपश्चरणादि किया होता। मरि जानें में कौन धर्म का अंग भया। तातें अपघात करना कुधर्म है। ऐसें ही अन्य भी घने कुधर्मके अंग हैं। कहाँ ताईं कहिए, जहाँ विषय कषाय बधै अर धर्म मानिए, सौ सर्व कुधर्म जाननें[1]।"

उनका निष्कर्ष है – 'जहाँ विषय-कषाय बढ़े और धर्म माने वह कुधर्म है', क्योंकि विषय-कषायरूप प्रवृत्ति तो अधर्म है और अधर्म में धर्मबुद्धि वह कुधर्म है। वस्तुतः विषय-कषाय भाव स्वयं में कुधर्म नहीं हैं, वे तो अधर्म रूप हैं, उन्हें धर्म मानना कुधर्म है। इस प्रकार उक्त मान्यता ही कुधर्म रूप है। इसी प्रकार रागी-द्वेषी व्यक्ति कुदेव नहीं है क्योंकि वह तो अदेव (देव नहीं) है, उसे देव मानना कुदेव है, अतः मान्यता ही कुदेव है, कोई व्यक्ति विशेष नहीं। ऐसे ही शास्त्र और गुरु के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

धर्म विषय-कषाय के अभावरूप है। धर्म की इसी कसौटी पर वे तत्कालीन जैन समाज में प्रचलित धार्मिक क्रियाकाण्डों को कसते हैं। जैनेतरों की आलोचना से भी कठोर आलोचना वे जैनियों की करते दिखाई देते हैं। धर्म के नाम पर चलने वाला पोपडम

---

[1] मो० मा० प्र०, २७६

उन्हें बिलकुल स्वीकार नहीं। वे उस पर कस कर प्रहार करते हैं। उनके ही शब्दों में :–

"देखो काल का दोष, जैनधर्म विषैं भी कुधर्म की प्रवृत्ति भई। जैनमत विषैं जे धर्मपर्व कहे हैं, तहाँ तौ विषय-कषाय छोरि संयमरूप प्रवर्त्तना योग्य है। ताकौं तौ आदरैं नाहीं अर व्रतादिक का नाम धराय तहाँ नाना शृंगार बनावैं वा गरिष्ठ भोजनादि करैं वा कुतूहलादि करैं वा कषाय बधावने के कार्य करैं, जूवा इत्यादि महापापरूप प्रवर्त्तै[1]।"

"बहुरि जिन मंदिर तौ धर्मका ठिकाना है। तहाँ नाना कुकथा करनी, सोवना इत्यादिक प्रमाद रूप प्रवर्त्तै वा तहाँ बाग बाड़ी इत्यादि बनाय विषय-कषाय पोषैं। बहुरि लोभी पुरुषनिकौं गुरु मानि दानादिक दें वा तिनकी असत्य-स्तुतिकरि महंतपनौं मानैं, इत्यादि प्रकार करि विषय-कषायनिकौं तौ बधावै अर धर्म मानै। सो जिनधर्म तौ वीतराग भावरूप है। तिस विषैं ऐसी प्रवृत्ति कालदोषतैं ही देखिए है[2]।"

उक्त कथन में तत्कालीन धार्मिक समाज में व्याप्त शिथिलाचरण का चित्र आ गया है। लेखक का वह रूप भी सामने आया है, जो उसके जीवन में कूट-कूट कर भरा था। उसने यहाँ स्पष्ट घोषणा कर दी है कि – जैन धर्म तो वीतराग भाव का नाम है, उसमें राग-रंग को कोई स्थान प्राप्त नहीं है।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म मिथ्याभाव

जैनियों में पाये जाने वाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म मिथ्याभाव को उन्होंने दो रूपों में रखा है :–

(१) निश्चय और व्यवहार को न समझ पाने के कारण होने वाला।

(२) चारों अनुयोगों की पद्धति को सही रूप में न समझ पाने के कारण होने वाला।

---

[1] मो० मा० प्र०, २७६–८०

[2] वही, २८०

इनका विस्तृत वर्णन उन्होंने मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें-आठवें अधिकार में क्रमशः किया है। सातवें अधिकार में लेखक भवरूपी तरु का मूल एक मात्र मिथ्याभाव को बताता है। इस मिथ्यात्व का एक अंश भी बुरा है, अतः स्थूल मिथ्यात्व की तरह सूक्ष्म मिथ्यात्व भी त्यागने योग्य है। स्थूल मिथ्याभाव का वर्णन पिछले अध्यायों में किया जा चुका है। इस अध्याय में सूक्ष्म मिथ्यात्व का विवेचन है। सूक्ष्म मिथ्याभाव से पंडितजी का आशय उन अन्तरंग व वाह्य जैन आचार-विचारों से है जो तात्त्विक दृष्टि से विचाराभास हैं।

पंडितजी के अनुसार जैनधर्म विशुद्ध आत्मवादी है। उसकी कथनशैली में यथार्थ कथन को निश्चय और उपचारित कथन को व्यवहार कहा है। व्यवहार निश्चय का साधन है, साध्य नहीं। व्यवहार नय की अपनी अपेक्षाएँ और सीमाएँ हैं। उन सीमाओं को नहीं पहिचान पाने से भ्रम उत्पन्न हो जाते हैं। जैन दर्शन का प्रत्येक वाक्य स्याद्वाद-प्रणाली के अन्तर्गत कहा जाता है। उसके अपने अलग सन्दर्भ और परिप्रेक्ष्य होते है। वह कथन किस परिप्रेक्ष्य और संदर्भ में हुआ है, इसे समझे बिना उसका मर्म नहीं समझा जा सकता है, उल्टा गलत आशय ग्रहण कर लेने से लाभ के स्थान पर हानि की सम्भावना अधिक रहती है।

पंडित टोडरमल ने जैन शास्त्रों के कथनों को उनके सही सन्दर्भ में देखने का आग्रह किया है और कई उदाहरण प्रस्तुत करके यह स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है कि किस वाक्य का किस प्रकार गलत अर्थ समझ लिया जाता है और उसका वास्तविक अर्थ क्या होता है। प्रत्येक कथन एक निश्चित प्रयोजन लिए होता है। उस प्रयोजन को लक्ष्य में रखे बिना उसका अर्थ निकालने का प्रयास यदि किया जायगा तो सत्य स्थिति हमारे सामने स्पष्ट नहीं हो पायगी, किन्तु सन्देह उत्पन्न हो जावेंगे। उक्त तथ्यों को स्पष्ट करने के लिए पंडितजी द्वारा प्रस्तुत कुछ अंश उदाहरणार्थ नीचे दिये जाते हैं :–

"केई जीव निश्चयकौं न जानते निश्चयाभास के श्रद्धानी होई आपकौं मोक्षमार्गी मानैं हैं। अपने आत्मा कौं सिद्ध समान अनुभवै हैं। सो आप प्रत्यक्ष संसारी हैं। भ्रमकरि आपकौं सिद्ध मानैं सोई मिथ्यादृष्टि है। शास्त्रनिविषैं जो सिद्ध समान आत्माकौं कह्या है, सो द्रव्यदृष्टि करि कह्या है, पर्याय अपेक्षा समान नाहीं है। जैसें राजा अर रंक मनुष्यपने की अपेक्षा समान हैं, राजापना और रंकपना की अपेक्षा तो समान नाहीं। तैसें सिद्ध अर संसारी जीवत्वपनेकी अपेक्षा समान हैं, सिद्धपना संसारीपना की अपेक्षा तौ समान नाहीं। यहु जैसें सिद्ध शुद्ध हैं, तैसें ही आपको शुद्ध मानै। सो शुद्ध-अशुद्ध अवस्था पर्याय है। इस पर्याय अपेक्षा समानता मानिए, सो यहु मिथ्यादृष्टि है।

बहुरि आपकै केवलज्ञानादिकका सद्भाव मानैं, सो आपकै तौ क्षयोपशमरूप मतिश्रुतादि ज्ञान का सद्भाव है। क्षायिकभाव तौ कर्म्म का क्षय भए होइ है। यह भ्रमतै कर्म्मका क्षय भए बिना ही क्षायिकभाव मानैं। सो यहु मिथ्यादृष्टि है। शास्त्रविषैं सर्वजीवनि का केवलज्ञान स्वभाव कह्या है, सो शक्ति अपेक्षा कह्या है। सर्व जीवनिविषैं केवलज्ञानादिरूप होने की शक्ति है। वर्तमान व्यक्तता तौ व्यक्त भए ही कहिए[1]।"

उक्त कथन को अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि जल का स्वभाव शीतल है, किन्तु अग्नि के संयोग से वर्तमान में वह गर्म है। यदि कोई व्यक्ति जल का शीतल स्वभाव कथन सुन कर गर्म खौलता हुआ पानी पी लेवे तो जले बिना नहीं रहेगा। उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव तो केवलज्ञान अर्थात् पूर्णज्ञान स्वभावी है, किन्तु वर्तमान में तो वह अल्पज्ञानरूप ही परिणमित हो रहा है। यदि कोई उसे वर्तमान पर्याय में भी केवलज्ञानरूप मान ले तो अपेक्षा और सन्दर्भ का सही ज्ञान न होने से भ्रम में ही रहेगा।

---

[1] मो० मा० प्र०, २८३-२८४

इसी प्रकार शास्त्रों में तप को निर्जरा का कारण कहा है और अनशनादि को तप कहा है। व्यवहाराभासी जीव अनशन आदि तपों का सही स्वरूप तो जानता नहीं है और अपनी कल्पनानुसार उपवासादि करके तप मान लेता है। इस बात को पंडितजी ने इस प्रकार स्पष्ट किया है :–

"बहुरि यहु अनशनादि तपतै निर्जरा मानै है। सो केवल बाह्य तप ही तौ किए निर्जरा होय नाहीं। बाह्यतप तौ शुद्धोपयोग बधावनै के अर्थि कीजिए है। शुद्धोपयोग निर्जराका कारण है। तातैं उपचार करि तपकौं भी निर्जरा का कारण कह्या है। जो बाह्य दुःख सहना ही निर्जरा का कारण होय, तौ तिर्यचादि भी भूख तृषादि सहैं हैं[१]।"

"शास्त्रविषैं 'इच्छानिरोधस्तपः' ऐसा कह्या है। इच्छा का रोकना ताका नाम तप है। सो शुभ-अशुभ इच्छा मिटै उपयोग शुद्ध होय, तहाँ निर्जरा हो है। तातैं तपकरि निर्जरा कही है[२]।"

"यहाँ प्रश्न – जो ऐसैं है तो अनशनादिककौं तप संज्ञा कैसे भई ? ताका समाधान – इनिकौं बाह्यतप कहैं हैं। सो बाह्य का अर्थ यहु है जो बाह्य औरनिकौं दीसै यहु तपस्वी है। बहुरि आप तो फल जैसा अंतरंग परिणाम होगा, तैसा ही पावेगा। जातैं परिणामशून्य शरीर की क्रिया फलदाता नाहीं[३]।"

"यहाँ कहेगा – जो ऐसैं है तो हम उपवासादि न करैंगे ?

ताकौं कहिए है – उपदेश तौ ऊँचा चढनेकौं दीजिए है। तू उलटा नीचा पड़ेगा, तौ हम कहा करैंगे। जो तू मानादिकतैं उपवासादि करै है, तौ करि वा मति करै; किछू सिद्धि नाहीं। अर जो धर्मबुद्धितैं आहारादिकका अनुराग छोड़े है, तौ जैता राग छूट्या तैता ही छूट्या। परन्तु इसहीकौं तप जानि इसतैं निर्जरामानि सन्तुष्ट मति होहु[४]।"

---

[१] मो० मा० प्र०, ३३७

[२] वही, ३३८

[३] वही, ३३९

[४] वही, ३४०

सूक्ष्म मिथ्याभावों का विश्लेषण करते समय लेखक ने सर्वत्र सन्तुलन बनाए रखा है। जहाँ उन्होंने अज्ञानपूर्वक किये जाने वाले व्रत तप आदि को बालव्रत और बालतप कहा है, वहीं उन्होंने स्वच्छंद होने का भी निषेध किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपनी स्थिति इस प्रकार स्पष्ट की है :–

"जाकौं स्वच्छन्द होता जानै, ताकौं जैसें वह स्वच्छन्द न होय, तैसें उपदेश दे। बहुरि अध्यात्मग्रंथनि विषें भी स्वच्छन्द होने का जहाँ-तहाँ निषेध कीजिए है। तातैं जो नीके तिनकौ सुनैं तो स्वच्छन्द होता नाहीं। अर एक बात सुनि अपनें अभिप्रायतें कोऊ स्वच्छन्द होय, तौ ग्रन्थ का तौ दोष है नाहीं, उस जीव ही का दोष है[1]।"

इसी नीति के अनुसार उन्होंने सर्वत्र सावधानी रखी है। इस सत्य का ज्ञान कराना भी जरूरी है कि बिना आत्मज्ञान के करोड़ों प्रयत्न करने पर भी आत्मोपलब्धि होना सम्भव नहीं है, और यह भी कि सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त वीतरागी चारित्र से ही दुःखों से पूर्ण मुक्ति होगी।

उनकी मूल समस्या यह है कि अधिकांश जैन वस्तु के मर्म को तो जानते नहीं हैं, शास्त्रों का कुछ अंश यहाँ-वहाँ से पढ़ कर अपने मन की कल्पना के अनुसार अविवेकपूर्वक धार्मिक क्रियाएँ करने लगते हैं और अपने को धर्मात्मा मान कर सन्तुष्ट हो जाते हैं। इस तरह के लोगों का चित्रण उन्होंने इस प्रकार किया है :–

"बहुरि सर्वप्रकार धर्मकौं न जानें, ऐसा जीव कोई धर्म का अंगकौं मुख्यकरि अन्य धर्मनिकौ गौण करे है। जैसें केई जीव दयाधर्मकौं मुख्यकरि पूजा प्रभावनादि कार्यकौं उथापै हैं, केई पूजा प्रभावनादि धर्मकौं मुख्य करि हिंसादिक का भय न राखैं हैं, केई तप की मुख्यताकरि आर्त्तध्यानादि करिकैं भी उपवासादि करै वा आपकौं तपस्वी मानि निःशंक क्रोधादि करै हैं। केई दान की मुख्यता करि बहुत पाप करिकैं भी धन उपजाय दान दे हैं, केई आरम्भ

---

[1] मो० मा० प्र०, ४२६-३०

त्याग की मुख्यताकरि याचना आदि करै हैं। केई जीव हिंसा मुख्य करि स्नान शौचादि नाहीं करै हैं। वा लौकिक कार्य आए धर्म छोड़ि तहाँ लगि जांय हैं। इत्यादि प्रकार करि कोई धर्मकौं मुख्यकरि अन्य धर्मकौं न गिने हैं। वा वाके आसरे पाप आचरैं हैं। सो जैसे अविवेकी व्यापारी कोई व्यापार के नफे के अर्थि अन्य प्रकारकरि बहुत टोटा पाड़ै तैसें यहु कार्य भया। चाहिये तो ऐसै, जैसें व्यापारी का प्रयोजन नफा है, सर्व विचारकरि जैसे नफा घना होय तैसें करै। तैसें ज्ञानी का प्रयोजन वीतरागभाव है। सर्व विचारकरि जैसे वीतरागभाव घना होय तैसें करै। जातें मूलधर्म वीतरागभाव है। याही प्रकार अविवेकी जीव अन्यथा धर्म अंगीकार करै हैं, तिनकै तो सम्यक्चारित्र का आभास भी न होय[1]।"

उनके सामने इस प्रकार का जैन समाज था, जिसे उन्हें मोक्षमार्ग बताना था। अतः उन्होंने अपने तत्त्व विवेचन में सर्वत्र सन्तुलन बनाए रखा और प्रत्येक धार्मिक क्रियाकाण्ड को आध्यात्मिक लाभ-हानि की कसौटी पर कसा तथा जो खरा उतरा उसे स्वीकार किया और जो खोटा दिखा उसका डट कर विरोध किया।

इच्छाएँ

उक्त मिथ्याभावों से इच्छाओं और आकांक्षाओं की उत्पत्ति होती है। संसार के समस्त प्राणी इनकी पूर्ति के प्रयत्न में निरन्तर आकुल-व्याकुल रहते हैं और इनकी पूर्ति में सुख की कल्पना करते हैं। किन्तु पंडितजी इच्छा और आकांक्षाओं की पूर्ति में सुख की कल्पना न करके इच्छा के अभाव (उत्पन्न ही न होना) में सुख मानते हैं। वे इच्छाओं में कोई इस प्रकार का भेद नहीं करते कि यह ठीक है और यह बुरी। उनका तो स्पष्ट कहना है कि इच्छा चाहे जिसकी हो, वह होगी दुःखरूप ही। इच्छाओं की पूर्ति करने की दिशा में किया गया पुरुषार्थ ही गलत पुरुषार्थ है। प्रयत्न ऐसा होना चाहिए कि इच्छाएँ उत्पन्न ही न हों। उन्होंने तीन प्रकार की इच्छाओं की

[1] मो० मा० प्र०, ३५४-३५५

चर्चा की है – विषय, कषाय, और पाप का उदय। इनका विश्लेषण वे इस प्रकार करते हैं :–

"दुःख का लक्षण आकुलता है सो आकुलता इच्छा होतें हो है। सोई संसारी जीव कै इच्छा अनेक प्रकार पाइये है। एक तौ इच्छा विषयग्रहण की है सो देख्या जाना चाहै। जैसें वर्ण देखने की, राग सुननेकी, अव्यक्तकौं जानने इत्यादि की इच्छा हो है। सो तहाँ अन्य किछू पीड़ा नाहीं परन्तु यावत् देखै जानै नाहीं तावत् महाव्याकुल होइ। इस इच्छा का नाम विषय है। बहुरि एक इच्छा कषाय भावनिके अनुसारि कार्य करने की है सो कार्य किया चाहै। जैसे बुरा करने की, हीन करने की इत्यादि इच्छा हो है। सो इहाँ भी अन्य कोई पीड़ा नाहीं। परन्तु यावत् वह कार्य न होइ तावत् महाव्याकुल होय। इस इच्छा का नाम कषाय है। बहुरि एक इच्छा पापके उदयतें शरीरविषैं या बाह्य अनिष्ट कारण मिले तब उनके दूरि करने की हो है। जैसें रोग पीड़ा क्षुधा आदि का संयोग भए उनके दूर करने की इच्छा हो है सो इहाँ यहु ही पीड़ा मानै है। यावत् वह दूरि न होइ तावत् महाव्याकुल रहै। इस इच्छा का नाम पाप का उदय है। ऐसें इन तीन प्रकार की इच्छा होतें सर्व ही दुःख मानै हैं सो दुःख ही है[१]।"

इन तीन इच्छाओं के अतिरिक्त उन्होंने एक चौथी इच्छा और मानी है और उसका नाम दिया है पुण्य का उदय। इसकी व्याख्या उन्होंने इस प्रकार दी है :–

"बहुरि एक इच्छा बाह्य निमित्ततैं बनै है सौ इन तीन प्रकार इच्छानि के अनुसारि प्रवर्त्तने की इच्छा हो है। सो तीन प्रकार इच्छानिविषै एक-एक प्रकार की इच्छा अनेक प्रकार है। तहाँ केई प्रकार की इच्छा पूरण करने का कारण पुण्य उदयतैं मिलै। तिनिका साधन युगपत् होइ सकै नाहीं। तातै एकको छोरि अन्यकौं लागै, आगै भी वाकौं छोरि अन्यकौं लागै।…ऐसें ही अनेक कार्यनि

---

[१] मो॰ मा॰ प्र॰, १००–१०१

की प्रवृत्ति विषैं इच्छा हो है सो इस इच्छा का नाम पुण्य का उदय है। याकौं जगत सुख मानै है सो सुख है नाहीं, दुःख ही है[1]।"

इच्छाओं का उक्त वर्गीकरण उनका मौलिक है। इसके पूर्व इच्छाओं का इस प्रकार का वर्गीकरण अन्यत्र देखने में नहीं आया।

यद्यपि उक्त सभी इच्छाओं को वे दुःखरूप ही मानते हैं तथापि कषाय नामक इच्छा से उत्पन्न दुःखावस्था का उन्होंने विस्तार से वर्णन किया है। उसमें होने वाले मरण पर्यन्त कष्ट का बारीकी से उल्लेख करने के उपरान्त वे निष्कर्ष इस प्रकार देते हैं :—

"तहाँ मरण पर्यन्त कष्ट तौ कबूल करिए है अर क्रोधादिक की पीड़ा सहनी कबूल न करिए है। तातैं यह निश्चय भया जो मरणादिकतैं भी कषायनि की पीड़ा अधिक है। बहुरि जब याकै कषाय का उदय होइ तब कषाय किए बिना रह्या जाता नाहीं। बाह्य कषायनि के कारण आय मिलैं तौ उनके आश्रय कषाय करै। न मिलैं तो आप कारण बनावै। जैसैं व्यापारादि कषायनिका कारण न होइ तौ जुआ खेलना वा अन्य क्रोधादिक के कारण अनेक ख्याल खेलना वा दुष्ट कथा कहनी सुननी इत्यादि कारण बनावै है[2]।"

इसी प्रकार कामवासना, जिसकी पूर्ति को जगत सुखरूप मानता है, वे उसे महा दुःखरूप सिद्ध करते हुए लिखते हैं :—

"तिसकरि अति व्याकुल हौ है। आताप उपजै है। निर्लज्ज हौ है, धन खर्चै है। अपजसकौ न गिनै है। परम्परा दुःख होइ वा दंडादिक होय ताकौं न गिनै है। काम पीड़ातैं बाउला हो है। मरि जाय है। सो रसग्रंथनि विषैं काम की दश दशा कही हैं। तहाँ बाउला होना, मरण होना लिख्या है। वैद्यक शास्त्रनि में ज्वर के भेदनि विषैं कामज्वर मरण का कारण लिख्या है। प्रत्यक्ष काम करि मरण पर्यन्त होते देखिए हैं। कामांधकै किछू विचार रहता नाहीं।

---

[1] मो० मा० प्र०, १०१

[2] वही, ७९–८०

पिता पुत्री वा मनुष्य तिर्यंचणी इत्यादितैं रमने लगि जाय हैं। ऐसी काम की पीड़ा महा दुःखरूप है[१]।"

संक्षेप में पंडित टोडरमल के विचार परम्परागत विचार ही हैं, किन्तु उनमें उनका मौलिक चिन्तन सर्वत्र प्रतिफलित हुआ है। किसी भी वस्तु को वे आगम, अनुभव और तर्क की कसौटी पर कस कर ही स्वीकार करते हैं। मात्र परम्परागत होने से वे उसे स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। यद्यपि आर्षवाक्यों को उन्होंने सर्वत्र आगे रखा तथापि तर्कों द्वारा उन्हें तरासा भी, जिससे उनमें एक नवीनता व चमक आ गई है। उन्होंने अपने प्रतिपाद्य को अनुभव करने के बाद पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है, अतः उनके प्रतिपादन में वजन है।



[१] मो० मा० प्र०, ७६

पंचम अध्याय

गद्य शैली

गद्य शैली

पंडित टोडरमल की प्रतिपादन शैली दृष्टान्तमयी प्रश्नोत्तर शैली है। जैसाकि कहा जा चुका है कि उनका लेखन कार्य प्राचीन आगम-ग्रंथों की टीका से आरंभ हुआ लेकिन उसी में से उनके चिन्तक का विकास हुआ। परम्परागत विषय होते हुए भी उन्होंने अपनी लेखन शैली का स्वयं निर्माण किया और अपने अनुभवपूर्ण चिन्तन को ऐसी शैली में रखने का संकल्प किया जो सरल, दृष्टान्तमयी और लोक सुगम हो। 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' नाम में उनकी शैली की झलक मिल जाती है। जहाँ तक प्रतिपाद्य विषय का सम्बन्ध है, इसे हम मोक्षशास्त्र कह सकते हैं अर्थात् संसार से मुक्ति का शास्त्र। लेकिन उन्होंने इसे मोक्षशास्त्र न कह कर 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' कहा। जैन तत्त्वज्ञान की दृष्टि से मोक्षमार्ग पर प्रकाश डालनेवाले कई ग्रंथ हैं, परन्तु इसे 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' कहने में लेखक का अभिप्राय यह बताना है कि उसके विचार से सही मोक्षमार्ग क्या है ? खासकर उन परिस्थितियों के सन्दर्भ में जिनमें उसे इसे प्रकाशित करना है।

लेखक अपनी सीमा, अपने पाठक समाज की बौद्धिक क्षमता और विषय की निस्सीमता से परिचित है। इसलिए वह ऐसी शैली को चुनता है जो एकदम शास्त्रीय न हो, जो आध्यात्मिक सिद्धियों और चमत्कारों से मुक्त हो, वह ऐसी शैली हो जिसमें एक सामान्य जन दूसरे सामान्य जन से बात करता है, उसी आत्मीय शैली को वे स्वीकार करते हैं। वक्ता के जो गुण और धर्म बताये गए हैं, वे प्रकारान्तर से मोक्षमार्ग प्रकाशक में स्वीकृत लेखन शैली के गुण धर्म हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि वे जिस शैली को आदर्श मानते हैं, वह उनकी स्वयं की निर्मित शैली है। यदि शैली मनुष्य के चरित्र की अभिव्यक्ति का प्रतीक हो तो हम इस शैली से पंडित टोडरमल के चिंतक का चरित्र और स्वभाव अच्छी तरह परख

सकते हैं। आध्यात्मिक विषय के प्रतिपादन में स्वीकार की गई शैली में व्यक्तित्व का ऐसा मुखरित रूप बहुत कम आध्यात्मिक लेखकों में मिलता है।

पंडितजी की उक्त शैली में दृष्टान्तों का प्रयोग मणि-कांचन प्रयोग है। एक ही मूल बात के प्रतिपादन के लिए कभी वे एक दृष्टान्त को दूर तक चलाते चले जाते हैं और दृष्टान्त सांगरूपक की सीमाओं को भी लाँघ जाता है। कभी वे एक ही जगह कई दृष्टान्तों का प्रयोग करते हैं। ये दृष्टान्त लोक प्रसिद्ध और जाने माने होते हैं। इनके चयन में गद्यकार टोडरमल का सूक्ष्म वस्तु निरीक्षण प्रतिफलित होता है। उदाहरण के लिए हम यहाँ उनके एक गद्यखण्ड पर विचार करेंगे। इस गद्यखण्ड का मुख्य प्रतिपाद्य है कि मतिज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है – दोनों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। यहाँ निमित्त का अर्थ है कारण (वाह्य कारण) और नैमित्तिक का अर्थ होता है कार्य। प्रश्न है – जीव पदार्थों का ज्ञान कैसे करता है ? यहाँ जानना कार्य है और ज्ञाता है जीव, लेकिन वह इन्द्रिय और मन की सहायता से ज्ञान करता है, इसलिए ये निमित्त कारण हैं। जीव तात्त्विक दृष्टि से ज्ञानस्वरूप है किन्तु वर्तमान में शरीरबद्ध है, अतः उसके ज्ञान में उसकी अंगभूत इन्द्रियाँ और मन निमित्त हैं। इस तथ्य को समझाने के लिए वे निम्नलिखित दृष्टान्त शैली अपनाते हैं :–

"जैसें जाकी दृष्टि मन्द होय सौ अपने नेत्रकरि ही देखै है परन्तु चसमा दीए ही देखें। बिना चसमै के देखि सकै नाहीं। तैसें आत्मा का ज्ञान मंद है सो अपने ज्ञान ही करि जानै है परन्तु द्रव्यइन्द्रिय वा मन का सम्बन्ध भए ही जानैं, तिनि बिना जानि सकै नाहीं। बहुरि जैसें नेत्र तौ जैसा का तैसा है अर चसमाविषैं किछु दोष भया होय तौ देखि सकै नाहीं, अथवा थोरा दीसै अथवा और का और दीसै, तैसें अपना क्षयोपशम तौ जैसा का तैसा है अर द्रव्यइन्द्रिय वा मन के परमाणु अन्यथा परिणमें होंय तौ जानि सकै नाहीं, अथवा थोरा जानै अथवा और का और जानै। जातैं द्रव्यइन्द्रिय वा मनरूप परमाणुनिका परिणमनकै अर मतिज्ञानकै निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है

सो उनका परिणमनकै अनुसारि ज्ञान का परिणमन होय है। ताका उदाहरण :–

"जैसें मनुष्यादिककै बाल वृद्ध अवस्थाविषैं द्रव्यइन्द्रिय वा मन शिथिल होय तब जानपना भी शिथिल होय। बहुरि जैसें शीत वायु आदि के निमित्ततैं स्पर्शनादि इन्द्रियनि के वा मन के परमाणु अन्यथा होंय तब जानना न होय वा थोरा जानना होय वा अन्यथा जानना होय। बहुरि इस ज्ञानकै अर बाह्य द्रव्यनिकै भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पाइये है। ताका उदाहरण :–

"जैसें नेत्र इन्द्रियकै अंधकार के परमाणु वा फूला आदिक के परमाणु वा पाषाणादिक के परमाणु आदि आड़े आ जाएँ तौ देखि न सकै। बहुरि लाल काँच आड़ा आवै तौ सब लाल ही दीसै, हरित काँच आड़ा आवै तौ हरित ही दीसैं, ऐसें अन्यथा जानना होय। बहुरि दूरबीन चसमा इत्यादि आड़ा आवै तौ बहुत दीसने लगि जाय। प्रकाश, जल, हिलव्वी काँच इत्यादिक के परमाणु आड़ै आवैं तौ भी जैसा का तैसा दीखै। ऐसें अन्य इन्द्रिय वा मनकै भी यथासंभव निमित्त-नैमित्तिकपना जानना[1]।"

उक्त गद्यांश में सिर्फ नेत्र इन्द्रिय के विषय को चश्मा, दूरबीन, अंधकार, फूला, पाषाण, प्रकाश, जल, हिलव्वी काँच आदि के उदाहरणों से स्पष्ट किया है तथा इसमें भी चश्मे का काँच लाल, हरा, मैला आदि विश्लेषण द्वारा भी विषय की गहराई तक पहुँचाने का यत्न किया है। साथ ही यह निर्देश भी दिया है कि जितना सांगोपांग विश्लेषण लेखक ने नेत्र इन्द्रिय सम्बन्धी किया है, पाठक का कर्त्तव्य है कि वह बाकी चार इन्द्रियों और मन का भी इसी तरह विश्लेषण करके प्रतिपाद्य को समझने का यत्न करे।

इसी प्रकार सूक्ष्म विचारों को समझाने के लिए उन्होंने लौकिक उदाहरणों का सफल प्रयोग किया है। क्षयोपशम ज्ञान द्वारा एक समय में एक ही वस्तु को जाना जा सकता है, अनेक को नहीं। इस विषय को वे इस प्रकार स्पष्ट करते हैं :–

---

[1] मो० मा० प्र०, ४८–४६

"बहुरि क्षयोपशमतें शक्ति तौ ऐसी बनी रहै अर परिणमन करि एक जीव कै एक काल विषै एक विषय ही का देखना व जानना हो है। इस परिणमन ही का नाम उपयोग है।······सो ऐसें ही देखिए है। जब सुनने विषें उपयोग लग्या होय तब नेत्रनिके समीप तिष्ठता भी पदार्थ न दीसै, ऐसें ही अन्य प्रवृत्ति देखिए है। बहुरि परिणमन विषें शीघ्रता बहुत है ताकरि काहू काल विषें ऐसा मानिए है कि अनेक विषयनि का युगपत् जानना वा देखना हो है, सो युगपत् होता नाहीं, क्रम ही करि हो है। संस्कार बलतें तिनिका साधन रहै है। जैसें कागले कै नेत्र के दोय गोलक हैं, पूतरी एक है सो फिरै शीघ्र है ताकरि दोऊ गोलकनि का साधन करै है, तैसें ही इस जीव कै द्वार तौ अनेक हैं अर उपयोग एक है सो फिरै शीघ्र है ताकरि सर्व द्वारनिका साधन रहै है[1]।"

उपयोग चाहे कहीं रहे, अपने पर या दूसरे पर, यदि वह राग-द्वेष की उत्पत्ति का कारण नहीं बनता, तो कोई हानि नहीं। इस बात को वे इस प्रकार स्पष्ट करते है :—

"बहुरि वह कहै ऐसें है, तौ परद्रव्य तैं छुड़ाय स्वरूप विषें उपयोग लगावने का उपदेश काहेकौं दिया है ?

ताका समाधान — जो शुभ-अशुभ भावनिकौं कारण परद्रव्य है, तिन विषें उपयोग लगै जिनकें राग-द्वेष होई आवै हैं, अर स्वरूप चिंतवन करै तौ राग-द्वेष घटै है, ऐसें नीचली अवस्थावारे जीवनिकौं पूर्वोक्त उपदेश है। जैसें कोऊ स्त्री विकार भाव करि काहू के घर जाय थी, ताकौं मनै करी—पर घर मति जाय, घर मैं बैठि रहौ। बहुरि जो स्त्री निर्विकार भावकरि काहू के घर जाय यथायोग्य प्रवर्त्तै तौ किछू दोष है नाहीं। तैसें उपयोगरूप परणति राग-द्वेष भावकरि परद्रव्यनि विषें प्रवर्त्तै थी, ताकौं मनें करी — परद्रव्यनि विषें मति प्रवर्त्तै, स्वरूपविषें मग्न रहौ। बहुरि जो उपयोगरूप परणति वीतराग भाव करि परद्रव्यकौं जानि यथायोग्य प्रवर्त्तै, तो किछू दोष है नाहीं।"

---

[1] मो० मा० प्र०, ५२

बहुरि वह कहै है – ऐसें है, तौ महामुनि परिग्रहादिक चिंतवन का त्याग काहेकौं करें हैं।

ताका समाधान – जैसें विकार रहित स्त्री कुशील के कारण परघरनि का त्याग करै, तैसें वीतराग परणति राग-द्वेष कै कारण परद्रव्यनि का त्याग करै है। बहुरि जे व्यभिचार के कारण नाहीं, ऐसे पर घर जानें का त्याग है नाहीं। तैसें जे राग-द्वेषकौं कारण नाहीं, ऐसे परद्रव्य जानने का त्याग है नाहीं।

बहुरि वह कहै है – जैसें जो स्त्री प्रयोजन जानि पितादिक के घरि जाय तौ जावो, बिना प्रयोजन जिस-तिस के घर जाना तो योग्य नाहीं। तैसें परणतिकौं प्रयोजन जानि सप्त तत्त्वनि का विचार करना। बिना प्रयोजन गुणस्थानादिक का विचार करना योग्य नाहीं।

ताका समाधान – जैसें स्त्री प्रयोजन जानि पितादिक वा मित्रादिक के भी घर जाय तैसें परणति तत्त्वनि का विशेष जाननें के कारण गुणस्थानादिक वा कर्म्मादिक कौं भी जानें। बहुरि तहाँ ऐसा जानना – जैसें शीलवती स्त्री उद्यम करि तौ विट पुरुषनि के स्थान न जाय, जो परवश तहाँ जाना बनि जाय, तहाँ कुशील न सेवै तौ स्त्री शीलवती ही है। तैसें वीतराग परणति उपाय करि तौ रागादिक के कारण परद्रव्यनि विषें न लागै, जो स्वयमेव तिनका जानना होय जाय, तहाँ रागादिक न करै तौ परणति शुद्ध ही है। तातें स्त्री आदि की परीषह मुनिनकै होय, तिनिकौं जानें ही नाहीं, अपने स्वरूप ही का जानना रहै है, ऐसा मानना मिथ्या है। उनको जानें तौ है, परन्तु रागादिक नाहीं करै है। या प्रकार परद्रव्यकौं जानतें भी वीतराग भाव हो है, ऐसा श्रद्धान करना[1]।"

उक्त गद्यखण्ड में स्त्री का परघर जाना सम्बन्धी उदाहरण यद्यपि बहुत लम्बा है, पर प्रत्येक पंक्ति में विषय क्रमबद्ध स्पष्ट होता चला गया है और निष्कर्ष स्पष्ट हो गया है।

---

[1] मो० मा० प्र०, ३१०–३१२

विषय का विस्तार से वर्णन करने के बाद वे उसका अंत में समाहार कर देते हैं जिससे विषय स्पष्ट हो जाय। क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति आदि कषायों का एवं उनके वेग में होने वाली जीव की अवस्था का विस्तृत वर्णन करने के उपरान्त वे उनका इस प्रकार सारांश देते हैं :–

"क्रोधविषैं तौ अन्य का बुरा करना, मानविषैं औरनिकूँ नीचा करि आप ऊँचा होना, मायाविषैं छलकरि कार्य सिद्धि करना, लोभ विषैं इष्ट का पावना, हास्यविषैं विकसित होने का कारण बन्या रहना, रतिविषैं इष्ट संयोग का बना रहना, अरतिविषैं अनिष्ट संयोग का दूर होना, शोकविषैं शोक का कारण मिटना, भयविषैं भय का कारण मिटना, जुगुप्सा विषैं जुगुप्सा का कारण दूरि होना, पुरुषवेद विषैं स्त्रीस्यों रमना, स्त्रीवेद विषैं पुरुषस्यों रमना, नपुंसकवेदविषै दोऊनिस्यों रमना, ऐसैं प्रयोजन पाइए है[1]।"

विषय को स्पष्ट करने के लिए स्वयं शंकाएँ उठा-उठा कर उनका समाधान प्रस्तुत करना उनकी शैली की अपनी विशेषता है। वे विषय प्रतिपादन इस ढंग से करते हैं कि पूर्वप्रश्न के समाधान में अगला प्रश्न स्वयं उभर आता है। पढ़ते-पढ़ते पाठक के मस्तिष्क में जो प्रश्न उठता है वह उसे अगली पंक्ति में लिखा पाता है। इस प्रकार विषय का विश्लेषण क्रमबद्ध होता चला जाता है। वे किसी भी विषय को तब तक नहीं छोड़ते हैं जब तक कि उसका मर्म सामने न आ जाय। प्रथमानुयोग के अध्ययन का निषेध करने वाले को लक्ष्य करके वे लिखते हैं :–

"केई जीव कहै हैं – प्रथमानुयोग विषैं शृंगारादिक का वा संग्रामादिक का बहुत कथन करें, तिनके निमित्ततैं रागादिक बधि जाय, तातैं ऐसा कथन न करना था। ऐसा कथन सुनना नाहीं। ताकौं कहिए है – कथा कहनी होय तब तौ सर्व ही अवस्था का कथन किया चाहिए। बहुरि जो अलंकारादि करि बधाय कथन करें हैं सौ पंडितनिके वचन युक्ति लिए ही निकसैं।

[1] मो० मा० प्र०, ८०

अर जो तू कहेगा, सम्बन्ध मिलावनेकौं सामान्य कथन किया होता, बधायकरि कथन काहैकौं किया ?

ताका उत्तर यहु है – जो परोक्ष कथनकौं बधाय कहे बिना वाका स्वरूप भासै नाहीं। बहुरि पहलैं तौ भोग संग्रामादि ऐसैं किए, पीछैं सर्वका त्यागकरि मुनि भए, इत्यादि चमत्कार तबही भासै जब बधाय कथन कीजिए। बहुरि तू कहै है, निमित्ततैं रागादिक बधि जाय। सो जैसैं कोऊ चैत्यालय बनावै, सो वाका तौ प्रयोजन तहाँ धर्म कार्य करावने का है। अर कोई पापी तहाँ पापकार्य करै, तौ चैत्यालय बनावने वाले का तौ दोष नाहीं। तैसैं श्रीगुरु पुराणादिविषैं शृंगारादि वर्णन किए, तहाँ उनका प्रयोजन रागादिक करावने का तो है नाहीं, धर्मविषैं लगावने का प्रयोजन है। अर कोई पापी धर्म न करै अर रागादिक ही बधावै, तौ श्रीगुरु का कहा दोष है ?

बहुरि जो तू कहै – जो रागादिकका निमित्त होय, सो कथन ही न करना था।

ताका उत्तर यहु है – सरागी जीवनि का मन केवल वैराग्य कथन विषैं लागै नाहीं। तातैं जैसैं बालककौं पतासा के आश्रय औषधि दीजिए, तैसैं सरागीकौं भोगादि कथन के आश्रय धर्मविषैं रुचि कराइए है।

बहुरि तू कहैगा – ऐसैं हैं तौ विरागी पुरुषनिकौं तो ऐसे ग्रंथनिका अभ्यास करना युक्त नाहीं।

ताका उत्तर यहु है – जिनकै अन्तरंग विषैं रागभाव नाहीं, तिनके शृंगारादि कथन सुनैं रागादि उपजै ही नाहीं। यहु जानैं ऐसैं ही यहाँ कथन करने की पद्धति है।

बहुरि तू कहैगा – जिनकै शृंगारादि कथन सुनैं रागादि होय आवै, तिनकौं तौ वैसा कथन सुनना योग्य नाहीं।

ताका उत्तर यहु है – जहाँ धर्म ही का तौ प्रयोजन अर जहाँ-तहाँ धर्मको पोषैं ऐसे जैन पुराणादिक तिनविषैं प्रसंग पाय शृंगारादिक का कथन किया, ताकौं सुनै भी जो बहुत रागी भया तौ वह अन्यत्र कहाँ

विरागी होसी, पुराण सुनना छोड़ि और कार्य भी ऐसा ही करेगा जहाँ बहुत रागादि होय। तातैं वाकैं भी पुराण सुने थोरी बहुत धर्मबुद्धि होय तौ होय। और कार्यनितैं यहु कार्य भला ही है।

बहुरि कोई कहै – प्रथमानुयोग विषैं अन्य जीवनि की कहानी है, तातैं अपना कहा प्रयोजन सधै है ?

ताकौ कहिए है – जैसें कामीपुरुषनि की कथा सुनें आपकैं भी काम का प्रेम बधै है, तैसें धर्मात्मा पुरुषनिकी कथा सुनें आपकै धर्मकी प्रीति विशेष हो है। तातैं प्रथमानुयोग का अभ्यास करना योग्य है[1]।"

उनका मोक्षमार्ग प्रकाशक आध्यात्मिक चिकित्सा शास्त्र है। इसमें उन्होंने आध्यात्मिक रोग मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि एवं फल का निदान किया है तथा उसे दूर करने की चिकित्सा पद्धति का वर्णन किया है। आध्यात्मिक विकारों से बचने के उपाय का नाम ही मोक्षमार्ग है, और इस ग्रंथ में उसी पर प्रकाश डाला गया है। उन्होंने इस पूरे ग्रंथ में वैद्य का रूपक बाँधा है। यहाँ लेखक स्वयं वैद्य है। किसी रोगी की चिकित्सा करने में जो पद्धति एक चतुर वैद्य अपनाता है, वही शैली लेखक ने इस ग्रंथ में अपनाई है। उन्होंने लिखा है :–

"तहाँ जैसे वैद्य है सो रोगसहित मनुष्यकौं प्रथम तौ रोग का निदान बतावै, ऐसें यहु रोग भया है। बहुरि उस रोग के निमित्ततैं याकै जो-जो अवस्था होती होय सो बतावै, ताकरि वाकै निश्चय होय जो मेरे ऐसैं ही रोग है। बहुरि तिस रोग के दूरि करने का उपाय अनेक प्रकार बतावै अर तिस उपाय की ताकौं प्रतीति अनावै। इतना तौ वैद्य का बतावना है। बहुरि जो वह रोगी ताका साधन करै तो रोगतैं मुक्त होई अपना स्वभावरूप प्रवर्ते। सो यहु रोगी का कर्त्तव्य है। तैसें ही इहाँ कर्मबन्धन युक्त जीवकौं प्रथम तो कर्मबन्धन का निदान बताइए है, ऐसें यहु कर्मबन्धन भया है। बहुरि उस कर्म-बन्धन के निमित्ततैं याकै जो-जो अवस्था होती होय सो-सो बताइए हैं।

[1] मो० मा० प्र०, ४२४–४२६

ताकरि जीवकै निश्चय होय जो मेरे ऐसें ही कर्मबन्धन है। बहुरि तिस कर्मबन्धन के दूरि होने का उपाय अनेक प्रकार बताइए है अर तिस उपाय की याकौ प्रतीति अनाइये है, इतना तौ शास्त्र का उपदेश है। बहुरि यहु जीव ताका साधन करै तो कर्मबन्धनतें मुक्त होय अपना स्वभावरूप प्रवर्त्ते, सो यहु जीव का कर्त्तव्य है। सो इहाँ प्रथम ही कर्मबन्धन का निदान बताइये है[1]।"

"बहुरि जैसें वैद्य है सो रोग का निदान अर ताकी अवस्था का वर्णन करि रोगी कौं रोग का निश्चय कराय पीछें तिसका इलाज करने की रुचि करावै है, तैसें यहाँ संसार का निदान वा ताकी अवस्था का वर्णन करि संसारीकौं संसार रोग का निश्चय कराय अब तिनिका उपाय करने की रुचि कराईए है। जैसें रोगी रोगतें दुःखी होय रह्या है परन्तु ताका मूल कारण जानें नाहीं, साँचा उपाय जानें नाहीं अर दुःख भी सह्या जाय नाहीं। तब आपकौं भासै सो ही उपाय करै तातें दुःख दूरि होय नाहीं। तब तड़फि-तड़फि परवश हुवा तिन दुःखनिकौं सहै है परन्तु ताका मूल कारण जानै नाहीं। याकौं वैद्य दुःख का मूल कारण बतावै, दुःखका स्वरूप बतावै, याके किये उपायनिकूं झूंठ दिखावै तब साँचे उपाय करनें की रुचि होय। तैसेंही यह संसारी संसारतें दुःखी होय रह्या है परन्तु ताका मूल कारण जानै नाहीं, अर साँचा उपाय जानै नाहीं अर दुःख भी सह्या जाय नाहीं। तब आपकौं भासै सो ही उपाय करै तातें दुःख दूरि होय नाहीं। तब तड़फि-तड़फि परवश हुवा तिन दुःखनिकौं सहै है। याकौं यहाँ दुःखका मूल कारण बताइए है, दुःखका स्वरूप बताइए है अर तिन उपायनिकूं झूंठे दिखाइए तौ साँचे उपाय करने की रुचि होय, तातें यह वर्णन इहाँ करिये है[2]।"

पंडितजी अपने विचार पाठक या श्रोता पर लादना पसंद नहीं करते हैं। जैसे वैद्य रोगी को अपने विश्वास में लेता है, उससे पूछता है

---

[1] मो० मा० प्र०, ३१–३२

[2] वही, ६५–६६

कि मैंने जो स्थिति तुम्हारे रोग की बताई, क्या तुम अनुभव करते हो कि वह सत्य है ? रोगी के स्वीकारात्मक उत्तर देने पर व संतोष प्रगट करने पर उसे अपने द्वारा बताई गई चिकित्सा करने की सलाह देता है। उसी प्रकार पंडितजी भी अपने पाठक से पूछते हैं :-

"हे भव्य ! हे भाई ! जो तोकूं संसार के दुःख दिखाए, ते तुझ विषै बीतें हैं कि नाहीं सो विचारि। अर तू उपाय करै है ते झूठे दिखाए सो ऐसें ही हैं कि नाहीं सो विचारि। अर सिद्धपद पाए सुख होय कि नाहीं सो विचारि। जो तेरै प्रतीति जैसें कही है तैसें ही आवै तौ तूं संसारतें छूटि सिद्धपद पावने का हम उपाय कहैं हैं सो करि, विलम्ब मति करै। इह उपाय किए तेरा कल्याण होगा[1]।"

यहाँ वे मात्र पूछते ही नहीं प्रत्युत सलाह भी देते हैं कि देर मत कर, उपाय शीघ्र कर, रोग खतरनाक है और समय थोड़ा। जिस-जिस प्रकार वैद्य कुपथ्य सेवन न करने के लिए सावधान करता है और साथ ही यह भी बताता है कि क्या-क्या कुपथ्य हैं, वैसे ही लेखक ने अनेक प्रकार के कुपथ्यों का वर्णन कर उनसे बचने के प्रति सावधान भी किया है। इस प्रकार 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' रूपक के रूप में लिखा गया है। औषधि सम्बन्धी उदाहरणों का बहुत और बारीकी से प्रयोग ग्रन्थ में यत्र-तत्र मिलता है। इससे मालूम होता है कि लेखक को औषधि-विज्ञान एवं चिकित्सा-पद्धति का भी पर्याप्त ज्ञान और अनुभव था।

उनकी शैली में समुचित तर्कों को सर्वत्र यथायोग्य स्थान प्राप्त है। वे किसी बात को मात्र कह देने में विश्वास नहीं करते हैं किन्तु वे उसे तर्क की कसौटी पर कसते हैं। वे स्वयं भी कोई बात बिना तर्क की कसौटी पर कसे स्वीकार नहीं करते। वे जिनाज्ञा को भी बिना परीक्षा किए मानने को तैयार नहीं। वे स्पष्ट करते हैं :-

"तातें परीक्षा करि जिन वचननिकौं सत्यपनो पहिचानि

---

[1] मो० मा० प्र०, १०८

जिन आज्ञा माननी योग्य है। बिना परीक्षा किए सत्य असत्य का निर्णय कैसें होय[1]।"

वे परीक्षा प्रधानी व्यक्ति थे। यही कारण है कि उनकी शैली में तर्क-वितर्क को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वे बहुत सी शास्त्रीय गुत्थियाँ अपने अनुभूतिमूलक तर्कों से सुलझाते हैं। इस आर्ष वाक्य का कि 'तप आदि का क्लेश करौ तो करौ, ज्ञान बिना सिद्धि नहीं' – उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि उक्त कथन उनके लिए है जो बिना तत्त्वज्ञान के केवल तप को ही मोक्ष का कारण मान लेते हैं। तत्वज्ञान-पूर्वक तप करने के विरोध का तो प्रश्न ही नहीं है, अपनी शक्ति अनुसार तप करना अच्छा ही है। बिना समझे और शक्ति के प्रतिज्ञा लेने के वे विरुद्ध हैं, पर वे यह भी पसंद नहीं करते कि लोग शक्ति और समझ का बहाना बना कर या प्रतिज्ञा भंग होने के भय का बहाना बना कर स्वच्छन्द प्रवृत्ति करें। वे यह भी नहीं चाहते कि लोग प्रतिज्ञा ले लें, फिर भंग कर दें, उसे खेल बना लें। ऐसे उलझन भरे प्रसंगों में वे बहुत ही संतुलित दृष्टिकोण अपनाते हैं एवं वस्तुस्थिति स्पष्ट करने के लिए बड़े ही मनोवैज्ञानिक तर्क व उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि अपनी निर्वाह-क्षमता को देख कर प्रतिज्ञा लेनी चाहिए, किन्तु इस भय से प्रतिज्ञा न लेना कि टूट जायगी तो पाप लगेगा वैसा ही है, जैसा यह सोच कर भोजन नहीं करना कि भोजन करने से कहीं अजीर्ण न हो जाय। ऐसा सोचने वाला मृत्यु को ही प्राप्त होगा। वे दूसरा तर्क देते हैं – यद्यपि कार्य प्रारब्ध के अनुसार ही होता है, फिर भी लौकिक कार्यों में मनुष्य बराबर प्रयत्न करता है, उसी प्रकार यहाँ भी उद्यम करना चाहिए। तीसरे तर्क में उसे निरुत्तर करते हुए कहते हैं कि जब तेरी दशा प्रतिमावत् हो जायगी तब हम प्रारब्ध ही मानेंगे। वे निष्कर्ष देते हैं:–

"तातैं काहेकौं स्वच्छन्द होनें की युक्ति बनावै है। बनैं सौ प्रतिज्ञा करि व्रत धारना योग्य ही है[2]।"

---

[1] मो० मा० प्र०, ३१६

[2] वही, ३००

गद्य शैली में पंडितजी के व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। वे अपने अदम्य विश्वास एवं प्रखर पाण्डित्य के साथ सर्वत्र प्रतिबिंबित हैं। समाधानकर्त्ता भी वे ही हैं और शंकाकार भी; पर समाधानकर्त्ता सर्वत्र उत्तम पुरुष में विद्यमान है जबकि शंकाकार कहीं मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष भी हो जाता है। 'इहाँ प्रश्न' के रूप में जहाँ वह उत्तम पुरुष में व्यक्त हुआ है वहीं 'तू कहे' या 'तुम कहो' में मध्यम पुरुष एवं 'कोई कहे' में अन्य पुरुष के रूप में आता है। शंकाकार विनयशील है, पर है मुखर। समाधानकर्त्ता का व्यक्तित्व सर्वत्र दबंग है। कहीं वह करुणा से द्रवित होकर मृदुल सम्बोधन करने लगता है तो कहीं शिष्य की वाचालता पर उसे फटकार भी देता है। एक अच्छे अध्यापक के सर्व गुण पूर्ण रूप से उसमें विद्यमान हैं। नीचे उसके विभिन्न रूपों की कुछ झाँकियाँ प्रस्तुत हैं :-

(१) "हे भव्य ! हे भाई ! जो तोकूं संसार के दुःख दिखाए, ते तुझ विषैं बीतें हैं कि नाहीं सो विचारि।......तौ तूं संसारतैं छूटि सिद्धपद पावने का हम उपाय कहैं हैं सो करि, विलम्ब मति करै। इह उपाय किए तेरा कल्याण होगा[1]।"

(२) "अर तत्त्व निर्णय न करने विषैं कोई कर्म का दोष है नाहीं, तेरा ही दोष है। अर तू आप तो महन्त रह्या चाहै अर अपना दोष कर्मादिककै लगावै, सो जिन आज्ञा मानें तो ऐसी अनीति संभवै नाहीं। तोकौं विषयकषायरूप ही रहना है, तातैं झूठ बोलै है। मोक्ष की साँची अभिलाषा होय तौ ऐसी युक्ति काहेकौं बनावै। सांसारिक कार्यनि विषैं अपना पुरुषार्थतैं सिद्धि न होती जानै तौ भी पुरुषार्थ करि उद्यम किया करै, यहाँ पुरुषार्थ खोय बैठै[2]।"

(३) "बहुरि हम पूछें हैं – व्रतादिककौं छोड़ि कहा करेगा ? जो हिंसादि रूप प्रवर्त्तेगा तौ तहाँ तौ मोक्षमार्ग का उपचार भी संभवै नाहीं।

---

[1] मो० मा० प्र०, १०८

[2] वही, ४५८

तहाँ प्रवर्त्तनेतैं कहा भला होयगा, नरकादिक पावेगा। तातैं ऐसैं करना तौ निर्विचारपना है[1]।"

(४) "जो ऐसा श्रद्धान है, तौ सर्वत्र कोई ही कार्य का उद्यम मति करै। तू खान-पान व्यापारादिक का तौ उद्यम करै, अर यहाँ होनहार बतावै। सो जानिए है, तेरा अनुराग यहाँ नाहीं। मानादिक करि ऐसी झूँठी बातैं बनावै है[2]।"

(५) "बहुरि जैसें बड़े दरिद्रीकौं अवलोकनमात्र चिन्तामणि की प्राप्ति होय अर वह न अवलोकै, बहुरि जैसें कोढ़ीकूँ अमृत पान करावै अर वह न करै, तैसें संसारपीड़ित जीवकौं सुगम मोक्षमार्ग के उपदेश का निमित्त बनै अर वह अभ्यास न करै तौ वाके अभाग्य की महिमा हमतैं तौ होई सकै नाहीं। वाँका होनहारहीकौं विचारै अपने समता आवै[3]।"

(६) "सो हे भव्य हो! किंचिन्मात्र लोभतैं वा भयतैं कुदेवादिक का सेवन करि जातैं अनन्तकाल पर्यंत महादुःख सहना होय ऐसा मिथ्यात्वभाव करना योग्य नाहीं। जिनधर्म विषैं यह तौ आम्नाय है, पहलैं बड़ा पाप छुड़ाय पीछैं छोटा पाप छुड़ाया। सो इस मिथ्यात्वकौं सप्तव्यसनादिकतैं भी बड़ा पाप जानि पहलैं छुड़ाया है। तातैं जो पापके फल तैं डरै हैं, अपने आत्मा को दुःखसमुद्र में न डुबाया चाहैं हैं, ते जीव इस मिथ्यात्व कौं अवश्य छोड़ो। निंदा प्रशंसादिक के विचार तैं शिथिल होना योग्य नाहीं[4]।"

(७) "हे स्थूलबुद्धि! तैं व्रतादिक शुभ भाव कहै ते करनै योग्य ही हैं, परन्तु ते सर्व सम्यक्त्व बिना ऐसें हैं जैसें अंक बिना बिन्दी। अर जीवादि का स्वरूप जानें बिना सम्यक्त्व का होना ऐसा है, जैसा

---

[1] मो० मा० प्र०, ३७३

[2] वही, २६०

[3] वही, २६–३०

[4] वही, २८१–२८२

बांझ का पुत्र। तातैं जीवादिक जानने के अर्थि इस शास्त्र का अभ्यास अवश्य करना[1]।"

(८) "हे सूक्ष्माभासबुद्धि ! तैं कह्या सो सत्य, परन्तु अपनी अवस्था देखनी। जो स्वरूपानुभव विषैं वा भेदविज्ञान विषैं उपयोग निरंतर रहै तौ काहे कौं अन्य विकल्प करने। तहाँ ही स्वरूपानंद सुधारस का स्वादी होइ सन्तुष्ट होना। परन्तु नीचली अवस्था विषैं तहाँ निरन्तर उपयोग रहै नाहीं, उपयोग अनेक अवलंबनि को चाहै है। तातैं जिस काल तहाँ उपयोग न लागै तब गुणस्थानादि विशेष जानने का अभ्यास करना[2]।"

(९) "सौ हे भव्य हो ! शास्त्राभ्यास के अनेक अंग हैं। शब्द वा अर्थ का बाँचना या सीखना, सिखावना, उपदेश देना, विचारना, सुनना, प्रश्न करना, समाधान जानना, बारंबार चरचा करना, इत्यादि अनेक अंग हैं। तहाँ जैसे बनै तैसें अभ्यास करना। जो सर्व शास्त्र का अभ्यास न बनै तौ इस शास्त्र विषैं सुगम वा दुर्गम अनेक अर्थनि का निरूपण है, तहाँ जिसका बनै तिसही का अभ्यास करना, परन्तु अभ्यास विषैं आलसी न होना[3]।"

पंडित टोडरमल का श्रोता या शंकाकार भी कम पंडित नहीं है। वह बुद्धिमान, जिज्ञासु एवं बहुशास्त्रविद् है। मात्र उसमें एक कमजोरी है कि वह यथाप्रसंग सही अर्थ नहीं समझ पाता है। पंडित टोडरमल की शैली की यह विशेषता है कि उन्होंने अधिकांश आगम-प्रमाण शंकाकार के मुख में रखे हैं। उनका शंकाकार प्रायः प्रत्येक शंका आर्षवाक्य प्रस्तुत करके सामने रखता है और समाधान-कर्त्ता आर्षवाक्यों का अपेक्षाकृत कम प्रयोग करता है, वह अनुभूति-जन्य युक्तियों और उदाहरणों द्वारा उसकी जिज्ञासा शान्त करता है। शंकाकार उद्दण्ड नहीं है, पर वह कोई भी बात कहने से चूकता भी

[1] स० चं० पी०, ७

[2] वही, १०

[3] वही, १६

नहीं है, वह अपनी बात अपनी मर्यादा में रह कर चतुराई से कह देता है। फटकार और दुतकार मिलने पर भी अखाड़ा छोड़ता नहीं है, किन्तु जिज्ञासा भाव से वस्तु को समझने का बराबर प्रयत्न करता रहता है। शंकाकार द्वारा शंका प्रस्तुत करने के कुछ नमूने नीचे दिये जा रहे हैं :–

(१) "बहुरि वह कहै है – शास्त्रविषें ऐसा कह्या है – तप आदि का क्लेश करै है तौ करौ, ज्ञान बिना सिद्धि नाहीं[१]।"

(२) "बहुरि वह कहै है – शास्त्रविषें शुभ-अशुभकौं समान कह्या है, तातैं हमकौं तो विशेष जानना युक्त नाहीं[२]।"

(३) "बहुरि वह कहै है – गोम्मटसारविषें ऐसा कह्या है – सम्यग्दृष्टि जीव अज्ञानी गुरु के निमित्त तै झूंठ भी श्रद्धान करै तौ आज्ञा माननेतैं सम्यग्दृष्टि ही होय है। सौ यहु कथन कैसें किया है[३]।"

(४) "यहाँ कहैगा – जो ऐसें है, तो हम उपवासादि न करैंगे[४]।"

(५) "इहाँ प्रश्न – जो मोक्ष का उपाय काललब्धि आए भवितव्यानुसारि बनें है कि मोहादि का उपशमादि भए बनें है अथवा अपने पुरुषार्थतैं उद्यम किए बनै है, सौ कहौ ? जो पहिले दोय कारण मिले बनें है, तो हमको उपदेश काहैकौं दीजिए है अर पुरुषार्थतैं बनें है, तौ उपदेश तौ सर्व सुनें, तिन विषें कोई उपाय कर सकै, कोई न कर सकै, सो कारण कहा[५] ?"

(६) "यहाँ कोऊ कहै – ऐसें है तो मुनिलिंग धारि किंचित परिग्रह राखे, सो भी निगोद जाय – ऐसा षट्पाहुड़ विषें कैसें कह्या है[६]?"

---

[१] मो० मा० प्र०, २९८

[२] वही, ३०१

[३] वही, ३१९

[४] वही, ३४०

[५] वही, ४५५

[६] वही, ४४०

(७) "यहाँ कोई प्रश्न करै – जहाँ अन्य-अन्य प्रकार न संभवै, तहाँ तौ स्याद्वाद संभवै। बहुरि एक ही प्रकार करि शास्त्रनि विषैं परस्पर विरुद्ध भासै तहाँ कहा करिए ? जैसें प्रथमानुयोग विषैं एक तीर्थंकर की साथि हजारौं मुक्ति गए बताए। करणानुयोग विषैं छह महिना आठ समय विषैं छहसै आठ जीव मुक्ति जाँय – ऐसा नियम किया। प्रथमानुयोग विषैं ऐसा कथन किया – देव-देवांगना उपजि पीछैं मरि साथ ही मनुष्यादि पर्याय विषैं उपजें। करणानुयोग विषैं देव का सागरौं प्रमाण, देवांगना का पल्यों प्रमाण आयु कह्या। इत्यादि विधि कैसें मिलै"[1] ?

(८) "बहुरि अर्थ का पक्षपाती कहैं है कि – इस शास्त्र का अभ्यास कीए कहा है ? सर्व कार्य धनतैं बनै हैं। धन करि ही प्रभावना आदि धर्म निपजै हैं। धनवान के निकट अनेक पंडित आय प्राप्त हों हैं। अन्य भी सर्व कार्य सिद्धि होई। तातैं धन उपजावने का उद्यम करना[2]।"

(९) "बहुरि काम भोगादिक का पक्षपाती बोलै है कि – शास्त्राभ्यास करने विषैं सुख नाहीं, बड़ाई नाहीं। तातैं जिन करि इहाँ ही सुख उपजै ऐसै जे स्त्री सेवना, खाना, पहिरना इत्यादि विषयसुख तिनका सेवन करिए अथवा जिन करि इहाँ ही बड़ाई होई, ऐसे विवाहादिक कार्य करिए[3]।"

जहाँ वे किसी बात से असहमत होते हैं वहाँ शंकाकार के सामने प्रश्नों की बौछार करने लगते हैं। एक के बाद एक तर्क क्रमबद्ध रूप से उसके सामने प्रस्तुत करते चले जाते हैं और उसे बच निकलने का कोई रास्ता नहीं छोड़ते हैं। जैसे सर्वव्यापी ब्रह्म के स्वरूप पर विचार करते हुए निम्नलिखित शैली अपनाते हैं :-

"इहां कौऊ कहै कि समस्त पदार्थनिके मध्यविषै सूक्ष्मभूत ब्रह्म के अंग हैं तिनकरि सर्व जुरि रहे हैं ताकौं कहिए हैं:-

---

[1] मो० मा० प्र०, ४४४

[2] स० चं० पी०, १३

[3] वही, १४

जो अंग जिस अंगतें जुरया है, तिसही तें जुरया रहै है कि टूटि टूटि अन्य अन्य अंगनिस्यौं जुरया करै है । जो प्रथम पक्ष ग्रहेगा तौ सूर्यादि गमन करे हैं, तिनिकी साथि जिन सूक्ष्म अंगनितें बहु जुरै है ते भी गमन करैं । बहुरि उनको गमन करते वे सूक्ष्म अंग अन्य स्थूल अंगनितें जुरे रहैं, वे भी गमन करैं हैं सो ऐसें सर्व लोक अस्थिर होइ जाय । जैसे शरीर का एक अंग खीचें सर्व अंग खींचें जाँय, तैसें एक पदार्थकौं गमनादि करते सर्व पदार्थनि का गमनादि होय, सो भासै नाहीं । बहुरि जो द्वितीय पक्ष ग्रहैगा, तो अंग टूटनें तें भिन्नपना होय ही जाय तब एकत्वपना कैसे रह्या ? तातें सर्वलोक का एकत्व कौं ब्रह्म मानना कैसे संभवै ? बहुरि एक प्रकार यहु है जो पहलें एक था, पीछै अनेक भया बहुरि एक हो जाय तातें एक है । जैसें जल एक था सो वासणानिमैं जुदा-जुदा भया बहुरि मिलै तब एक होय । वा जैसे सोना का गदा एक था सो कंकण-कुण्डलादि रूप भया बहुरि मिलकरि सोना का गदा होय जाय । तैसें ब्रह्म एक था, पीछै अनेक रूप भया बहुरि एक होयगा तातें एक ही है । इस प्रकार एकत्व मानै है तौ जब अनेक रूप भया तब जुयया रह्या कि भिन्न भया । जो जुरया कहैगा तो पूर्वोक्त दोष आवैगा । भिन्न भया कहैगा तौ तिस काल तौ एकत्व न रह्या । बहुरि जब सुवर्णादिककौं भिन्न भए भी एक कहिए है सो तौ एक जाति अपेक्षा कहिए है । सो सर्व पदार्थनि की एक जाति भासे नाहीं । कोऊ चेतन है, कोऊ अचेतन है, इत्यादि अनेकरूप हैं, तिनकी एक जाति कैसें कहिए ? बहुरि पहिले एक था पीछे भिन्न भया माने है, तौ जैसे एक पाषाणादि फूटि टुकड़े होय जाय हैं तैसे ब्रह्मके खण्ड होय गए, बहुरि तिनका इकट्ठा होना माने है तौ वहाँ तिनिका स्वरूप भिन्न रहै है कि एक होइ जाय है । जो भिन्न रहे है तो तहाँ अपने-अपने स्वरूप करि भिन्न ही है अर एक होइ जाय है तौ जड़ भी चेतन होइ जाय वा चेतन जड़ होइ जाय । तहाँ अनेक वस्तुनिका एक वस्तु भया तब काहू कालविषैं अनेक वस्तु, काहू कालविषैं एकवस्तु ऐसा कहना बनें । अनादि अनन्त एक ब्रह्म है ऐसा कहना बने नाहीं[1] ।"

---

[1] मो० मा० प्र०, १४०–१४१

उनका साहित्य उदाहरणों का एक विशाल भण्डार है। परम्परागत उदाहरणों की अपेक्षा उन्होंने उदाहरणों का चुनाव दैनिक जीवन एवं प्रकृति से किया है। मानव जीवन, पशु-पक्षी एवं प्रकृति से चुने गए उदाहरणों से उनका सूक्ष्म निरीक्षण एवं विशाल व्यवहारिक ज्ञान प्रस्फुटित हुआ है। वणिक कुल में उत्पन्न होने एवं व्यापारिक सम्पर्क से उनके साहित्य में व्यापार सम्बन्धी उदाहरण भी पर्याप्त मात्रा में पाए जाते हैं। वैद्यक सम्बन्धी उदाहरण भी विपुल मात्रा में मिलते हैं। उदाहरणों के लिए उदाहरण कहीं भी नहीं आए, वरन् विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से सहज प्रवाह में आए हैं। वे विषय के साथ घुलमिल गए हैं, अलग-अलग प्रतीत नहीं होते। उनके कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं :—

औषधि विज्ञान से सम्बन्धित उदाहरण

उदाहरण	सिद्धान्त
(१) जैसे वैद्य सब से पहिले रोग का निदान करता है, रोग के लक्षण बताता है, रोगी को विश्वास में लेकर रोग की चिकित्सा करने की प्रेरणा देता है एवं दवा और पथ्य का निर्देश करता है।	(१) उसी प्रकार मोक्षमार्ग प्रकाशक में पहले संसार रोग का निदान व दुःख के लक्षण बता कर संसारी जीव को विश्वास में लेकर दुःख दूर करने की प्रेरणा देते हुए ग्रहण-त्यागरूप उपाय बताया गया है[1]।
(२) जैसे वैद्य रोग दूर करना चाहता है। अतः शीत सम्बन्धी रोग हो तो उष्ण औषधि देता है और आताप संबंधी रोग हो तो शीत औषधि देता है।	(२) उसी प्रकार श्री गुरु रागादि छुड़ाना चाहते हैं। अतः जो रागादि को पर जान कर स्वच्छन्द हो जाते हैं, उनसे कहा जाता है तेरे ही हैं; और जो उन्हें अपना मान कर छोड़ना नहीं चाहते, उनसे कहा जाता है कि

[1] मो० मा० प्र०, ३१,६५,१०६, १३७

	कर्म के निमित्त से हुए हैं, अतः कर्म के हैं[1]।
(३) रोग तो बुरा ही है पर अधिक की अपेक्षा कम रोग हो तो अब अच्छा है – यह भी कह देते हैं।	(३) उसी प्रकार राग भाव तो बुरा ही है किन्तु अशुभ राग की अपेक्षा शुभ राग को भला भी कह देते हैं[2]।
(४) जैसे दाह ज्वर वाला वायु होने के भय से शीतल वस्तु का त्याग करे, पर जब तक शीतल वस्तु रुचे तब तक दाह ज्वर गया नहीं जानना चाहिए।	(४) उसी प्रकार कोई नरकादि के भय से विषय-सेवन का त्याग कर दे किन्तु जब तक विषय-सेवन रुचे तब तक वह वास्तविक त्यागी नहीं है[3]।
(५) रोग तो शीतांग भी है और ज्वर भी, पर शीतांग से मरना जाने तो उसे ज्वर कराने का उपाय किया जाता है। बाद में ज्वर भी ठीक किया जाता है।	(५) उसी प्रकार कषाय तो सब बुरी ही हैं, किन्तु पाप कषायरूप महाकषाय छुड़ाने के लिए पुण्य कषायरूप अल्प-कषाय कराई जाती है। बाद में उसे भी छुड़ाया जाता है[4]।
(६) किसी को विषम ज्वर हो तो कभी तकलीफ अधिक होती है, कभी कम। कम होने पर लोग कहते हैं कि अब ठीक है, पर जब तक रोग गया नहीं तब तक ठीक कैसा ?	(६) वैसे ही जब तक जीव मोही है तब तक दुःखी है, कभी अधिक और कभी कम। कम दुःखके काल में अच्छा भी कहा जाता है, पर है वह दुःखी ही[5]।

[1] मो० मा० प्र०, २८८

[2] वही, ३०१

[3] वही, ३६२–६३

[4] वही, ४१२

[5] वही, ४५३

(७) कोई रोगी यदि निर्गुण औषधि का निषेध सुन कर औषधि सेवन छोड़ कुपथ्य सेवन करेगा तो मृत्यु को प्राप्त होगा, उसमें वैद्य का तो दोष नहीं है।

(७) उसी प्रकार कोई व्यक्ति पुण्यरूप धर्म का निषेध सुन कर धर्मसाधन छोड़ दे और विषयों में लग जाय तो वह नरकादि में दुःखी होगा, इसमें उपदेशक का तो दोष नहीं है[1]।

(८) यदि गधा मिश्री खाने से मर जावे तो मनुष्य तो मिश्री खाना न छोड़े।

(८) उसी प्रकार विपरीत-बुद्धि अध्यात्मग्रंथ सुन कर स्वच्छन्द हो जावे तो विवेकी अध्यात्मग्रंथ का अभ्यास क्यों छोड़े[2] ?

(९) अति शीतांग रोग वाले को अति उष्ण रसादिक औषधि दी जाती है। यदि दाह वाले को या साधारण शीत वाले को वह उष्ण औषधि दे दी जावे तो अनर्थ ही होगा।

(९) उसी प्रकार किसी एक ओर अधिक झुके हुए व्यक्ति के संतुलन को ठीक करने के लिए उसके निषेध का उपदेश दिया जाता है। यदि सामान्य जन उसे ग्रहण कर उक्त कार्य छोड़ दें तो बुरा ही होगा। जैसे दिन-रात शास्त्राभ्यास में लगे हुए व्यक्ति को कहा जावे कि आत्मानुभव के बिना कोरा शास्त्राभ्यास निरर्थक है। इसे सुन कर कम शास्त्राभ्यास करने वाले या शास्त्राभ्यास नहीं करने वाले शास्त्राभ्यास से विमुख हो जावें तो बुरा ही होगा[3]।

---

[1] मो० मा० प्र०, ३१३-१४

[2] वही, ४२९

[3] वही, ४४२

(१०) जैसे पाकादि औषधि गुणकारी ही है पर ज्वर वाला खावे तो हानि ही करेगी।

(१०) उसी प्रकार उच्च धर्म बहुत अच्छा है किन्तु जब तक विकार दूर न हो और धारण करे तो अनर्थ ही होगा, जैसे भोजनादि विषयों में आसक्त रहे और आरंभत्यागी हो जावे तो अनर्थ ही करेगा[1]।

व्यापार सम्बन्धी उदाहरण

उदाहरण	सिद्धान्त
(१) जैसे स्वयंसिद्ध मोतियों से गहना बनाने वाले अपनी इच्छानुसार विभिन्न प्रकार से मोती गूँथ कर विभिन्न प्रकार के गहने बनाते हैं।	(१) उसी प्रकार लेखकगण स्वयंसिद्ध अक्षरों को अपनी इच्छानुसार विभिन्न प्रकार गूँथ कर विभिन्न प्रकार के ग्रंथ बनाते हैं[2]।
(२) जैसे शक्तिहीन, लोभी, झूठा वैद्य यदि रोगी को आराम हो तो अपना किया बताता है और यदि बुरा हो या मरण हो जाय तो होनहार पर टालता है।	(२) उसी प्रकार ईश्वरवादी यदि भला हो तो ईश्वर का किया मानता है और बुरा हो तो अपने कर्मों का फल कहता है[3]।
(३) कमाने की मंद इच्छा रखने वाला व्यापारी भी बाजार में बैठता है, कमाने की इच्छा भी रखता है, पर किसी से याचना नहीं करता। यदि ग्राहक	(३) उसी प्रकार मुनि आहार को निकलते हैं, भोजन की मंद इच्छा भी है, पर किसी से प्रार्थना नहीं करते। सहज ही उनकी विधि अनुसार आहार

[1] मो० मा० प्र०, ४४२
[2] वही, १४,१८-१९
[3] वही, १५६

अपने आप सहज आता है तो व्यापार करता है, अन्यथा नहीं।	मिले तो करते हैं, अन्यथा नहीं[1]।
(४) कोई भी व्यक्ति धन खर्च करना नहीं चाहता, पर सम्पूर्ण जाता देखे तो थोड़ा देकर काम निकालने का उपाय करता है।	(४) उसी प्रकार ज्ञानी थोड़ी भी कषाय नहीं करना चाहता, पर पापरूप महाकषाय होती देखे तो उससे बचने के लिए अल्प कषायरूप पुण्य कार्यों में लगता है[2]।
(५) जैसे रोजनामचा (दैनिक रोकड़) में अनेक रकमें जहाँ-तहाँ लिखी रहती हैं, उन्हें खाते में खताए बिना यह पता नहीं चलता कि किससे क्या लेना है और किसका क्या देना है।	(५) उसी प्रकार शास्त्रों में अनेक प्रकार उपदेश दिया गया है। उसको सम्यग्ज्ञान (सही बुद्धि) से सही-सही पहिचाने तब हित-अहित का पता चलता है, अन्यथा नहीं[3]।
(६) मुनीम सेठ का कार्य करता है, उसे अपना कहता है, कार्य बनने बिगड़ने पर उसे हर्ष-विषाद भी होता है, उस समय वह अपने और सेठ को एक ही समझता है; पर अन्तर में सेठ और अपने भेद को अच्छी तरह जानता है। यदि सेठ के धन को अपना माने तो वह मुनीम नहीं, चोर कहा जाएगा।	(६) उसी प्रकार ज्ञानी कर्मोदय में शुभाशुभ भावरूप परिणमित होता है, उन्हें अपने भी कहता है; पर अन्तर में उन्हें भिन्न ही मानता है। यदि वह शरीराश्रित व्रत-संयम को अपना माने तो अज्ञानी ही कहा जायेगा[4]।

[1] मो० मा० प्र०, २२७–२८

[2] वही, ३०२

[3] वही, ४४८

[4] वही, ५०५ (रहस्यपूर्ण चिट्ठी)

(७) जैसे खोटा रुपया चलाने वाला उसमें कुछ चाँदी भी डालता है।

(७) उसी प्रकार नकली साधु भी धर्म का कोई ऊँचा अंग (क्रिया) रख कर अपनी उच्चता की धाक लोगों पर जमाए रखना चाहता है[1]।

मानव जीवन सम्बन्धी उदाहरण

उदाहरण	सिद्धान्त
(१) एक पड़ाव पर एक पागल रहता था। वहाँ बहुत यात्री आते थे। उनके साथ गाड़ी-घोड़े आदि धन-धान्यादि सामग्री भी होती। वह उन्हें अपनी मान कर प्रसन्न होता, पर वे जब जाने लगते तो दुःखी होता।	(१) उसी प्रकार इस जीव के भवरूपी पड़ाव पर शरीर स्त्री पुत्रादि का संयोग हो गया है। यह उन्हें अपने मान कर प्रसन्न होता है और उनके वियोग में दुःखी। अतः पागल के समान अज्ञानी ही है[2]।
(२) गाड़ी अपने आप चल रही है। बालक उसे धक्का देकर मानता है कि यह गाड़ी मेरे धकाने से चल रही है तथा जब गाड़ी रुक जाती है तब बालक व्यर्थ में खेद-खिन्न होता है।	(२) उसी प्रकार सारा जगत स्वयं परिणमनशील है, पर यह अज्ञानी समझता है कि मेरे द्वारा परिणमित हो रहा है। जब इसकी इच्छानुकूल परिणमन नहीं होता तब व्यर्थ ही दुःखी होता है[3]।
(३) जैसे कोई पत्थर से अपना सिर स्वयं फोड़े, फिर पत्थर को दोष दे तो मूर्ख ही है।	(३) उसी प्रकार आप कर्म बाँधे और दुखी हो, फिर कर्मों को दोष दे तो मूर्ख ही माना जायगा[4]।

[1] मो० मा० प्र०, २६२–६३

[2] वही, ७३

[3] वही, १२८

[4] वही, १३०

(४) स्वामी की आज्ञा से नौकर ने भला-बुरा किया। उसमें कोई नौकर से बैर बाँधे तो मूर्ख ही है।

(४) उसी प्रकार इस जीव का कर्मों को दोष देना बेकार है, क्योंकि वे तो जीव के भावानुसार ही बँधे हैं[1]।

(५) जैसे शीलवती स्त्री स्वेच्छा से परपुरुष के साथ पति के समान रमण क्रिया कभी भी नहीं करती है।

(५) उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि सुगुरुवत् कुगुरु आदि को कभी भी नमस्कार आदि नहीं करते[2]।

(६) जैसे कोई पुरुष स्वप्न में अपने को राजा हुआ देखे और प्रसन्न हो।

(६) वैसे ही निश्चयाभासी भ्रम से कल्पना में अपने को सिद्ध मान कर सन्तुष्ट होते हैं[3]।

(७) जैसे कोई बालक स्त्री का वेष धारण करके शृंगार रस का ऐसा गाना गावे कि सुनने वाले काम विकाररूप हो जावें किन्तु वह उसका भाव नहीं जानता है, अतः कामासक्त नहीं होता है।

(७) उसी प्रकार भावज्ञान से रहित उपदेशक ऐसा उपदेश देते हैं कि दूसरे आत्मरस के रसिक हो जावें पर स्वयं अनुभव नहीं करते हैं व जैसा लिखा है वैसा उपदेश दे देते हैं[4]।

(८) किसी व्यक्ति ने धर्म साधन के लिए मन्दिर बनाया किन्तु कोई पापी उसमें पापकर्म करे तो मन्दिर बनाने वाले का तो दोष नहीं है।

(८) उसी प्रकार आचार्यों ने धर्म में लगाने के लिए शास्त्रों की रचना की। यदि कोई उन्हें पढ़ कर ही विकाररूप परिणमित हो तो इसमें आचार्यों का तो दोष नहीं है[5]।

---

[1] मो० मा० प्र०, १३०

[2] वही, २७६

[3] वही, ३०६

[4] वही, ३४८

[5] वही, ४२५

(९) मनुष्य जैसे हाथ-पैर बंदर के नहीं होते ।	(९) उसी प्रकार ज्ञानी के समान अज्ञानी के सम्यक्त्व के अंग नहीं हो सकते[1] ।
(१०) जैसे अंधा मिश्री के स्वाद का अनुभव करता है, उसके आकारादि को नहीं देख पाता है ।	(१०) उसी प्रकार क्षयोपशम ज्ञान वाले अज्ञानी आत्मा का अनुभव करते हैं, आत्मा के प्रदेशों को नहीं देखते हैं[2] ।

पशु एवम् प्रकृति सम्बन्धी उदाहरण

उदाहरण	सिद्धान्त
(१) सूर्योदय होने पर चकवा-चकवी अपने आप मिल जाते हैं और सूर्यास्त होने पर अपने आप बिछुड़ जाते हैं । उन्हें कोई मिलाता या बिछुड़ाता नहीं है ।	(१) उसी प्रकार रागादि भाव होने पर कर्म अपने आप बंध जाते हैं । कर्मोदय काल में जीव स्वयं विकार करता है, उन्हें कोई परिणमाता या विकार नहीं कराता है[3] ।
(२) जैसे कुत्ते को लाठी मारने पर कुत्ता लाठी मारने वाले की ओर न झपट कर लाठी पर झपटता है । असली शत्रु को नहीं पहिचानता ।	(२) उसी प्रकार अज्ञानी स्वयंकृत कर्मों के फल प्राप्त होने पर वाह्य पदार्थों पर राग-द्वेष करता है । अपने असली शत्रु मोह-राग-द्वेष को नहीं पहिचानता[4] ।
(३) शास्त्रों में इस काल में भी हंसों का सद्भाव कहा है, किन्तु हंस दिखाई नहीं देते तो	(३) उसी प्रकार शास्त्रों में इस काल में भी साधुओं का सद्भाव कहा है, किन्तु सच्चे

[1] मो० मा० प्र०, ५०२

[2] वही, ५१० (रहस्यपूर्ण चिट्ठी)

[3] वही, ३७

[4] वही, ८३

औरों को हंस नहीं माना जा सकता। जब तक हंस के गुण न मिलें तब तक किसी पक्षी को हंस नहीं माना जा सकता।

साधु दिखाई न देवें तो औरों को तो साधु नहीं माना जा सकता। साधु के लक्षण मिलने पर ही किसी को साधु माना जा सकता है, अन्यथा नहीं[1]।

(४) बीज बोए बिना खेत को कितना ही संभालो, अनाज पैदा नहीं होगा।

(४) उसी प्रकार सच्चा तत्त्व-ज्ञान हुए बिना कितना ही व्रतादि करो, सम्यक्त्व नहीं होगा[2]।

संगीत सम्बन्धी उदाहरण

उदाहरण

(१) जैसे कोई व्यक्ति संगीत सम्बन्धी शास्त्रों के आधार से उसके स्वर, ग्राम, मूर्छना व रागों के रूप, ताल, तान व उनके भेदों को सीख लेता है परन्तु उनके स्वरूप को नहीं पहिचानता। पहिचान बिना किसी स्वर को कुछ का कुछ मान लेता है या सही भी मान लेता है पर बिना निर्णय के तो वह चतुर गायक नहीं बन सकता।

सिद्धान्त

(१) उसी प्रकार कोई जीव शास्त्रों का अध्ययन कर जीवादि तत्त्वों के नामादि सीख ले किन्तु उनके सही रूप को पहिचाने नहीं। अतः बिना पहिचान किसी तत्त्व को कोई तत्त्व मान ले अथवा सही भी मान ले पर बिना निर्णय के तो वह सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता[3]।

पाठक की रुचि-अरुचि एवं कठिनता-सरलता का ध्यान उन्होंने सर्वत्र रखा है। वे उतना ही लिखना चाहते हैं जितना पाठक ग्रहण कर सके और उसी प्रकार से लिखना चाहते हैं जिस प्रकार पाठक

[1] मो० मा० प्र०, २३५, २७२

[2] वही, ३४४

[3] वही, ३२६

समझ सके । इस बात का उल्लेख भी उन्होंने जहाँ आवश्यकता समझी, किया है । इसी बात को लक्ष्य में रख कर उन्होंने 'सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका' में संदृष्टियाँ यथास्थान न देकर अन्त में उनका एक पृथक अधिकार रखा है । उसके सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है :–

"जो यहु टीका मंदबुद्धीनि के ज्ञान होने के अर्थि करिए सौ या विषैं बीचि-बीचि संदृष्टि लिखने तैं तिनकौं कठिनता भासै तब अभ्यास तैं विमुख होई । तातैं जिनकौ अर्थ मात्र ही प्रयोजन होई सौ अर्थ ही कर अभ्यास करौ अर जिनको संदृष्टिनिकौं भी जाननी होई ते संदृष्टि अधिकार विषें तिनका भी अभ्यास करौ[१] ।"

बीच-बीच में लोक-प्रचलित एवं शास्त्रों में समागत् लोकोक्तियों का यथास्थान प्रयोग किया गया है । इससे विषय की स्पष्टता के साथ-साथ शैली में भी गतिशीलता आई है । कुछ इस प्रकार हैं :–

(१) मेरी माँ और बाँझ
(२) जल का बिलोवना
(३) देह विषें देव है, देहुरा विषें नाहीं
(४) स्वभाव विषें तर्क नाहीं
(५) बालक तोतला बोले तो बड़े तो न बोलें
(६) झोल दिये बिना खोटा द्रव्य चाले नाहीं
(७) विष तैं जीवना कहे हैं
(८) कीड़ी के कण और कुंजर के मण
(९) टीटोड़ी की सी नाई उबारै है
(१०) हस्त चुगल का सा नाई
(११) मिश्री को अमृत जान भखे तो अमृत का गुण तो न होय
(१२) काकतालीय न्यायवत्

[१] स० चं० पी०, ५०

(१३) यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः

(१४) अपुत्रस्य गतिर्नास्ति

(१५) चारित्तं खलु धम्मो

(१६) हस्तामलकवत्

पंडित टोडरमल ने गद्य को अपने विचारों के प्रतिपादन का माध्यम उस समय चुना जब कि प्रमुख रूप से सब लोग पद्य में ही लिखते थे। ब्रज गद्य का रूप भी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था। यद्यपि छुटपुट रूप में टोडरमलजी से कुछ समय पूर्व के पिंगल गद्य के रूप मिल जाते हैं किन्तु उनसे यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय गद्य विचारों के वाहन का मुख्य साधन बन चुका था। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने गद्य की समस्त विधाओं से युक्त प्राचीन से प्राचीन गद्य ग्रंथ सन् १८०० ई० के बाद का ही होना उल्लिखित किया है[1], जबकि पंडित टोडरमल का रचनाकाल सन् १७५४ से १७६७ ई० (विक्रम संवत् १८११–१८२४) है। अतः हिन्दी गद्य के निर्माण एवं रूपस्थिरीकरण में पंडित टोडरमल का प्रमुख योगदान रहा है। तत्कालीन गद्य की तुलना में पंडितजी का गद्य कहीं अधिक परिमार्जित, सशक्त, प्रवाहपूर्ण एवं सुव्यवस्थित है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि उनकी गद्य शैली प्रश्नोत्तर शैली है, जिसमें दृष्टान्तों का प्रयोग मणि-कांचन योग की शोभा बढ़ाने वाला है। आध्यात्मिक विषय के प्रतिपादक होने पर भी उनकी गद्य शैली में उनके व्यक्तित्व की झलक है। उनकी शैली ऐसी प्रतिपादन शैली है, जिसमें वह प्रत्यक्ष रूप में उपदेशक बन कर नहीं आते। उनकी शैली में शास्त्रीय चिंतन और लोक व्यवहारज्ञान एवं अनुभूति और चिंतन का सुन्दर सामंजस्य है।



---

[1] हिन्दी साहित्य, ३६४-३६५

षष्ठ अध्याय

भाषा

भाषा

पंडित टोडरमल द्वारा प्रयुक्त भाषा के सम्बन्ध में विचार करते समय उसके दो रूप देखने को मिलते हैं :-

(१) मौलिक लेखन की भाषा

(२) अनूदित ग्रन्थों की भाषा

उन्होंने परम्परागत दार्शनिक और सैद्धान्तिक ग्रन्थों का हिन्दी भाषा में रूपान्तर किया जो अधिकतर प्राकृत और संस्कृत भाषा में हैं। इन मूल ग्रन्थों में से किन्हीं-किन्हीं पर संस्कृत टीकाएँ मिलती हैं। ये अनुवाद उन्हीं पर आधारित हैं। अनुवाद केवल अनुवाद ही नहीं अपितु उनमें अनुवाद के साथ मौलिक चिन्तन भी है, जिसमें वे एक स्वतंत्र विचारक के रूप में उभरते दिखाई देते हैं।

इन्हीं मौलिक विचारों और मान्यताओं को उन्होंने स्वतंत्र ग्रन्थों के रूप में ग्रंथित कर दिया है, जिन्हें हम उनकी मौलिक रचनाएँ मान सकते हैं। जहाँ तक अनुवाद की भाषा का प्रश्न है, उसके मूल भाषा पर आधारित होने से लेखक की मौलिक भाषा नहीं मानी जा सकती। अधिक से अधिक यही माना जा सकता है कि उन्होंने लोकप्रयुक्त भाषा में उसका अनुवाद किया है। त्रिलोकसार भाषाटीका की भूमिका (पीठिका) के आरंभ में उन्होंने अपनी टीका की भाषा को लौकिक बोलचाल की भाषा बताया है। वे लिखते हैं :-

"इस शास्त्र की संस्कृत टीका पूर्वे भई है तथापि तहाँ संस्कृत गणितादिक के ज्ञान बिना प्रवेश होई सकता नाहीं। तातैं स्तोक ज्ञान वालों के त्रिलोक के स्वरूप का ज्ञान होने के अथि तिसही अर्थ कौं भाषा करि लिखिए है। या विषैं मेरा कर्त्तव्य इतना ही है जो क्षयोपशम के अनुसारि तिस शास्त्र का अर्थ कौं जानि धर्मानुराग तैं औरनि के

जानने के अर्थि जैसे कोऊ मुखतैं अक्षर उच्चारि करि देशभाषारूप व्याख्यान करै है तैसें मैं हस्ततैं अक्षरनि की स्थापना करि लिखौंगा[१] ।"

पंडित टोडरमल ने अपने लेखन में प्रयुक्त भाषा के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कहीं कुछ भी नहीं लिखा । फिर भी प्रसंगवश कहीं-कहीं ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनसे उनके भाषा सम्बन्धी विचारों पर प्रकाश पड़ता है । भाषा के सम्बन्ध में उनका कथन है :–

"इस निकृष्ट समय विषैं हम सारिखे मंदबुद्धीनितैं भी हीनबुद्धि के धनी घने जन अवलोकिए हैं । तिनिकौं तिन पदनि का अर्थज्ञान होने के अर्थि धर्मानुराग के वशतैं देशभाषामय ग्रन्थ करने की हमारै इच्छा भई, ताकरि हम यहु ग्रन्थ बनावें हैं । सो इस विषैं भी अर्थ सहित तिनिही पदनि का प्रकाशन हो है । इतना तौ विशेष है जैसै प्राकृत संस्कृत शास्त्रनिविषैं प्राकृत संस्कृत पद लिखिए है, तैसें इहाँ अपभ्रंश लिएं वा यथार्थपनाको लिएं देशभाषारूप पद लिखिए हैं परन्तु अर्थ विषैं व्यभिचार किछू नाहीं है[२] ।"

इस कथन से सिद्ध है कि पंडितजी ने यद्यपि धर्मानुराग से देश-भाषा में अपने ग्रन्थों की रचना की है, फिर भी उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि देशी भाषा उनकी है, जबकि वर्णित विषय और उसकी प्रतिपादन शैली बहुत कुछ परम्परागत है । उनका यह भी कहना है कि जिस प्रकार प्राकृत और संस्कृत शास्त्रों में प्राकृत व संस्कृत पद लिखे जाते हैं, उसी प्रकार इस ग्रंथ में देशभाषारूप पदों की रचना की गई है, परन्तु यह देशी पद रचना अपभ्रंश और यथार्थ को लिए हुए है । यहाँ लेखक का अभिप्राय यह मालूम होता है कि वह जिस देशभाषा में लिख रहा है उसमें अपभ्रंश का पुट है लेकिन साथ ही वह यथार्थ का आधार लेकर भी चलती है । अर्थात् उनकी देशभाषा न ठेठ अपभ्रंश है, न ठेठ देशभाषा । सामान्यतया कुछ आलोचक उसे ढूंढ़ारी (जयपुरी) भाषा कहते हैं[३], जबकि ब्र० रायमल ने सम्यग्ज्ञानचंद्रिका की भाषा को

---

[१] त्रि० भा० टी० भूमिका, १

[२] मो० मा० प्र०, १७

[३] वही, प्रस्तावना, ४

ग्वालियरी भाषा लिखा है[१]। वस्तुतः वह जयपुर, ग्वालियर ग्रादि विशाल हिन्दीभाषी प्रदेश की साहित्य भाषा ब्रजभाषा ही है क्योंकि लेखक स्वयं इसे देशभाषा कहता है एवं उसका स्वरूप ग्रपभ्रंश ग्रौर लोकभाषा के बीच स्वीकार करता है। वह ग्रपनी भाषा को किसी नाम विशेष से ग्रभिहित नहीं करता है। लेकिन भाषा में रचित होते हुए भी इसके ग्रर्थ में कहीं भी किसी प्रकार का दोष नहीं है, यह उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है। उनका 'देशभाषा' से ग्राशय है तत्कालीन लोक प्रचलित विकासशील भाषा, जिसको व्याकरणादि के ग्रध्ययन के बिना भी समझा जा सके। वे मोक्षमार्ग प्रकाशक के ग्रध्ययन की प्रेरणा देते हुए लिखते हैं :–

"इस ग्रन्थ का तौ वाँचना, सुनना, विचारना घना सुगम है, कोऊ व्याकरणादिक का भी साधन न चाहिए, तातैं ग्रवश्य याका ग्रभ्यास विषैं प्रवर्त्तौ, तुम्हारा कल्याण होयगा[२]।"

पंडितजी के लेखन कार्य का मुख्य उद्देश्य उच्च ग्राध्यात्मिक ज्ञान को प्रचलित लोकभाषा में सरल ढंग से प्रस्तुत करना था क्योंकि तत्त्व-विवेचन के ग्रन्थ संस्कृत या प्राकृत भाषा में थे। उन्होंने इन दो कारणों से इनकी टीका संस्कृत की ग्रपेक्षा देशभाषा में की :–

(१) संस्कृत ज्ञान से रहित लोगों को तत्त्वज्ञान सुलभ हो सके।

(२) जिन्हें संस्कृत का ज्ञान है, वे इसकी सहायता से ग्रर्थ का ग्रौर ग्रधिक विस्तार कर सकते हैं।

उनका यह भी कहना है कि नई भाषा में तत्त्वज्ञान की चर्चा करना नई बात नहीं है। पूर्व में ग्रर्द्धमागधी के ग्रन्थों को समझना कठिन हो गया तो संस्कृत में शास्त्र रचना हुई ग्रौर उसके बाद देशभाषा में। जब संस्कृत के ग्रंथों का ग्रर्थ देशी भाषा में समझाया ही जाता है तो मूल तत्त्वज्ञान को देशी भाषा में लिखने में भी कोई

---

[१] देखिए प्रस्तुत ग्रंथ, ५२

[२] मो॰ मा॰ प्र॰, ३०

दोष नहीं है । अतः उन्होंने देशी भाषा में टीकाएँ लिखीं[१] ।

भाषा के मूलभूत स्वरूप एवं वर्णों के सम्बन्ध में पंडितजी का कथन है कि अकारादि अक्षर अनादिनिधन हैं, जिन्हें लोग अपनी इच्छा के अनुसार लिखते हैं । इसीलिए 'सिद्धो वर्णसमाम्नायः' कहा गया है । जहाँ तक वर्णसमाम्नाय का सम्बन्ध है, पंडितजी उसे सिद्ध मान कर चलते हैं । वे उसके विकास की समस्या में नहीं पड़ते । उनके अनुसार अक्षरों का समूह पद है और सत्यार्थ के प्रतिपादक पदों के समूह का नाम श्रुत है[२] । इस प्रकार उन्होंने श्रुत की परिभाषा व्यापक बना दी है ।

---

[१] "जे जीव संस्कृतादि विशेष ज्ञान रहित हैं ते इस भाषाटीका तैं अर्थ धारो । बहुरि जे जीव संस्कृतादि ज्ञानसहित हैं परन्तु गणित आम्नायादिक के ज्ञान का अभाव तैं मूलग्रन्थ वा संस्कृत टीकाविषैं प्रवेश न पावैं हैं, तो इस भाषा टीकातैं अर्थ कौं धारि मूलग्रन्थ वा संस्कृत टीकाविषैं प्रवेश करहु । बहुरि जो भाषाटीका तैं मूलग्रन्थ वा संस्कृत टीकाविषैं अधिक अर्थ होई ताकै जानने का अन्य उपाय बनै सो करहु । इहाँ कोऊ कहै संस्कृत ज्ञान वालों कै भाषा अभ्यास विषैं अधिकार नाहीं ? ताकौं कहिए हैं – संस्कृत ज्ञान वालों का भाषा बाँचने तैं कोई दोष तौ नाहीं उपजै है । अपना प्रयोजन जैसैं सिद्ध होय तैसैं करना । पूर्व अर्द्धमागधी आदि भाषामय महान् ग्रंथ थे । बहुरि बुद्धि की मंदता जीवनि कै भई तब संस्कृतादि भाषामय ग्रन्थ बने । अब विशेष बुद्धि की मंदता जीवनि कैं भई तातैं देशभाषामय ग्रन्थ करने का विचार भया । बहुरि संस्कृतादिक का अर्थ भी अब भाषाद्वारकरि जीवनि कौं समझाइये है । इहाँ भाषाद्वारकरि ही अर्थ लिख्या तो किछु दोष नाहीं है । ऐसैं विचारि श्रीमद् गोम्मटसार द्वितीय नाम श्री पंचसंग्रह ग्रन्थ की जीवतत्त्वप्रदीपिका नामा संस्कृत टीका ताके अनुसार 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका' नामा यहु देशभाषामयी टीका करने का निश्चय कीया है ।"

– स० चं० पी०, ४-५

[२] "अकारादि अक्षर हैं ते अनादिनिधन हैं, काहू के किए नाहीं । इनिका आकार लिखना तौ अपनी इच्छा के अनुसारि अनेक प्रकार है परन्तु बोलने में आवैं हैं तै अक्षर तौ सर्वत्र सर्वदा ऐसैं ही प्रवर्तें हैं सो ही कह्या है – 'सिद्धो वर्णसमाम्नायः' । याका अर्थ यहु – जो अक्षरनि का संप्रदाय है सौ स्वयंसिद्ध है । बहुरि तिनि अक्षरनि करि निपजे सत्यार्थ के प्रकाशक पद तिनके समूह का नाम श्रुत है सो भी अनादिनिधन है ।"

– मो० मा० प्र०, १४

पंडितजी ने इस सम्बन्ध में मोती-माला का उदाहरण देते हुए कहा है जैसे कोई मोतियों की छोटी-बड़ी माला बनाता है, परन्तु वह मोती नहीं बना सकता, मोती उसके लिए सिद्ध हैं; उसी प्रकार वर्णसमाम्नाय सिद्ध है, उसका वे अपनी इच्छानुसार प्रयोग करते हैं, परन्तु इस प्रयोग में मूल अर्थ प्रभावित नहीं होता है। अतः इसे भी मूलग्रंथ की तरह प्रमाणिक माना जाय[1]। इस प्रकार उन्होंने देशी भाषा को परम्परा से चली आती रही भाषा के विरुद्ध आध्यात्मिक ज्ञान की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। देशभाषा के लिए उनकी यह मौलिक देन है।

पंडितजी द्वारा प्रयुक्त भाषा (जिसे वे देशभाषा कहते हैं) वस्तुतः तत्कालीन जयपुर राज्य व पार्श्ववर्ती क्षेत्र में प्रयुक्त ब्रज है, परन्तु उसमें जयपुर की तत्कालीन बोलचाल की भाषा के प्रयोग भी आ गए हैं। इसका एक कारण यह है कि उनका मुख्य उद्देश्य आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान को देशभाषा में लिख कर अधिक से अधिक व्यापक और लोकप्रिय बनाना था। अतः इसके लिए स्थानीय रूप से प्रयुक्त बोली को माध्यम बनाने के बजाय उन्होंने प्रचलित देशभाषा (ब्रज) को ही माध्यम के रूप में स्वीकार किया, परन्तु उसमें बोलचाल की स्थानीय भाषा का भी पुट है। दूसरे शब्दों में परम्परागत भाषा होते हुए भी उसके बोलचाल के स्वरूप को बनाए रखने का प्रयत्न किया है।

शब्द समूह

पंडित टोडरमल का साहित्य मुख्यतः संस्कृत और प्राकृत भाषा में लिखित प्राचीन साहित्य पर आधारित धार्मिक साहित्य है। इसलिए उसमें ७५ प्रतिशत संस्कृत, प्राकृत और उनकी परम्परा से विकसित शब्द हैं। इसके अतिरिक्त देशी शब्दों का भी प्रयोग है पर अपेक्षाकृत कम। उर्दू के शब्द भी मिलते हैं पर बहुत थोड़े। एक स्थान पर अरबी शब्द 'हिलब्बी[2]' का भी प्रयोग हुआ है। इस प्रकार तत्सम, तद्भव

---

[1] मो० मा० प्र०, १४-१५

[2] प्रो० मोलवी करीमुद्दीन द्वारा लिखित 'करीमुललुग़ात' शब्दकोष में 'हिलब्बी' का अर्थ एक प्रसिद्ध कांच है। प्रकरण के अनुसार भी यह अर्थ ठीक है।

और देशी शब्दों के अतिरिक्त उसमें उर्दू के भी शब्द मिलते हैं। तत्सम शब्दों की बहुलता का कारण मूल ग्रन्थों का संस्कृत प्राकृत में होना है। लेखक अपनी अभिव्यक्ति को सुगम बनाने के लिए खुले रूप में तत्सम शब्दों का प्रयोग करता है। दूसरे वह तद्भव के नाम पर जिन शब्दों का प्रयोग करता है उनकी रचना-प्रक्रिया प्राकृत रचना-प्रक्रिया से मिलती-जुलती है। उनके गद्य साहित्य में तत्सम शब्दों की बहुलता है तो पद्य साहित्य में तद्भव शब्दों की। इसका कारण काव्यभाषा ब्रज में तद्भव और देशी शब्दों के ही प्रयोग के विधान का अनिवार्य होना है। ब्रजभाषा प्रकृति और छन्द की लय इन्हीं को अपनाने के पक्ष में है। पद्य में इसीलिए पंडितजी परम्परा से बंधे थे, परन्तु ब्रजभाषा में गद्य का अभाव था इसलिए उन्हें उसमें तत्सम शब्दों के प्रयोग में किसी प्रकार भी रुकावट नहीं थी। नगण्य होते हुए भी देशी शब्द भी उल्लेखनीय है क्योंकि वे उस समय बोले जाने वाले स्थानीय शब्द हैं। उनकी भाषा में प्रयुक्त विभिन्न प्रकार के शब्दों के कुछ नमूने नीचे दिये जा रहे हैं :-

संज्ञा शब्द

(१) व्यक्तिवाचक :-

तत्सम – कृष्ण, बुद्ध, वर्द्धमान, शिव, मूलबद्री, काशी, जयपुर, लक्ष्मी, सूर्य, भूतबलि, वृषभ, नेमिचंद्र, राजमल्ल, चामुण्डराय, पंचसंग्रह।

तद्भव – ऋषभ>रिषभ, रामसिंह>रामसिंघ, वर्द्धमान> वर्धमान, मूलबद्री>मूलबिद्रपुर, गिरनार>गिरनारि, जयपुर>जैपुर, गोपाल>गुवालिया।

(२) जातिवाचक :-

तत्सम – वक्ता, श्रोता, श्रावक, वैद्य, ब्राह्मण, मुनि, राजा, नृप, पुत्र, जीव, अजीव, मोक्ष, देव, शास्त्र, गुरु, मुख, कर्म, गुणस्थान, हस्त, पाद, जिह्वा, स्थान, आचार्य, उपाध्याय, साधु, मनुष्य, द्वीप, लता, शर्करा, निंब,

किंकर, स्कंध, पुस्तक, चोर, पुण्य, पाप, ग्राम, उदधि, जनक।

तद्भव – मनुष्य>मानुष, मृत्तिका>माटी, स्वर्ण>सोना, रौप्य>रूपा, स्कंध>खंध, स्थान>थान, हृदय>हिया, गुणस्थान>गुणथान, वानर>बाँदर, मुक्ता>मोती, यति>यती, रूप्यकम्>रुपैया, क्षेत्रधर>खितहर, काक>कागला, गो>गऊ, हट्ट>हाटि, पण्डित>पाण्डे, कच्छप>काछिवा, श्वसुरालय>ससुराल।

देशी – घूघू, मण, हाँडी, साँठा, गाड़ा, जेवरी, पगाँ, पतासा, ठाकुर (भगवान), ठकुरानी, रोड़ी, सूवा, गली।

उर्दू – मदिरा, जामा, गुमास्ता, चसमा, दुरबीन, ख़ुदा, पैग़म्बर, कलाल, हिलव्वी (अरबी)।

(३) भाववाचक :–

तत्सम – ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व, प्रीति, कार्य, सत्य, व्रत, भ्रम, यश, भाग्य, अध्यात्म, कषाय, क्रोध, राग, द्वेष, मोह, उपयोग, वार्ता, स्तुति, ऋण, अनुभव, सुख, दुःख, आकुलता, अवगुण, उदासीनता, उन्मत्तता, पांडित्य, स्वामित्व, मनोरथ, चेतना, कलंक, मिलाप।

तद्भव – मर्म>मरम, वार्ता>बात, सत्य>साँचा, सम्यक्त>समकित, निर्वाण>निरवान, योग>जोग, बन्धन>बन्धान, यश>जस, कार्य>कारज, गुण>गुन, घृष्ठ>ढ़ीठ।

देशी – आखड़ी, सीर, पावना, जानपना, झापटा।

उर्दू – ख़रीद, एवज, जुदाई।

इनके अतिरिक्त भाववाचक संज्ञाएँ 'पना, पनों, पने, ता, त्व, त्य, आई' लगा कर बना ली गई हैं। कहीं-कहीं दो-दो प्रत्यय एक साथ लगा दिये गए हैं। प्रत्येक के कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं :–

पना – (१) **देवाधिदेवपना** को प्राप्त भए हैं।
(२) कुल अपेक्षा **महंतपना** नाहीं संभवै है।
(३) घातिकर्म का **हीनपना** के होने तैं सहज ही वीतराग विशेषज्ञान प्रगट हो है।

पनों – (१) जे **गृहस्थपनों** त्यागि मुनि धर्म अंगीकार करि निज स्वभाव साधनतैं च्यारि घातिया कर्मनिकौं खिपाय अनंतचतुष्यरूप विराजमान भए।
(२) तहाँ **इष्ट-अनिष्टपनों** न मानिए है।

पने – (१) बहुरि जे **मुख्यपने** तो निर्विकल्प स्वरूपाचरण विषैं ही मग्न हैं।
(२) राजा और रंक **मनुष्यपने** की अपेक्षा समान हैं।

ता – (१) **उन्मत्तता** उपजावने की शक्ति है।
(२) ज्ञान दर्शन की **व्यक्तता** रहे है।
(३) सो ए लोकविषैं **पंडितता** प्रगट करने के कारण हैं।
(४) कुल की **उच्चता** तो धर्म्म साधनतैं है।

त्व – प्राणाधिकारविषैं प्राणनि का लक्षण अर भेद अर कारण अर **स्वामित्व** का कथन है।

त्य – अर जो **पांडित्य** प्रगट करनेकौं लागै तो कषायभाव तैं उल्टा बुरा हो है।

आई – (१) **जुदाई** कौं नाहीं विचारै।
(२) अपनी **पण्डिताई** जनावनेकौं....।

त्व और पना का एक साथ प्रयोग – (१) याही करि जीव का **जीवत्वपना** निश्चय कीजिए हैं।
(२) अनुभाग शक्ति के अभाव होनेतैं **कर्मत्वपना** का अभाव हो है।

कहीं-कहीं पर 'आरोग्यवानपनों, बलवानपनों' जैसे प्रयोग भी मिलते हैं। जैसे – बहुरि साता के उदय करि शरीर विषैं **आरोग्यवानपनों बलवानपनों** इत्यादि हो है।

सर्वनाम

आलोच्य साहित्य की भाषा में नीचे दिये जा रहे चार्ट के अनुसार सर्वनाम का प्रयोग हुआ है :—

	उत्तम पुरुष	मध्यम पुरुष	अन्य पुरुष
एकवचन			
कर्तृ	मैं, अहं, हम	तूं, तू, तै (तूनै), तुम	सो, वा, वह, ता, तिस, इस, या, यहु, यह, जौ, जिहि, कोई, जा, कोऊ,
कर्म-सम्प्रदान	मुझकों, मोकों मेरो, मोकूं	तौकूं	ताको, ताकों, ताहि, जाकों, जाको, जाको, याकों, ताकूं
सम्बन्ध	मम, मेरा, मेरी, मेरो, मेरौ, मेरे, मेरयो, मेरयौ, हमारे, हमारैं, हमारा	तेरा, तेरे	ताका, ताके, ताकी, ताकैं, जाका, जाकै, जाकी, जाकैं, याका, याके, याकी, याकैं, याकै, वाकै
बहुवचन			
कर्तृ	हम	तुम	तै, तई, तिन, तिनि, जे, वे, इन, उन, ए, कैई, सर्व, सब
कर्म-सम्प्रदान	हमको, हमकौं, हमकों	तुमको, तुमकों, तुमकूं	जिनको, जिनकों, तिनको, तिनकौं, तिनिकौ, इनकौ, सबकूं, सबनिकूं
सम्बन्ध	हमारा, हमारे, हमारौ	तुम्हारा, तुमारे, तुमको, तुमकों	तिनका, तिनिका, तिनिकै, जिनका, जिनकै, जिनकैं, इनका, इनकी, इनकै, उनका, उनकी, उनकै, सबका, सबनिका

डॉ० उदयनारायण तिवारी ने ब्रजभाषा में प्रयोग आने वाले सर्वनामों का विवरण इस प्रकार दिया है[1] :–

	मैं	तू	वह (पु० वा०) वह (संकेत वा०)	यह	कौन	वह (संकेत वा०)	कौन (प्र० वा०)	क्या (प्र० वा०)
एकवचन								
कर्तृ	मैं, हौं, हों	तू, तै, तैं	वो, वह, वुह	यह, यिह	जो, जौन	सो, तौन	को, कौ, नकौ	कहा, का
तिर्यक	मो, मुज, मोहि, मुहि	तो, तुज, तोहि, तुहि	विस, वा, वाहि	इस, या, याहि	जिस, जा, जाहि	तिस, ता, ताहि	किस, का, काहि	काहे
कर्म-सम्प्रदान	मोहि, मुहि मोए, मोय, मोइ, मो	तोहि, तुहि, तोए, तोय, तोइ, तो	वाहि, वाए, वाय, विसे	याहि, याए, याय, इसे	जाहि, जाए, जाय, जिसे	ताहि, ताए, ताय, तिसे	काहि, काए, काय, किसे	....
सम्बन्ध	मेरो, मेर्‌यो	तेरो, तेर्‌यो	....	....	जासु	तासु	....	....
बहुवचन								
कर्तृ	हम	तुम	वे, वैं	ये, यैं	जो	सो, ते	को, कौ	....
तिर्यक	हम, हमौं, हमनि, हमन	तुम, तुम्हौं	उनि, उन, उन्हौं, विनि, विन, विन्हौं	इनि, इन, इन्हौं	जिनि, जिन्, जिन्हौ,	तिनि, तिन्, तिन्हौं	किनि, किन्, किन्हौं	....
कर्म-सम्प्रदान	हमैं	तुम्हैं	उन्हैं, विन्हैं	इन्हैं, इहैं	जिन्हैं	तिन्हैं	किन्हैं	....
सम्बन्ध	हमारो हमार्‌यो	तुम्हारो तुम्हार्‌यो तिहारो तिहार्‌यो	....	....	....	....	....	....

नोट :–उपर्युक्त (प्रमुख रूप से उत्तम तथा मध्यम पुरुष) बहुवचन के रूपों का प्रयोग प्रायः एकवचन में भी होता है। इसी प्रकार इधर 'व' के स्थान पर 'ब' तथा 'य' के स्थान पर 'ज' का प्रयोग भी चलता है।

[1] हि० भा० उ० वि०, २४५

आलोच्य साहित्य की भाषा के और ब्रजभाषा के सर्वनामों के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि दोनों में पर्याप्त समानता है। दोनों में ही बहुवचन के रूपों का प्रयोग एकवचन में भी हुआ है। इसी प्रकार 'या' के स्थान पर 'जा' की प्रवृत्ति दोनों में समान रूप से पाई जाती है। आलोच्य साहित्य की भाषा में कर्त्ता के उत्तम पुरुष एकवचन में ब्रजभाषा के 'हों, हौं' रूप नहीं मिलते हैं, किन्तु एकाध स्थान पर संस्कृत का 'अहं' दिखाई दे जाता है। कर्म व सम्प्रदान में ब्रज के 'मोहि, मुहि, तोहि, तुहि' आदि रूप न होकर खड़ी बोली के 'मुझकों, मोकूँ, तोकूँ' रूप प्राप्त होते हैं, पर कहीं-कहीं विशेषकर पद्य में 'ताहि' दिखाई पड़ जाता है। 'जिन्हें, तिन्हें, किन्हें' के स्थान पर 'जिनको, तिनकों, किनको', प्रयोग में लाए गए हैं, जो ब्रजभाषा की अपेक्षा खड़ी बोली के अधिक निकट हैं। सब कुछ मिला कर इनकी प्रकृति ब्रजभाषा के सर्वनामों के ही निकट है।

अव्यय

पंडित टोडरमल की भाषा में निम्नलिखित अव्यय प्रयुक्त हैं, जो वाक्यरचना में विभिन्न रूप से काम आते हैं। अव्ययों को विभिन्न वैयाकरणों ने विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत रखा है। विचाराधीन भाषा में प्रयुक्त अव्ययों को निम्नलिखित शीर्षकों में रखा जा सकता है :—

(१) समयवाचक अव्यय
(२) परिमाणवाचक अव्यय
(३) स्थानवाचक अव्यय
(४) गुणवाचक अव्यय
(५) प्रश्नवाचक अव्यय
(६) निषेधवाचक अव्यय
(७) विस्मयवाचक अव्यय
(८) सामान्य अव्यय

(१) समयवाचक :-

अब – **अब** सिद्धनि का स्वरूप ध्याइये है ।

तब – (१) **तब** ऐसा उत्तम कार्य कैसे बनै ।

(२) **तब** कुटुम्ब को मेलो भयौ ।

जब – **जब** प्रश्न उपजै है तब अति विनयवान होय प्रश्न करै है ।

अबार – (१) तहाँ ठीक कीए ग्रंथ पाइए **अबार** हैं ।

(२) अर वैसे गुरु **अबार** दीसै नाहीं ।

सदा – देखै जानै ऐसी आत्मा विषैं शक्ति **सदा** काल है ।

सर्वदा – ऐसी दशा **सर्वदा** रहे ।

कबहूँ – (१) **कबहूँ** आन दशा नहि गहै ।

(२) **कबहूँ** तो जीव की इच्छा के अनुसार शरीर प्रवर्त्तै है, **कबहूँ** शरीर की अवस्था अनुसार जीव प्रवर्त्तै है ।

अबहू – अनुसारी ग्रंथनितैं शिवपंथ पाइ भव्य,
अबहू करि साधना स्वभाव सब भयो है ।

कदाचित् – **कदाचित्** मंदराग के उदयतैं शुभोपयोग भी हो है ।

पहिलैं } **पहिलैं** जानै तब **पीछै** तैसे ही प्रतीत करी
पीछै } श्रद्धानकौं प्राप्त हो है ।

इदानीं – **इदानीं** जीवनिकी बुद्धि मंद बहुत है ।

एककाल – तीनों वेदनिविषैं **एककाल** एक-एक ही प्रकृतिनि का बंध हो है ।

यावत् – **यावत्** बंधान रहे तावत् साथ रहैं ।

तावत् – यावत् बंधी स्थिति पूर्ण होय **तावत्** समय-समय तिस प्रकृति का उदय आया ही करे ।

(२) परिणामवाचक :–

इतना – **इतना** जानना जिनको अन्यथा जाने जीव का बुरा होय।

जितना – जैसें सूर्य का प्रकाश है सो मेघ पटल तें है **जितना** व्यक्त नाहीं तितना का तो तिसकाल विषें अभाव है।

तितना – जेता अनुराग होय **तितना** फल तिसकाल विषें निपजै है।

जैते – अपनी स्थिति के **जैते** समय होहिं तिन विषें क्रमते उदय आवै हैं।

जैती – जन्म समय तें लगाय **जैती** आयु की स्थिति होय तितने काल पर्यन्त शरीर का सम्बन्ध रहे है।

जेता, तेता – अर **जेता** यथार्थपना हो है, **तेता** ज्ञानावरण के क्षयोपशम तें हो है।

जितने, तितने – **जितने** अंशनि करि वह हीन होय, **तितने** अंशनि करि यह प्रगट होय।

बहुत – **बहुत** सूत्र कै करन तें नेमिचन्द गुणधार।
मुख्यपनै या ग्रंथ के कहिए हैं करतार॥

अति – (१) शास्त्राभ्यास विषैं **अति** आसक्त है।
(२) गमन करन को **अति** तरफरैं।

किछू – (१) परन्तु **किछू** अवधारण करते नाहीं।
(२) संशयादि होते **किछू** जो न कीजिए ग्रंथ।

केतीक – मुख्यपने **केतीक** सामग्री साता के उदय तें हो है, **केतीक** असाता के उदय तें हो है।

कितेक – सूत्र **कितेक** किए गंभीर।

केतैक – **केतैक** काल पीछै च्यारि अघाति कर्मनिका........।

केतैइक – परन्तु **केतैइक** अति मंदबुद्धीनि तें भला है।

केताइक – पर्व के दिन भी **केताइक** काल पर्यन्त पाप क्रिया करे पीछे पोषहधारी होय ।

अल्प – **अल्प** कषाय होते थोरा अनुभाग बंधै है ।

अधिक – शास्त्राभ्यास विषैं सुभग, बढ्यो **अधिक** उत्साह ।

किंचित् – चरम शरीर तैं **किंचित्** ऊन पुरुषाकारवत् आत्म-प्रदेशनि का आकार अवस्थित भया ।

किंचिन्मात्र – जो कुलक्रमादिकतैं भक्ति हो है सो **किंचिन्मात्र** ही फल का दाता है ।

(३) स्थानवाचक :–

दूर – **दूर** किया चाहे है ।

समीप – दूर तैं कैसा ही जाने **समीप** तैं कैसा ही जाने ।

निकटि – दक्षिण में गोम्मट **निकटि** मूलविद्रपुर····।

यहाँ – अर कहाँ तैं आकर **यहाँ** जन्म धार्या है ।

इहाँ – (१) **इहाँ** इतना जानना ।

(२) **इहाँ** ऐसा नियम नाहीं है ।

कहाँ – मर कर **कहाँ** जाऊँगा ।

तहाँ – (१) **तहाँ** प्रथम अरहंतनि का स्वरूप विचारिए है ।

(२) **तहाँ** ठीक कीए ग्रंथ पाइए अबार हैं ।

जहाँ – या विषैं **जहाँ-जहाँ** चूक होइ, अन्यथा अर्थ होइ तहाँ-तहाँ मेरे ऊपरि क्षमा करि········।

जहँ – मार्ग कियो तिहिं जुत विस्तार,
जहँ स्थूलनिको भी संचार ।

ऊँचा – यातैं **ऊँचा** और धर्म्म का अंग नाहीं ।

पीछै – **पीछै** देश सकल चारित्र को बखान है ।

सर्वत्र – बहुरि जघन्य **सर्वत्र** एक अंतर्मुहूर्त काल है ।

(४) गुणवाचक :-

ऐसा – **ऐसा** वक्ता होय ।

ऐसी – **ऐसी** अंतरंग अवस्था होते बाह्य दिगम्बर सौम्य मुद्राधारी भए हैं ।

ऐसे – **ऐसे** जैन मुनि हैं, तिन सबनि की ऐसी ही अवस्था हो है ।

ऐसें – **ऐसें** सर्व प्रकार पूजने योग्य श्री अरहंतदेव हैं ।

अैसौ – सत्य अर्थ सभा माहिं **अैसौ** जिन महिमा अनुसरै है ।

जैसी – होऊ मेरी अैसी दशा **जैसी** तुम धारी है ।

जैसें – अपने योग्य बाह्य क्रिया **जैसें** बनै तैसें बनै है ।

जैसौ – जाकौं **जैसौ** इष्ट सो सुनै है ।

तैसें – अवशेष जैसें हैं **तैसें** प्रमाण ।

वैसा – **वैसा** विपरीत कार्य कैसे बनै ।

जैसा, तैसा – **जैसा** जीव **तैसा** उपदेश देना ।

(५) प्रश्नवाचक :-

कौन – (१) दण्ड न दिया **कौन** कारण ?

(२) ऐसे कार्य को **कौन** न करेगा ?

कहा – मेरा **कहा** स्वरूप है ?

क्यों – टीका करने का प्रारंभ **क्यों** न कीया ?

कैसा – बहुरि वक्ता **कैसा** चाहिए ?

कैसी – जीव की **कैसी** अवस्था होय रही है ?

कैसे – **कैसे** सौ विचारिए ।

कैसें – यह चरित्र **कैसें** बनि रह्या है ?

(६) निषेधवाचक :–

नाहीं – (१) परद्रव्य विषैं अहंबुद्धि **नाहीं** है ।

(२) कोऊ द्रव्य काहू का मित्र शत्रु है **नाहीं** ।

नहीं – पुद्गल परमाणु तो जड़ है, उनके किछू ज्ञान **नहीं** ।

नाहि – वर्धमान केवली के देहरूप पुद्गल ते,
जीव **नाहि** प्रेरे तौऊ उपकार करैं है ।

नहि – संस्कृत संदृष्टिनि कौं ज्ञान,
नहि जिनके ते बाल समान ।

न – (१) पर भावनि विषैं ममत्व **न** करे हैं ।

(२) बिगार **न** होय, तो हम काहे कौं निषेध करैं ।

मति – (१) जिनकों बंध न करना होय ते कषाय **मति** करो ।

(२) कार्यकारी नाहीं तो **मति** होहु, किछू तिनके माननें तैं बिगार भी तो होता नाहीं ।

(७) विस्मयवाचक :–

अहो – **अहो** ! देव गुरु धर्म्म तो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं, इनके आधारि धर्म है ।

हाय हाय – सो हाय ! हाय ! ! यहु जगत राजा करि रहित है, कोई न्याय पूछनेवाला नाहीं ।

(८) सामान्य अव्यय :–

अथ – **अथ** मोक्षमार्ग प्रकाशक नाम शास्त्र का उदय हो है ।

अर – (१) **अर** ताही के अनुसार ग्रन्थ बनावैं हैं ।

(२) **अर** श्रद्धान ही सर्व धर्म का मूल है ।

आन – ताही का निमित्त पाय **आन** स्कंध पुद्गल के ।

बहुरि – **बहुरि** वक्ता कैसा चाहिए ?

व – वा वचन सुनना वा निकटवर्ती होना **व** तिनके अनुसार प्रवर्त्तना।

वा – इहाँ जो मैं यहु ग्रंथ बनाऊं हूं सो कषायनितें अपना मान बधावनेकौं **वा** लोभ साधनेकौं **वा** यश होनेकौं **वा** अपनी पद्धति राखनेकौं नाहीं बनाऊँ हूँ।

अथवा – **अथवा** परस्पर अनेक प्रश्नोत्तर करि वस्तु का निर्णय करै है।

पर – **पर** यदि वक्ता लोभी होय तो वक्ता आप ही हीन हो जाय।

परन्तु – **परन्तु** तिस राग भाव को हेय जान कर दूर किया चाहे है।

केवल – **केवल** निर्जरा ही हो है।

बिना – ताके **बिना** कुमाए भी धन होता देखिए।

बिनु – (१) तातें बुद्धिमान **बिनु** जाने नाहि सार है।
(२) बल **बिनु** नाहि पदनिकौं धरैं।

यद्यपि } **यद्यपि** यहु पुद्गल कौ खंध,
तथापि } है **तथापि** श्रुत ज्ञान निबंध।

तो – दुर्जन **तो** हास्य करेंगे।

तौ – ऐ **तौ** क्रिया सर्व मुननि के साधारण हैं।

भी – (१) ते **भी** यथायोग्य सम्यग्ज्ञान के धारक हैं।
(२) बहुरि युक्तितें **भी** ऐसे ही संभवै है।

तौऊ – **तौऊ** उपकार करै है।

यदि – पर **यदि** वक्ता लोभी होय तो वक्ता आप ही हीन हो जाय।

यथावत् – ताको **यथावत्** निश्चय जानि अवधारै हैं।

यथायोग्य – (१) तिनका **यथायोग्य** विनय करूँ हूँ।
(२) ते भी **यथायोग्य** सम्यग्ज्ञान के धारक हैं।

यथासंभव – ऐसे ही **यथासंभव** सीखना, सिखावना आदि........।

नाना प्रकार – जे **नाना प्रकार** दुःख तिन करि पीड़ित हो रहे हैं।

नाना विध – (१) **नाना विध** भाषारूप होइ बिसतरे हैं।
(२) सो **नाना विध** प्रेरक भयो।

तथा विध – **तथा विध** कर्म को क्षयोपशम जानिए।

बारंबार – अपने अंतरंग विषें **बारंबार** विचारै है।

जातैं – ऐसैं इतरेतराश्रय दोष नाहीं **जातैं** अनादि का स्वयंसिद्ध द्रव्यकर्म संबंध है।

तातैं – **तातैं** भिन्न न देखे कोय, बिनु विवेक जग अंधा होय।

सहज – **सहज** ही वीतराग विशेषज्ञान प्रगट हो है।

फुनि – कनकनंदि **फुनि** माधवचन्द,
प्रमुख भए मुनि बहु गुन कंद।

कि – बहुरि कोऊ कहे **कि** अनुराग है तो अपनी बुद्धि अनुसार ग्रंथाभ्यास करौ।

ही – तातैं व्रत पालने विषें ज्ञानाभ्यास **ही** प्रधान है।

प्रगट – वीतराग विशेषज्ञान **प्रगट** हो है।

युगपत् – सर्व को **युगपत्** जानि सकते नाहीं।

अन्यथा – अर्थ **अन्यथा** ही भासै।

किनहूँ – **किनहूँ** ने अन्य ग्रंथ बनाए।

भिन्न-भिन्न – **भिन्न-भिन्न** भाषा टीका कीनी अर्थ गायकें।

सर्वथा – तातैं सुखी **सर्वथा** होई।

संख्यावाची शब्द

आलोच्य साहित्य में संख्यावाची शब्दों का प्रयोग विभिन्न प्रकार से हुआ है। प्रत्येक शब्द के अनेकों रूप मिलते हैं। उन रूपों में तत्सम्, तद्भव, एवं देशी सभी प्रकार के रूप पाए जाते हैं। कुछ विभिन्न रूप नीचे दिये जा रहे हैं :–

एक – एक, एका, इकवाई, प्रथम, पहिला
दो – दो, दोय, दोइ, दोऊ, दूजा, दूजौ, दूसरा, द्वितीय, दूणा, दूवा
तीन – तीन, तृतीय, तीसरा, तीजो, तीजी, तीजा, तीया, तिगणा, तिहाई, तीसरे, तीनों
चार – चार, च्यार, च्यारि, चारि, चौका, च्यारों, चौथे, चौथा, चौथाई, चतुर्थ
पाँच – पाँच, पँच, पाँचा, पाँचमा, पाँचवाँ
छह – छह, छ, षट्, छक्का, छठा, छट्ठा
सात – सात, सप्त, सातमा, सातवाँ
आठ – आठ, आठा, अष्ट, आठमा, आठवाँ
नौ – नव, नवमा, नवमाँ
दश – दश, दशवाँ, दाहाकी
ग्यारह – ग्यारह, ग्यारहीं, ग्यारहवाँ
बारह – बारह, द्वादश, बारहवाँ
तेरह – तेरहवाँ
चौदह – चौदह, चउदह, चौदहवाँ
पन्द्रह – पंद्रह, पन्द्रहवाँ
सोलह – सोलह, सोलहवाँ
सत्रह – सतरह, सतरहवाँ
अठारह – अठारह, अठारहवाँ
उन्नीस – उगणीस, उगणीसवाँ
बीस – बीस, बीसवाँ
इक्कीस – इकईस, इक्कीसवाँ
बाईस – बाईस, दोयबीस, बावीसवाँ
तेईस – तेईस
चौबीस – चौबीस
पच्चीस – पच्चीस
छब्बीस – छब्बीस

अट्ठाईस – अट्ठाईस, अठाईस
उन्तीस – गुणतीस
तीस – तीस
चौंतीस – चौंतीस
छत्तीस – छत्तीस
सैंतीस – सैंतीस
चालीस – चालीस
इकतालीस – इकतालीस
पैंतालीस – पैंतालीस
अड़तालीस – अड़तालीस
उन्चास – गुणचास
पचास – पचास
त्रैपन – तरेपन
चौवन – चौवन
पचपन – पचावन
छप्पन – छप्पन
सत्तावन – सत्तावन
साठ – साठ, साठि
बासठ – बासठ
त्रेसठ – तरेसठि
चौसठ – चौसठि, चौसठवाँ
पैंसठ – पैंसठ
उनत्तर – गुणहत्तरि, गुणहत्तर
बहत्तर – बहत्तर, बहत्तरिवाँ
पचहत्तर – पिचहत्तरि
अस्सी – असी
तेरासी – तियासी
नवासी – निवासी
बानवै – बाणवै
तेरानवै – तिराणवै
छयानवै – छिनवै
सत्तानवै – सत्याणवै
सौ – सौ, शत, सौ, सै, सैंकड़ा
हजार – हजार, सहस्त्र
इकाई – इकवाई, एकस्थानीय
दहाई – दाहाकी, दशस्थानीय
सैकड़ा – सैंकड़ा, शतस्थानीय
हजार – हजार, सहस्त्र-स्थानीय
संख्यात – संख्यात्
असंख्यात – असंख्यात्
अनंत – अनंत
आधा – आधा
पौन – पौण
ड्येड़ – ड्योड़, ड्योढ़
सवा – सवा
शून्य – शून्य, बिन्दी

शब्द-विशेष के कई प्रयोग (लिपि की दृष्टि से)

विचाराधीन साहित्य की भाषा में एक ही अर्थ में कुछ शब्दों के दो या दो से अधिक रूप मिलते हैं। इनमें प्रायः ध्वनि में परिवर्तन कर दिया जाता है। नमूने के रूप में कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :–

(१) अनुसार – १. इनि का आकार लिखना तो अपनी इच्छा के **अनुसार** अनेक प्रकार है।

और २. तिन विषैं हमारै बुद्धि **अनुसार** अभ्यास वर्ते है।

अनुसारि – १. ताके **अनुसारि** अन्य-अन्य आचार्यादिक नाना प्रकार ग्रंथादिक की रचना करैं हैं।

२. इच्छा कषाय भावनि के **अनुसारि** कार्य करने की हो है।

(२) सिद्धि – दुःख विनशै ऐसै प्रयोजन की **सिद्धि** इनि करि

और हो है कि नाहीं ?

सिद्धी – इन करि ऐसै प्रयोजन की तो **सिद्धी** हो है।

(३) तिनका – पीछे **तिनका** भी अभाव भया।

और

तिनिका – भ्रम करि **तिनिका** कह्या मार्गविषैं प्रवर्ते हैं।

(४) किछू – बिना कषाय बाह्य सामग्री **किछू** सुख-दुःख की दाता नाहीं।

कछु – मिले **कछु** कहिए भी सो मिलना कर्माधीन है।

और

कुछ – तिसके उत्तर अपनी बुद्धि अनुसार **कुछ** लिखिए हैं।

(५) वार्ता – धन्य हैं जे स्वात्मानुभव की **वार्ता** भी करैं।

और

बात – आत्मा की **बात** भी सुनी है, सो निश्चय करि भव्य है।

(६) विषैं – परिणामन की मग्नता **विषैं** विशेष है।
और
बिखैं – अर दोनों ही का परिणाम नाम **बिखैं** हैं।

(७) धर्म – तब साँचा **धर्म** हो है।
और
धर्म्म – बहुरि **धर्म्म** के अनेक अंग हैं।

(८) कर्म – जो **कर्म** आप कर्त्ता होय उद्यम करि जीव कै
और स्वभाव को घातै·······।
कर्म्म – **कर्म्म** निमित्त तैं निपजै जीव नाना प्रकार दुःख
तिन करि पीड़ित हो रहे हैं।

(९) च्यारि – तहाँ **च्यारि** घातिया कर्म्मनि के निमित्त तैं तो
जीव के स्वभाव का घात ही हो है।
च्यार – प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग,
द्रव्यानुयोग ए **च्यार** अनुयोग हैं।
और
चारि – जो ये **चारि** लक्षण कहे तिनि विषैं·······।

(१०) काज – करि मंगल करि हौं महाग्रंथ करन कौ **काज**।
कारज – तब यह उत्तम **कारज** थयो।
और
कार्य – जैसे कोई गुमास्ता साहू के **कार्य** विषैं प्रवर्तै है।

(११) आदि – आहार-**विहारादि** क्रियानि विषैं सावधान हो हैं।
और
आदिक – **वचनादिक लिखनादिक** क्रिया,
वर्णादिक अरु इन्द्रिय हिया।

(१२) गुमावै – जैसें तैसें काल **गुमावै**।
और
गमावै – निरुद्यमी होय प्रमादी यूँ ही काल **गमावै** है।

(१३) प्रतीति अनावनै } बहुरि **प्रतीति अनावनै** कै अर्थि अनेक युक्ति करि उपदेश दीजिए।

और

प्रतीति करावनै } वस्तु की **प्रतीति करावनै** कौं उपदेश दीजिए है।

वचन

आलोच्य साहित्य की भाषा में एकवचन और बहुवचन का प्रयोग हुआ है। एकवचन से बहुवचन बनाने के लिए 'नि, न, ओं' का प्रयोग किया गया है। एकवचन से बहुवचन बनाने में अकारान्त, आकारान्त, इकरान्त, ईकारान्त, उकारान्त और ऊकारान्त आदि शब्दों में कोई विशेष नियम न अपना कर सर्वत्र उक्त प्रत्यय लगा कर ही एकवचन से बहुवचन बना लिये गए हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि जब वे ह्रस्व 'इ, उ' के बाद 'नि' लगा कर बहुवचन बनाते हैं तब ह्रस्व 'इ, उ' के स्थान पर क्रमशः दीर्घ 'ई, ऊ' कर देते हैं। नीचे कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं:-

नि –

अ – तहाँ प्रथम **अरहंतनि** का स्वरूप विचारिए हैं।

आ – लोक विषैं तो राजादिक की **कथानि** विषैं पाप का पोषण हो है।

इ – ऐसैं तुच्छ **बुद्धीनि** के समझावनै कौं यहु अनुयोग है।

ई – अर **पापीनि** की निन्दा जा विषैं होय........।

उ – इन तीन **आयूनि** का अल्प कषाय तैं बहुत अर बहुत कषाय तैं अल्पस्थिति बंध जानना।

न – तातैं **श्रोतान** का विरुद्ध श्रद्धान करने तैं बुरा होय।

ओं – जातैं जो ऐसा न होइ तो **श्रोताओं** का सन्देह दूर न होई।

कारक और विभक्तियाँ

हिन्दी की व्याकरण की दृष्टि से मीमांसा करने वाले ग्रन्थों में कारक और विभक्ति के सम्बन्ध में बहुत भ्रम है। कारक और विभक्ति दो अलग-अलग चीजें हैं। कारकों का सम्बन्ध क्रिया से है। वाक्य में प्रयुक्त विभिन्न पदों का क्रिया से जो सम्बन्ध है, उसे कारक कहते हैं। इन प्रयुक्त पदों का आपसी सम्बन्ध भी क्रिया के माध्यम से होता है, उनका क्रिया से निरपेक्ष स्वतंत्र संबंध नहीं होता। इस प्रकार वाक्य रचना की प्रक्रिया में कारक एक पद के दूसरे पद से सम्बन्ध-तत्त्व का बोधक है अर्थात् वह यह बताता है कि वाक्य में एक पद का दूसरे पद से क्या सम्बन्ध है। भाषा में इस सम्बन्ध को बताने वाली व्यवस्था विभक्ति कहलाती है अर्थात् जिन प्रत्ययों या शब्दों से इस सम्बन्ध की पहिचान होती है उसे विभक्ति कहते हैं। इस प्रकार विभक्ति भाषा सम्बन्धी व्यवस्था है। पाणिनी ने सात विभक्तियाँ और छह कारक माने हैं, इसमें एक-एक कारक के लिए एक-एक विभक्ति सुनिश्चित कर दी गई है।

कर्ता – प्रथमा
कर्म – द्वितीया
करण – तृतीया
सम्प्रदान – चतुर्थी
अपादान – पंचमी
अधिकरण – सप्तमी

षष्ठी के सम्बन्ध में उनका स्पष्ट निर्देश है 'शेषे षष्ठी'। सम्बन्ध को बताने के अतिरिक्त दूसरे कारकों को बनाने के लिए भी षष्ठी का प्रयोग किया जा सकता है। 'शेषे षष्ठी' का अभिप्राय यही है, परन्तु हिन्दी के व्याकरणों में सम्बन्ध को कारक मान लिया गया और उसे षष्ठी विभक्ति सुनिश्चित कर दी गई। इसी प्रकार संबोधन को भी एक विभक्ति दी जाती है जो कि सरासर गलत है। जहाँ तक कारकों के ऐतिहासिक विकास का सम्बन्ध है, कारकों की

स्थिति प्रत्येक भाषा में अपरिवर्तनशील है, क्योंकि उनका सम्बन्ध वाक्यों में प्रयुक्त पदों की विवक्षा से है। हाँ, इस विवक्षा को बताने वाली भाषाई व्यवस्था में विनिमय या परिवर्तन संभव है। उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं कि संस्कृत के बाद प्राकृत-अपभ्रंश में कर्ता, कर्म और सम्बन्ध की विभक्तियों का लोप हो गया तो इसका अर्थ यह नहीं है कि इन कारकों का लोप हो गया, कारक तो ज्यों के त्यों हैं, हाँ, उनकी सूचक विभक्तियों या प्रत्ययों का लोप हो गया अर्थात् बिना भाषा सम्बन्धी प्रत्ययों के ही उनके कारक तत्त्व का प्रत्यय (ज्ञान) हो जाता है।

आलोच्य साहित्य में नीचे लिखे अनुसार कारक चिह्नों और विभक्तियों के प्रयोग मिलते हैं :-

कर्ता

कर्ता कारक में विभक्ति का प्रायः लोप मिलता है। जैसे :-

(१) **जीव** नवीन शरीर धरै है।

(२) **राजा और रंक** मनुष्यपने की अपेक्षा समान हैं।

(३) **जे** केवलज्ञानादि रूप आत्मा को अनुभवै हैं, ते मिथ्यादृष्टि हैं।

(४) **वैद्य** रोग मेट्या चाहै है।

(५) **मैं** सिद्ध समान शुद्ध हूँ।

(६) **वह** तपश्चरण को वृथा क्लेश ठहरावै है।

(७) **तुम** कोई विशेष ग्रंथ जाने हों तो मुझ को लिख भेजना।

(८) **तुम** प्रश्न लिखे तिसके उत्तर अपनी बुद्धि अनुसार लिखिए है।

(९) **तुम** तीन दृष्टान्त लिखे।

(१०) जिहि **जीव** प्रसन्न चित्त करि इस चेतन स्वरूप आत्मा की बात भी सुनी है, सो निश्चय करि भव्य है।

(११) बहुरि **तैं** कह्या सो सत्य.........।

इसके अपवाद भी मिलते हैं। जैसे :–

(१) **तुमने** प्रत्यक्ष-परोक्ष सम्बन्धी प्रश्न लिखे।
(२) **तिनिने** तिस मंगल करनेवाले की सहायता न करी।
(३) तातें **तुमने** जो लिख्या था........।
(४) **हमने** स्वप्न विषें वा ध्यान विषें फलाने पुरुष को प्रत्यक्ष देखा।
(५) स्वानुभव और प्रत्यक्षादिक सम्बन्धी प्रश्न **तुमने** लिखे थे।

कर्म

कर्म कारक में 'को, कों, कौं, कूं, ओं' के प्रयोग मिलते हैं। कहीं-कहीं कर्म कारक में भी विभक्ति का लोप देखा जाता है।

को – (१) तत्त्व ज्ञान **को** पोषते अर्थनिकों धरेंगे।
(२) मैं सर्व **को** स्पर्शूं, सर्व **को** सूंघूं, सर्व **को** देखूं, सर्व **को** सुनूं, सर्व **को** जानूं।
(३) आप**को** आप अनुभवै है।
(४) ता**को** भी मंद करै है।

कों – (१) अनंत वीर्य करि ऐसी सामर्थ्य **कों** धारे हैं।
(२) जुदाई **कों** नाहि विचारे।
(३) जो उन**कों** मानै पूजै तिस सैती कौतुहल किया करै।

कौं – तिनि**कौं** तिन पदनि का अर्थज्ञान होने के अर्थि धर्मानुराग वश तें........।

कूं – (१) धन **कूं** चुराय अपना माने।
(२) तातैं ऐसी इच्छा **कूं** छोरि........।
(३) मो**कूं** बताय देना।
(४) सर्व **कूं** स्वादूं।

ओं – कहीं अनिष्टपनों मानि दिलगीर हो है।
विभक्ति का लोप – काष्ठ पाषाण की **मूर्ति** देखि, तहाँ विकाररूप होय अनुराग करें।

करण

करण कारक में 'तैं, करि, स्यौं, सेती' प्रत्यय प्रयोग में लाये गए हैं :–

तैं – (१) मुनि धर्म साधन तैं च्यारि घाति कर्मनि का नाश भये···।
(२) ते तो मोतैं बने नाहीं।
(३) नमो ताहि जातैं भये अरहंतादि महान।
(४) संस्कार के बल तैं तिनका साधन रहे है।
(५) मुख में ग्रास धर्‌या ताकों पवन तैं निगलिए है।
(६) या कारण तैं यहाँ प्रथम मंगल किया।

करि – (१) जा करि सुख उपजै वा दुःख विनशै तिस कार्य का नाम प्रयोजन है।
(२) तिनका संक्लेश परिणाम करि तो तीव्र बंध हो है।
(३) बन्धन करि आत्मा दुखी होय रह्या है।
(४) जीभ करि चाख्या, नासिका करि सूंघ्या।
(५) अरहंतादिकनि करि हो है।
(६) ता करि जीवनि का कल्याण हो है।

स्यौं – (१) सुख स्यौं ग्रन्थ की समाप्ति होइ।
(२) राजा स्यौं मिलिए।
(३) शरीर स्यौं सम्बन्ध न छूटै।

सेती – जो उनकों मानै पूजैं तिस सेती कौतूहल किया कर।

सम्प्रदान

सम्प्रदान कारक में 'के अर्थि' का बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। 'को, कों, ताईं' के प्रयोग भी यत्र-तत्र हुए हैं :–

के अर्थि–(१) नमस्कार अरहंतनि के अर्थि।
(२) श्रीगुरु तो परिणाम सुधारने के अर्थि बाह्य क्रियानि कों उपदेशैं हैं।
(३) या प्रकार याके सम्यग्दर्शन के अर्थि साधन करते भी सम्यग्दर्शन न हो है।

(४) जैन शासन **के अर्थि** ऐसौ सम्प्रदान जानिए ।

(५) भव्यनि **के अर्थि** किया ऐसे सम्प्रदान है ।

को – ताके दिखावने **को** प्रतिबिंब समान है ।

कों – जे कर्म बांधे थे, ते तो भोगे बिना छूटते नाहीं तातैं **मोकों** सहने आए ।

ताई – किसी विशेष ज्ञानी से पूछ कर तिहारे **ताईं** उत्तर दूंगा ।

अपादान

अपादान कारक में 'तैं, करि' का प्रयोग प्राप्त होता है :–

तैं – (१) क्षुधा-तृषा आदि समस्त दोषनि **तैं** मुक्त होय देवाधिदेवपना कों प्राप्त भये ।

(२) ग्रंथही **तैं** भयो ग्रंथ यहु अपादान ।

(३) आन काज छूटने **तैं** भयो यहु काज,
सोई अपादान नाम ऐसे जानत सुजान है ।

करि – सर्व रागद्वेषादि विकार भावनि **करि** रहित होय शांतरस रूप परिणए हैं ।

सम्बन्ध

सम्बन्ध का ज्ञान कराने के लिए 'का, की, के, कैं, को, कौं, कौ, का प्रयोग पाया जाता है :–

का – (१) जिनकैं प्रतिपक्षी कर्मनि **का** नाश भया ।

(२) स्त्री **का** आकाररूप काष्ठ, पाषाण की मूर्ति देखि, तहाँ विकाररूप होय अनुराग करै ।

की – (१) तिन सबनि **की** ऐसी अवस्था हो है ।

(२) काष्ठ, पाषाण **की** मूर्ति देखि, तहाँ विकाररूप होय अनुराग करै ।

(३) ता **की** सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाषामय टीका सुखकार ।

(४) लब्धिसार **की** टीका करी, भाषामय अर्थनि सों भरी ।

के – आत्मा के बाह्य सामग्री का सम्बन्ध बनै है।

कैं – (१) बहुरि जिन कैं प्रतिपक्षी कर्मनिका अभाव भया।

(२) संशयादि होते किछू जो न कीजिए ग्रंथ,
तो छद्मस्थनि कैं मिटै ग्रंथ करन को पंथ।

(३) जौ कषाय उपजाय कैं धरै अर्थ विपरीत,
तौ पापी है आप ही आज्ञा भंग अभीत।

को – करि मंगल करि हौं महाग्रंथ करन को काज।

कौं – (१) या कौं अवगाहें भव्य पावें भवपार हैं।

(२) इनकी संदृष्टिनि कौं लिखिकें स्वरूप।

कौ – (१) समकित उपशम क्षायिक कौ है बखान।

(२) सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका धरचौ है या कौ नाम।

(३) लग्यो है अनादि तैं कलंक कर्ममल कौ।
ताही कौ निमित्त पाय रागादिक भाव भये।
भयो शरीर कौ मिलाप जैसे खल कौ॥

अधिकरण

अधिकरण कारक में 'विषैं' विभक्ति का बहुत प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त 'इ, में' के भी प्रयोग मिलते हैं:–

विषैं – (१) त्रिलोक विषैं जे अकृत्रिम जिनबिंब बिराजे हैं।

(२) पांच ग्रामनि विषैं जावो परन्तु एक दिन विषैं एक ही ग्राम को जावो।

(३) एक भेद विषैं भी एक विषय विषैं ही प्रवृत्ति हो है।

(४) मुनिधर्म विषैं ऐसी कषाय संभवै नाहीं।

(५) लोक विषैं भी स्त्री का अनुरागी स्त्री का चित्र बनावै है।

(६) जैनश्रुत विषैं यहु अधिकरण प्रमानिए।

(७) सो महंत पुरुष शास्त्रनि विषैं ऐसी रचना कैसें करें ?

(८) सूधी भाषा विषैं होय सकै नाहीं।

इ – इ बीचि आवे तो उनकौं भी बुरा कहैं।

में – जामें अपना हित होय ऐसे कार्य कौं कौन न करेगा ?

क्रियापद

'धातु' मूल रूप है, जो किसी भाषा की क्रिया के विभिन्न रूपों में पाया जाता है। जा चुका है, जाता है, जायगा – इत्यादि उदाहरणों में 'जाना' समान तत्त्व है। धातु से काल, पुरुष और लकार से बनने वाले रूप क्रियापद हैं।

आलोच्य साहित्य की भाषा में क्रियापदों की स्थिति स्पष्ट और सरल है। मुख्य रूप से उन्हें तीन वर्गों में रखा जा सकता है :–

(क) प्रथम वर्ग में संस्कृत की साध्यमान क्रियाओं से बनने वाली क्रियाएँ तथा संस्कृत संज्ञापदों से बनने वाली क्रियाएँ आती हैं। संज्ञापदों से बनने वाली क्रियाओं को हम 'नाम धातु' नहीं कह सकते, क्योंकि इनमें व्यक्तिवाचक संज्ञाओं की अपेक्षा भाववाचक संज्ञाओं का प्रयोग होता है। जैसे – 'अनुभव से अनुभवै है', अनुभव करने के अर्थ में एवं 'आदर से आदरै है', आदर करने के अर्थ में प्रयोग हुए हैं।

खड़ी बोली में जहाँ ऐसे संज्ञा शब्दों के साथ 'कर' जोड़ कर संयुक्त क्रिया से काम चलाया जाता है, वहाँ आलोच्य साहित्य की भाषा में मूल शब्दों से ही क्रिया बना ली जाती है।

(ख) इनके अतिरिक्त जो देशी धातुएँ मिलती हैं, वे दूसरे वर्ग में आती हैं। इनमें कई क्रियाएँ ऐसी हैं जिनके मूल स्रोत को संस्कृत धातु की साध्यमान प्रकृति से खोजा जा सकता है, परन्तु ऐसी धातुएँ प्रायः प्राकृत विकास परम्परा से

आई हैं। ये एक तरह से तद्भव रूपों से बनी हुई हैं। जैसे – 'उपजे है', यह रूप 'उत्पद्यते' से आया है। हम इन्हें यहाँ देशी मान कर ही चल रहे हैं। कुछ शुद्ध देशी क्रियाएँ भी पाई जाती हैं। जैसे – निगलिए, खोसे, कुमावे, आदि।

(ग) तीसरे वर्ग में वे प्रेरणार्थक क्रियाएँ आती हैं जो उक्त दोनों प्रकार के क्रियापदों में प्रेरणार्थक 'आ' जोड़ कर ही बना ली गई हैं। जैसे – लिख से लिखाना, पढ़ से पढ़ाना, परिणम से परिणमाना, कर से कराना, आदि। कुछ क्रियाएँ शुद्ध प्रेरणार्थक भी हैं। जैसे – बताना आदि।

इनके अतिरिक्त एक-दो विदेशी क्रियाएँ भी प्राप्त हुई हैं। जैसे – बक्सी (भेंट दी)। कई स्थानों पर एक 'धातु' के एक ही अर्थ में अनेक प्रकार के रूप भी बनाये गए हैं। जैसे – 'कर' धातु से करिए है, कीजिए है, करै है, करौ हौं, आदि वर्तमान काल के रूप मिलते हैं। इसी प्रकार देशी क्रिया 'बनाना' के वर्तमान काल में ही बनाइये है, बनावें है, बनाऊँ हूँ, रूप प्राप्त होते हैं।

संस्कृत की साध्यमान (विकरण) क्रियाओं से बनने वाली कुछ क्रियाएँ सोदाहरण नीचे दी जा रही हैं :–

(१) कर	१. करिहौं	करि मंगल **करिहौं** महाग्रन्थ करन को काज।
	२. करिए है	तहाँ मंगल **करिए है**।
	३. कीजिए है	चिंतवन **कीजिए है**।
	४. करेंगे	सज्जन हास्य नाहीं **करेंगे**।
	५. करै है	ताकौ भी मंद **करै है**।
	६. करौ हौं	टीका करने का उद्यम **करौ हौं**।
	७. कीन्हों	हम कछु **कीन्हों** नाहिं।
	८. कीनौ	ऐसें **कीनौ** बहुरि विचारि।

(२) निरूप	निरूपिए है	स्वरूप **निरूपिए हैं**।
(३) धार	१. धारै है	सामर्थ्य कों **धारें हैं**।
	२. धारौ	ते इस भाषा टीका तें अर्थ **धारौ**।
(४) साध	१. साधै है	जे आत्मस्वरूप कों **साधें हैं**।
	२. सधै है	स्वयमेव ही **सधै है**।
(५) मान	१. मानै है	अपने **मानै है**।
	२. मानेंगे	ऐसें तो **मानेंगे**।
(६) परिणय	परिणए है	शान्त रसरूप **परिणए हैं**।
(७) परिणम	परिणमै है	दिव्यध्वनि रूप **परिणमै है**।
(८) प्रवर्त	प्रवर्त्तै है	परम्परा **प्रवर्त्तै है**।
(९) भास	भासै है	प्रधानता **भासै है**।
(१०) प्रतिभास	प्रतिभासै है	तिनकें स्वभाव ज्ञान विषें **प्रतिभासै है**।
(११) बस	बसै है	वनखंडादि विषें **बसै हैं**।
(१२) स्पर्श	स्पर्शूं	मैं सर्व को **स्पर्शूं**।
(१३) अवलोक	अवलोकै है	सामान्यपनै **अवलोकै है**।
(१४) दीस	दीसै	औरनिकों **दीसै** यहु तपस्वी है।
(१५) लिख	लिखिए है	प्राकृत संस्कृत पद **लिखिए हैं**।
(१६) सुन	१. सुनै है	कैई **सुनें हैं**।
	२. सुनिए है	बहुत कठिनता **सुनिए है**।
	३. सुनूं	सर्व को **सुनूं**।
(१७) विचार	विचारिये है	अब अरहंतनि का स्वरूप **विचारिये है**।
(१८) ध्या	१. ध्याइये है	अब सिद्धनि का स्वरूप **ध्याइये है**।
	२. ध्यावै है	अपने स्वरूप को **ध्यावै है**।
(१९) अवलोक	अवलोकिए है	अब आचार्य उपाध्याय साधुनि का स्वरूप **अवलोकिए है**।

(२०) कह	१. कहिये है	तिन सबनि का नाम आचार्य **कहिये है**।
	२. कहै है	कोई **कहै है**।
	३. कह्या है	सोई **कह्या है**।
(२१) बिराज	बिराजै है	अब सिद्धालय विषैं **बिराजै हैं**।
(२२) बंध	बंधी थी	पूर्वे असाता आदि पाप प्रकृति **बंधी थी**।
(२३) रच	१. रचे	द्रव्यानुयोग के ग्रंथ **रचे**।
	२. रचिए है	मोक्षमार्ग प्रकाशक नाम शास्त्र **रचिए है**।
(२४) वर्त्त	वर्तै है	हमारे बुद्धि अनुसार अभ्यास **वर्तै है**।
(२५) पाल	पालै है	अठाईस मूल गुणनिकों अखण्डित **पालैं हैं**।
(२६) सह	सहै है	बाईस परीषहनि को **सहैं हैं**।
(२७) सम्भव	सम्भवै है	वीतराग विज्ञानभाव **सम्भवै है**।
(२८) पोष	पोषै है	अन्य कार्यनि करि अपनी कषाय **पोषैं हैं**।
(२९) शोभ	शोभै	ताकों वक्तापनों विशेष **शोभै**।
(३०) विचार	१. विचारै है	अंतरंग विषैं बारंबार **विचारै है**।
	२. विचारों हों	टीका करने **विचारों हों**।
(३१) सुन	सुनै है	जिस अर्थ कौं **सुनै हैं**।
(३२) अवधार	अवधारै है	ताकों यथावत् निश्चय जानि **अवधारैं हैं**।
(३३) प्रकाश	प्रकाशै है	सो यह भी ग्रंथ मोक्षमार्ग कों **प्रकाशै है**।
	प्रकाशोंगा	बुद्धि अनुसार अर्थ **प्रकाशोंगा**।

(३४) डर	डरै है	कथादिक सुनैं पापतें **डरैं हैं**।
(३५) दा	१. दीजिए	दान **दीजिए**।
	२. दे है	अधर्मी को दण्ड **दे हैं**।
	३. देते हैं	धर्मोपदेश **देते हैं**।
	४. देते भये	दिव्यध्वनि करि उपदेश **देते भये**।
(३६) सेव	१. सेवे है	उत्तम जीव **सेवे हैं**।
	२. सेवेंगे	विषयादिक **सेवेंगे**।
(३७) घात	घातै	जीव के स्वभाव कों **घातै**।
(३८) चल	चालै	हालै **चालै**।
(३९) जीव	जीवैगा	यह जिवाया **जीवैगा** नाहीं।
(४०) बखान	बखानिए	आन को विधान न **बखानिए**।
(४१) अनुसर	अनुसरै है	जिन महिमा **अनुसरै है**।
(४२) चुनना	चुनै है	तातैं ग्रंथ गुंथने कौं भले वर्ण **चुनै हैं**।
(४३) बध (बढ़ना) बधै		यह शक्ति तो ज्ञानदर्शन बधे **बधै**।
(४४) उपदेश	उपदेशै है	श्रीगुरु तौ परिणाम सुधारने के अर्थि बाह्य क्रियानिकों **उपदेशैं हैं**।
(४५) पूछ	पूछै	इहाँ कोऊ **पूछै** कि…।
(४६) विस्तर	विस्तरे है	नाना विध भाषा रूप होय **विस्तरे हैं**।
(४७) पढ़	पढ़ै है	शास्त्रनिको आप **पढ़ै है**।
(४८) मिल	१. मिलै है	इन्द्रियसुख कों कारणभूत सामग्री **मिलै है**।
	२. मिलावै	सामग्री कौ **मिलावै**।
(४९) धर	१. धर्‍यो	नाम **धर्‍यो** तिन हर्षित होय।
	२. धरैंगे	वीतराग तत्त्वज्ञान कों पोषते अर्थनि कौं **धरैंगे**।

(५०)	प्रगट	प्रगटै है	प्रकाश **प्रगटै है** ।
(५१)	निर्जर	निर्जरै है	एक समयप्रबद्ध मात्र **निर्जरै है** ।
(५२)	निकस	निकसै है	छस्से आठ जीव **निकसै है** ।
(५३)	उथाप	उथापै है	पूजा प्रभावनादि कार्य कौ **उथापै हैं** ।
(५४)	अनुभव	अनुभवै है	परमानन्दकौं **अनुभवै हैं** ।
(५५)	आदर	आदरै है	बारह प्रकारतपनि कौं **आदरै हैं**।
(५६)	विनश	विनशै	जा करि सुख उपजै व दुःख **विनशै** ।
(५७)	अनुसर	अनुसरे है	सभा मांहि ऐसी जिनमहिमा **अनुसरे है** ।
(५८)	स्वाद	स्वादूं	सर्व कौं **स्वादूं** ।

आलोच्य साहित्य में देशी क्रियाओं के निम्नलिखित रूप पाए जाते हैं :-

(१)	चाह	चाहै है	रागद्वेष भाव कौं हेय जान करि दूर किया **चाहै हैं** ।
(२)	उपज	१. उपजै है	ऐसा सन्देह **उपजै है** ।
		२. उपज्यौ	**उपज्यौ** मानुष नाम कहाय ।
(३)	देख	१. देखिए है	ताकै भी दुख **देखिए है** ।
		२. देखूं	सर्व कौं **देखूं** ।
(४)	जान	१. जानै है	प्रत्यक्ष **जानै है** ।
		२. जानूं	सर्व कौं **जानूं** ।
		३. जानने	ते सर्व मुनि साधु संज्ञा के धारक **जानने** ।
(५)	पकर	पकरै	कौऊ शरीर को **पकरै** तौ आत्मा भी पकरचा जाय ।

(६) निगल	निगलिये	मुखमें ग्रास धर्‌या ताकौं पवनतें **निगलिये** ।
(७) चाब	चाबै	जैसे कूकरा हाड़ **चाबै** ।
(८) बनाना	१. बनावै है	गूँथि करि गहना **बनावै है** ।
	२. बनाऊँ हूँ	बुद्धि अनुसारि गूँथि ग्रंथ **बनाऊँ हूँ** ।
	३. बनाये	तिन ग्रंथनि तै अन्य ग्रंथ **बनाये** ।
	४. बनाइये है	तातें यह स्तोक सुगम ग्रंथ **बनाइये है** ।
(९) गूंथ	१. गूंथे है	अंगप्रकीर्णक ग्रंथ **गूंथे हैं** ।
	२. गूंथूं हौं	नाहीं **गूंथूं हौं** ।
(१०) काढ	काढ़िये है	मलादिक पवन तें ही **काढ़िये है** ।
(११) खोस	खोसै	कबहूँ **खोसै** ।
(१२) बनना	बनै है	बाह्य नाना निमित्त **बनै है** ।
(१३) देख	देखिये है	विघ्न का नाश होते **देखिये है** ।
(१४) आना	आवै है	अनेक काल विषैं पूर्व बंधे कर्म एक कालविषैं उदय **आवैं हैं** ।
(१५) रह	रहेंगे	भविष्यकाल में हम सारिखे भी ज्ञानी न **रहेंगे** ।
(१६) कूट	कूटै है	तू कण छोड़ि तुस ही **कूटै है** ।
(१७) फैलना	फैलै है	सहज ही वाकी किरण **फैलै है** ।
(१८) लागना	लागै है	उपयोग विशेष **लागै है** ।
(१९) कुमावना	कुमाए	बिना **कुमाए** भी धन देखिए ।
(२०) मीड़ना	मीड़ै	साँची झूँठी दोऊ वस्तुनि कों **मीड़ै** ।
(२१) हापटा मारना	हापटा मारै है	बहुरि वाको छोड़ि और को ग्रहै, ऐसे **हापटा मारै है** ।

(२२) सेय	सेइए	हित का कर्ता जानि **सेइए**।
(२३) पहिराव	पहिरावै	कबहूँ नवा **पहिरावै**।
(२४) बोल	बोलै	मरमच्छेद गाली प्रदानादि रूप वचन **बोलै**।
(२५) धुनना	धुनै है	सर्व कर्म **धुनै है**।
(२६) मिटना	मिटै	तो छद्मस्थनि कैं **मिटै**, ग्रंथ करन को पंथ।
(२७) लगना	लग्यो है	**लग्यो है** अनादि तै कलंक कर्म मल कौ।
(२८) सूघ	सूँघूँ	सर्व कौं **सूँघूँ**।
(२९) पहिचान	पहिचानिए	भया यहु ग्रंथ सोई कर्म **पहिचानिए**।
(३०) ठिग	ठिगावै	कोई भोला होय सौ ही मोती नाम करि **ठिगावै**।

प्रेरणार्थक क्रियाओं के निम्नलिखित रूप पाए जाते हैं :—

(१) परिणमना	परिणमावै	पुण्य प्रकृति रूप **परिणमावै**।
(२) ठहराना	ठहरावै	वह तपश्चरण को वृथा **ठहरावै**।
(३) अनाना	अनाइये	याकों प्रतीति **अनाइये है**।
(४) अनावना	अनावै	तिस उपाय की ताकौं प्रतीति **अनावै**।
(५) कराना	१. करावै है	संयोग **करावै है**।
	२. करावौ	जैसें बने तैसें शास्त्राभ्यास **करावौ**।
(६) लिखाना	लिखावौ	लिखौ **लिखावौ** बांचौ पढ़ौ।
(७) पढ़ाना	पढ़ावै	अन्य धर्मबुद्धीनिकौं **पढ़ावै**।
(८) द्याव	द्यावने	दुख **द्यावने** की जो इच्छा है सो कषायमय है।

(९) बताना	बताइये है	प्रथम ही कर्मबन्धन को निदान **बताइये है** ।
(१०) दिखाना	१. दिखाइये है	ताका सार्थकपना **दिखाइये है** ।
	२. दिखाया	सो ताकों मिथ्या **दिखाया** ।
(११) मिलना	मिलावै	असत्यार्थ पदनि को जैन शास्त्रनि विषैं **मिलावै** ।
(१२) बनाना	बनावै है	अर ताहीं के अनुसार ग्रंथ **बनावै है** ।
(१३) राख	राखूंगा	मैं तो बहुत सावधानी **राखूंगा** ।
(१४) लजाना	लजावै	जिनधर्म को **लजावै** ।
(१५) भ्रमाना	भ्रमावै है	अपने उपयोग को बहुत नाहीं **भ्रमावै हैं** ।

निम्नलिखित विदेशी क्रियाएँ भी पाई जाती हैं :-

(१) बक्सना (देना)	१. बक्सी	राजा मौकूं **बक्सी** ।
	२. बक्से	पीछें राजा **बक्से** तो ग्रहण करना ।
	३. बक्सै	पीछें ठाकुर **बक्सै** तो ग्रहण कीजै ।

वर्तमानकालिक क्रिया

पंडित टोडरमल ने अपने साहित्य की भाषा में मूल साध्यमान (विकरण) धातु एवं संज्ञापदों के साथ 'है' सहायक क्रिया के रूप जोड़ कर वर्तमान काल के रूप बनाए हैं, किन्तु मूल धातु या संज्ञा शब्द के अन्त में तथा सहायक क्रिया के पहिले 'ऐ, इए, औ, ऊँ' प्रत्यय लगाए हैं। जैसे 'कर' साध्यमान धातु में 'ऐ' प्रत्यय जो. कर और 'है' सहायक क्रिया लगाकर 'करै है' रूप बनाया है, जबकि मूल में संस्कृत 'करोति' से 'करई, करै' रूप बनता है, किन्तु आलोच्य भाषा में मात्र 'करै' कालबोध नहीं देता, अतः इसमें 'है' सहायक क्रिया लगाना

आवश्यक हो जाता है। साध्यमान धातु से यहाँ प्रायः इसी प्रकार क्रियाएँ बनाई गई हैं। कहीं-कहीं सहायक क्रिया के बिना भी काम चलाया गया है। 'ओं, ऊँ' प्रत्ययों का प्रयोग उत्तम पुरुष एकवचन में किया गया है। उक्त रूपों के कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं :-

ऐ -	कर+ऐ+है=करै है	ताको भी मंद **करै है**।
	धार+ए+है=धारै है	सामर्थ्य को **धारै है**।
इए -	लिख+इए+है=लिखिए है	प्राकृत संस्कृत पद **लिखिए है**।
	सुन+इए+है=सुनिए है	बहुत कठिनता **सुनिए है**।
ओं -	कर+ओं+हौं=करों हौं	टीका करने का उद्यम **करों हौं**।
	विचार+ओं+हौं=विचारों हौं	टीका करने **विचारों हौं**।
ऊँ -	गूंथ+ऊँ+हूं=गूंथूं हूं	नाही **गूंथूं हूं**।

निम्न उदाहरणों में सहायक क्रिया का प्रयोग नहीं किया गया है :-

स्वाद+ऊँ=स्वादूं	सर्व कौ **स्वादूं**।
स्पर्श+ऊँ=स्पर्शूं	सर्व कौ **स्पर्शूं**।
बध+ए=बधै	यह शक्ति ज्ञानदर्शन बधे **बधै**।
पूछ+ए=पूछै	यहाँ कोऊ **पूछै**।
विनश+ए=विनशै	जा करि सुख उपजै व दुख **विनशै**।
निगल+इए=निगलिए	मुख में ग्रास धर्या ताकौं पवन तैं **निगलिए**।
चाब+ए=चाबै	जैसे कूकरा हाड़ **चाबै**।
बोल+ए=बोलै	मरमच्छेद गाली प्रदानादि रूप बचन **बोलै**।

भूतकालिक क्रिया

भूतकाल सम्बन्धी रूप 'ई, आ, ए, ऐ, औ' प्रत्यय जोड़ कर बनाये गए हैं। कहीं-कहीं 'थी, था, थे' सहायक क्रिया के रूप भी लगाये गए हैं। सामान्य भूत के रूप 'या, ए, ई, यो' प्रत्यय जोड़ कर

बना लिये गए हैं। कहीं-कहीं 'या' के साथ 'हुआ है' भी लगा दिया गया है और कहीं-कहीं 'या' के स्थान पर 'आ' भी लगा हुआ है। उदाहरण इस प्रकार हैं :–

बंध+ई+थी=बंधी थी	पूर्वे असाता आदि पाप प्रकृति **बंधी थी**।
रच+ए=रचे	द्रव्यानुयोग के ग्रंथ **रचे**।
बक्स+ई=बक्सी	राजा **बक्सी**।

सामान्यभूत सम्बन्धी उदाहरण निम्नानुसार हैं :–

देख+या=देख्या	नृत्य **देख्या**।
सुन+या=सुन्या	राग **सुन्या**।
सूंघ+या=सूंघ्या	फूल **सूंघ्या**।
जान+या=जान्या	स्वाद **जान्या**।
स्पर्श + आ = स्पर्शा	पदार्थ **स्पर्शा**।
ग्रह + या + हुआ = ग्रह्या हुआ	मुखद्वार करि **ग्रह्या हुआ** भोजन······।
उपदेश + या = उपदेश्या	सम्यग्दृष्टि जीव **उपदेश्या** सत्य वचन कों श्रद्धान करें है।
मु (मरना) + ए = मुए	**मुए** पीछें हमारा यश होगा।
भू + ए = भए	बिराजमान **भए**।
भू + ई = भई	प्रारंभी अर पूरण **भई**।
भू + यो = भयो	सफल मनोरथ **भयो** हमारो।
उपज + यो = उपज्यो	**उपज्यो** मानुष नाम कहाय।
धर + यो = धरयो	नाम **धरयो** तिन हर्षित होय, टोडरमल्ल **कहैं** सब कोय।

भविष्यकालिक क्रिया

भविष्यकाल के रूप आलोच्य साहित्य की भाषा में खड़ी बोली के समान 'गा, गे, गी' लगा कर ही बनाये गए हैं, किन्तु 'गा, गे, गी' प्रत्ययों के पूर्व मूल धातु के अन्त में 'ए, एं, ऐं, ओं, औं, ऊँ' का प्रयोग पाया जाता है। इनके अतिरिक्त 'सी, स्यूँ, हो' प्रत्ययों का प्रयोग भी मिलता है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं :–

मान + ए + गे = मानेंगे	ऐसें तो **मानेंगे**।
प्रकाश + ओं + गा = प्रकाशोंगा	बुद्धि अनुसार अर्थ **प्रकाशोंगा**।
सेव + एं + गे = सेवेंगे	विषयादिक **सेवेंगे**।
जीव + ए + गा = जीवेगा	यह जिवाया **जीवेगा** नाहीं।
रह + एं + गे = रहेंगे	भविष्यकाल में हम सरीखे भी ज्ञानी न **रहेंगे**।
कर + ऐं + गे = करेंगे	ऐसें विचारि हास्य न **करेंगे**।
कर + ए + गा = करेगा	ऐसै कार्य कौन न **करेगा**।
लिख + औं + गा = लिखौंगा	उपचार करि मैं **लिखौंगा**।
कर + इ + हौं = करिहौं =	कर मंगल **करिहौं** महाग्रंथ करन को काज।
राख + ऊँ + गा = राखूंगा	मैं तो बहुत सावधानी **राखूंगा**।
हो + स्यूँ = होस्यूँ	एक हूँ बहुत **होस्यूँ**।
हो + सी = होसी	इससे इतना तो **होसी** नरकादिक न **होसी** स्वर्गादिक **होसी** परन्तु मोक्षमार्ग की प्राप्ति तो होय नाहीं।

आज्ञार्थ क्रिया

आज्ञार्थ रूप बनाने के लिए 'ओ, औ, ने, ना, हु' प्रत्यय प्रयोग किये गए हैं :–

(१) लिख + औ = लिखौ (२) लिखाव + औ = लिखावौ (३) बांच + औ = बांचौ (४) पढ़ + औ = पढ़ौ (५) सोध + ओ = सोधो (६) सीख + औ = सीखौ (७) बढ़ + औ = बढ़ौ (८) हर + औ = हरौ (९) विचार + औ = विचारौ (१०) कर + औ = करौ	**लिखौ लिखावौ बांचौ पढ़ौ,** **सोधो सीखौ** रुचिजुत **बढ़ौ** । दुःखदायक रागादिक **हरौ,** अर्थ **विचारौ** धारण **करौ** ।।
जान + ने = जानने	ते सर्व मुनि साधु संज्ञा के धारक **जानने** ।
जान + ना = जानना	तिनकी सुश्रुषा का निषेध किया है, सो **जानना** ।
धार + औ = धारौ	ते इस भाषाटीका तैं अर्थ **धारौ** ।
जान + हु = जानहु	बहुरि लोभी पुरुषनिकों दान देना जो होय, सो शव जो मरचा ताका विमान जो चकडोल ताकी शोभा समान **जानहु** ।

पूर्वकालिक क्रिया

पूर्वकालिक क्रियाएँ साध्यमान (विकरण) धातु संज्ञा शब्दों में 'इ, आय' प्रत्यय जोड़ कर बनाई गई हैं । सर्वाधिक प्रयोग 'इ' के मिलते हैं :–

कर + इ = करि	**करि** मंगल करिहौं महा, ग्रंथ करन को काज। जातैं मिलै समाज सब, पावै निज पद राज॥
त्याग + इ = त्यागि	गृहस्थपनौं **त्यागि** मुनिधर्म अंगीकार करि......।
विचार + इ = विचारि	अपना प्रयोजन **विचारि** अन्यथा प्ररूपण करें तो राग-द्वेष नाम पावै।
बन + आय = बनाय	ते झूठी कल्पित युक्ति **बनाय** विषय-कषायाशक्त पापी जीवनि करि प्रगट किए हैं।
पा + आय = पाय	प्रधान पद कौं **पाय** संघ विषैं प्रधान भये।
गा + आय = गाय	**गाय गाय** भक्ति करैं।
उपज + आय = उपजाय	तिनकों लोभ कषाय **उपजाय** धर्म कार्यनि विषैं लगाइये हैं।
चुर + आय = चुराय	साहू के धनकूं **चुराय** अपना मानै तौ गुमास्ता चोर ही कहिए।

उक्त विवेचन से निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि टीकाओं और मोक्षमार्ग प्रकाशक में प्रयुक्त भाषा परम्परागत तत्कालीन प्रचलित ब्रजभाषा ही है जिसे उन्होंने देशी कहा है, यद्यपि उसमें स्थानीय बोलचाल के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। आध्यात्मिक विद्या का प्रतिपादन होने के कारण इनकी गद्य शैली संस्कृतनिष्ठ है अर्थात् उसमें तत्सम शब्दों के प्रयोग अधिक हैं। उसकी तुलना में पद्य साहित्य की भाषा में तद्भव शब्द अधिक हैं। इसके अतिरिक्त स्थानीय देशी शब्दों का भी प्रयोग है। उर्दू का प्रभाव नगण्य है क्योंकि उसके बहुत कम शब्द मिलते हैं। इस प्रकार उनकी भाषा में देशी ठाठ है। भाववाचक संज्ञाओं में 'आई, त्व, त्य,

ता, पना, पनों, पने' और कहीं-कहीं दुहरे भाववाचक प्रत्ययों का प्रयोग किया है। उत्तम पुरुष एकवचन सर्वनाम में विशेष उल्लेखनीय यह है कि इसमें कर्ता कारक के एकवचन में 'हौं' का प्रयोग नहीं है जबकि ब्रजभाषा में यह प्रयोग मिलता है। इसके स्थान पर आलोच्य भाषा में खड़ी बोली का 'मैं' मिलता है। कर्ता कारक में 'ने' कहीं-कहीं ही मिलता है। आलोच्य भाषा में निम्नलिखित परसर्ग (कारक चिह्न) मिलते हैं :–

कर्ता	– ने
कर्म	– को, कों, कौं, कूँ, ग्रों
करण	– तैं, करि, स्यौं, सेती
सम्प्रदान	– को, कों, ताईं, के अर्थि
अपादान	– तैं, करि
सम्बन्ध	– का, की, कै, कें, को, कौ, कौं
अधिकरण	– विषैं, इ, में

डॉ० उदयनारायण तिवारी ने ब्रजभाषा के परसर्ग (कारक चिह्न) निम्नानुसार दिए हैं[1] :–

कर्तृ	– नें, नैं
कर्म-सम्प्रदान	– कुँ, कूँ, कौं, कें, कें
करण-अपादान	– सों, सूँ, तें, ते
सम्बन्ध	– कौ; तिर्यक (पुल्लिग) के, (स्त्रीलिंग) की
अधिकरण	– में, मैं, पै, लौं

दोनों के तुलनात्मक अध्ययन करने से पता चलता है कि आलोच्य भाषा के कर्म कारक में ब्रजभाषा के अन्य प्रत्ययों के साथ खड़ी बोली का 'को' भी मिलता है। करण और अपादान कारक में 'करि' का प्रयोग मिलता है जो कि ब्रजभाषा में नहीं है। इसी

[1] हि० भा० उ० वि०, २४४

प्रकार सम्प्रदान कारक में 'के अर्थि' और 'ताईं' नये प्रयोग हैं। सम्बन्ध कारक में ब्रजभाषा की अपेक्षा व्यापक प्रयोग हुए हैं, खड़ी बोली का 'का' पाया जाता है जो कि ब्रज में नहीं है। अधिकरण में ब्रजभाषा का 'लौं' और 'पै' न होकर 'विषें' और 'इ' पाया जाता है। प्राय: शेष कारक चिन्ह ब्रजभाषा से मिलते हैं।

पंडितजी की भाषा में खड़ी बोली का भी प्रभाव देखने में आता है। सामान्यभूत में 'चल्या, जान्या, कह्या' रूप आते हैं जो खड़ी बोली के निकट हैं। कुछ प्रयोग तो सीधे खड़ी बोली के भी हैं – जैसे 'स्पर्शा'। शेष प्राय: सभी रूप ब्रजभाषा से मिलते-जुलते हैं। खड़ी बोली से मिलते-जुलते कुछ अंश नीचे दिए जा रहे हैं :–

"बहुरि मैं नृत्य देख्या, राग सुन्या, फूल सूंघ्या, पदार्थ स्पर्शा, स्वाद जान्या तथा मौकौं यहु जानना, इस प्रकार ज्ञेयमिश्रित ज्ञान का अनुभव है, ताकरि विषयनि करि ही प्रधानता भासै है[1]।"

"जैसें बाउलाकौं काहू नै वस्त्र पहराया, वह बाउला तिस वस्त्रकौं अपना अंग जानि आपकूं अर शरीरकौं एक मानै। वह वस्त्र पहरावने वाले कै अधीन है, सो वह कबहू फारै, कबहू जोरै, कबहू खोंसै, कबहू नवा पहरावै इत्यादि चरित्र करै। वह बाउला तिसकौं अपने आधीन मानें, वाकी पराधीन क्रिया होय तातैं महा खेदखिन्न होय[2]।"

उत्तम पुरुष एकवचन क्रिया के रूप निम्नलिखितानुसार पाए जाते हैं, जो खड़ी बोली के अति निकट हैं :–

"मैं सर्व कौं स्पर्शौं, सर्व कौं स्वादौं, सर्व कौं सूंघौं, सर्व कौं देखौं, सर्व कौं सुनौं, सर्व कौं जानौं, सो इच्छा तौ इतनी है अर शक्ति इतनी ही है जो इन्द्रियनि कै सन्मुख भया वर्तमान स्पर्श रस गंध वर्ण शब्द तिनि विषै काहू कौं किंचिन्मात्र ग्रहै[3]।"

[1] मो० मा० प्र०, ६७

[2] वही, ७३

[3] वही, ६८

'होइ' का प्रयोग भी बहुतायत से मिलता है। जैसे – "आयु पूर्ण भए तौ अनेक उपाय करै है, अनेक सहाई **होइ** तौ भी मरन **होइ** ही **होइ**। एक समय मात्र भी न जीवै। अर यावत् आयु पूरी न **होइ** तावत् अनेक कारण मिलौ, सर्वथा मरन न **होइ**। तातैं उपाय किए मरन मिटता नाहीं। बहुरि आयु की स्थिति पूर्ण **होइ** ही **होइ** तातैं मरन भी **होइ** ही **होइ**[1]……।"

'होसी' का प्रयोग भी मिलता है। जैसे – "जो इनिका प्रयोजन आप न बिचारै, तब तौ सूवा का सा ही पढ़ना भया। बहुरि जो इनका प्रयोजन विचारै है, तहाँ पाप कौं बुरा जानना, पुन्य कौं भला जानना, गुणस्थानादिक का स्वरूप जानि लेना, इनका अभ्यास करेंगे, तितना हमारा भला है, इत्यादि प्रयोजन विचारया सो इसतैं इतना तौ होसी– नरकादि न होसी स्वर्गादिक होसी परन्तु मोक्षमार्ग की तौ प्राप्ति होय नाहीं[2]।"

एक ही क्रिया के अनेक प्रकार के रूप देखने में आते हैं। जैसे– 'कर' के वर्तमान काल में ही 'करिये है, कीजिए है, करैं हैं' रूप मिलते हैं।

ब्रजभाषा की मृदुता सर्वत्र विद्यमान है। कठोर वर्णों के स्थान पर मृदु वर्णों का प्रयोग हुआ है। 'ड़' के स्थान पर 'र' का प्रयोग मिलता है। जैसे – लड़िए<लरिए, लड़ने<लरने, छोड़<छोरि, फोड़े<फोरे, पकड़े<पकरे, थोड़ा<थोरा।

इस प्रकार पंडितजी की भाषा तत्कालीन जयपुर राज्य और पार्श्ववर्ती क्षेत्र में प्रयुक्त साहित्यभाषा ब्रज है किन्तु उसमें खड़ी बोली के रूप भी मिलते हैं तथा स्थानीय पुट भी विद्यमान है। उन्होंने अपनी भाषा को जो देशभाषा कहा है वह उक्त अर्थ में ही है, ढूंढाड़ी के अर्थ में नहीं। देशभाषा कह कर उन्होंने प्रान्त का बोध न करा के संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश से भिन्नता का बोध कराया है। उनकी भाषा परिमार्जित, सरल एवं सुबोध है।

---

[1] मो० मा० प्र० ८८

[2] वही, ३४७

सप्तम अध्याय

उपसंहार : उपलब्धियाँ और मूल्यांकन

उपसंहार : उपलब्धियाँ और मूल्यांकन

भारतीय परम्परा में धर्म और दर्शन एक दूसरे से अन्तःसम्बद्ध हैं। उनकी यह अन्तःसम्बद्धता मानव जीवन के अन्तिम लक्ष्य और नैतिक आचरण से सम्बन्ध रखती है। समय के प्रवाह में लौकिक मूल्यों और आध्यात्मिक मूल्यों में उतार-चढ़ाव के साथ अन्तर्विरोध की स्थितियाँ भी निर्मित होती रहती हैं। कभी सूक्ष्म आध्यात्मिक साधनाएँ और विचारधाराएँ वाह्य आडम्बर और धर्म की मिथ्या अभिव्यक्तियों से आच्छन्न हो जाती हैं और कभी आध्यात्मिकता की अतिवादी शक्तियाँ मनुष्य के जीवन को अकर्मण्य बना कर उसकी समूची ऐहिक प्रगति के पथ को अवरुद्ध कर देती हैं। जैन धर्म भी इस प्रक्रिया का अपवाद नहीं।

ईसा की छठी शती के आसपास जिन-परम्परा के श्वेताम्बर सम्प्रदाय में बनवासी व चैत्यवासी भेद हो चुके थे तथा कुछ दिगम्बर साधु भी चैत्यों में रहने लगे थे[1]। प्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य हरिभद्र ने मठवासी साधुओं की प्रवृत्ति की कड़ी आलोचना की है। दिगम्बरों में भी चैत्यवास की प्रवृत्ति द्राविड़संघ की स्थापना के साथ प्रारंभ होती है, जो बाद में मूलसंघ में भी आ जाती है[2]।

पहिले मठवासी साधु नग्न ही रहते थे, बाद में उनमें शिथिलाचार बढ़ा और यहीं से भट्टारकवाद की स्थापना हुई। मुस्लिम राज्यसत्ता ने भी इस प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। आलोच्यकाल तक आते-आते भट्टारकवाद देश के विभिन्न भागों में फैल कर अपनी जड़ें गहरी और मजबूत बना चुका था। यह युग सभी धर्मों में वाह्य शिथिलाचार एवं साम्प्रदायिक भेद-प्रभेद का युग था। सोलहवीं शती में दिगम्बरों में तारणस्वामी और श्वेताम्बरों में लोकाशाह ने क्रमशः तारणपंथ एवं

---

[1] भा० सं० जै० यो०, ४५

[2] जै० सा० इति०, ४८६

स्थानकवासी संप्रदाय की स्थापना की तथा अठारहवीं शती में आचार्य भिक्षु ने स्थानकवासियों में से एक तेरहपंथ अलग बनाया।

सत्रहवीं-अठारहवीं शती में दिगम्बर परम्परा में भट्टारकवाद ठाठ-बाट की चरम सीमा पर था और निवृत्तिवाद पर प्रवृत्तिवाद जम कर आसन जमाए बैठा था, जिसने एक तथाकथित आध्यात्मिक सत्तावाद स्थापित कर लिया था – जिसका वास्तविक अध्यात्मवाद से कोई सम्बन्ध न था। सत्रहवीं शती में इसके विरुद्ध विद्रोह का बीड़ा बनारसीदास ने उठाया। उनके बाद क्रांति की इस परम्परा में पंडित टोडरमल का नाम उल्लेखनीय है। क्रांति की इस धारा का नाम 'अध्यात्मवाद' और 'तेरापंथ' अभिहित किया गया है।

छठी शती से लेकर सोलहवीं शती तक विशाल भारतीय धर्मों के पंथों में भी यथास्थितिवाद और आध्यात्मिक विचारधारा के बीच संघर्ष होते रहे हैं। आचार्य शंकर के वेदान्तवाद और धार्मिक संगठन ने भी इस देश की धार्मिक विचारधाराओं को बहुत दूर तक प्रभावित किया। कुछ आलोचकों के अनुसार उनके मठों की स्थापना का प्रभाव भट्टारक प्रथा पर पड़ा[१]।

यद्यपि बौद्ध धर्म को निःशेष करने का श्रेय आचार्य शंकर को है तथापि परवर्ती काल में बौद्ध साधना ने नई साधनाओं को जन्म दिया। सिद्ध, नाथ, निर्गुण, सगुण आदि आध्यात्मिक विचारधाराओं में यह क्रिया-प्रतिक्रिया स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। जैन धर्म भी इस विशाल आध्यात्मिक उथल-पुथल और वाह्य दबावों का तटस्थ दृष्टा नहीं रह सका, उसमें भी इसकी प्रतिक्रिया हुई।

पंडित टोडरमल का समय विक्रम की अठारहवीं शती का अन्त एवं उन्नीसवीं शती का आरंभिक समय है। यद्यपि यह समय राजनीतिक दृष्टि से मुगलसत्ता के विघटन का युग था तथापि असंगठित हिन्दू राजसत्ता भी इस परिस्थिति का लाभ नहीं उठा सकी। नादिरशाह दुर्रानी और अहमदशाह की दिल्ली लूट के बाद देश में केन्द्रीय शासन के अभाव में

[१] भ० सं०, १७

प्रान्तीय स्वायत्तता का भाव अधिक था । यद्यपि पंडितजी के समकालीन जयपुर रियासत सम्पन्न एवं सुशासित थी तथापि उनके जीवन तथ्यों से यह प्रमाणित है कि वहाँ भी एक समय साम्प्रदायिक तनाव अवश्य रहा[१]।

साहित्यिक दृष्टि से यह युग रीतिकालीन शृंगार युग था। जैन कवि शृंगारमूलक रचनाओं के कड़े आलोचक थे। वे इसी के समानान्तर आध्यात्मिक ग्रंथों के निर्माण में लगे हुए थे। उन्होंने प्राचीन प्राकृत-संस्कृत धर्म ग्रन्थों की गद्य में भाषा वचनिकाएँ लिखीं। यद्यपि यह परम्परा पंडितजी के दो सौ वर्ष पूर्व से मिलती है तथापि उसे पूर्णता पर उन्होंने ही पहुँचाया।

पंडितजी के जीवन का पूरा इतिवृत्त नहीं मिलता है। विभिन्न प्रमाणों के आधार पर इतना निश्चित है कि एकाध अपवाद को छोड़ कर जयपुर ही उनकी कार्यभूमि था। जयपुर के बाहर वे केवल चार-पाँच वर्ष सिंघाणा रहे। पंडितजी ने स्वयं लिखा है :–

देश ढूंढारह माँहि महान, नगर सवाई जयपुर जान।
तामें ताकौ रहनौ घनो, थोरो रहनो औठे बनो[२] ॥

परम्परागत मान्यतानुसार पंडितजी की आयु कुल २७ वर्ष की थी परन्तु उनकी साहित्य साधना, ज्ञान एवं प्राप्त उल्लेखों को देखते हुए मेरा निश्चित मत है कि वे ४७ वर्ष तक जीवित रहे। उनकी मृत्यु तिथि लगभग प्रमाणित है। अतः जन्म तिथि इस हिसाब से विक्रम संवत् १७७६–७७ में होना चाहिए। वे प्रतिभासम्पन्न, मेधावी और अध्ययनशील थे। उस समय आध्यात्मिक चिन्तन के लिए जो अध्ययन मंडलियाँ थीं, उन्हें 'सैली' कहा जाता था। पंडितजी को आध्यात्मिक चिन्तन की प्रेरणा जयपुर की तेरापंथ सैली से मिली थी। बाद में वे इस सैली के संचालक भी बने। 'सैली' का लक्ष्य धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ न्याय, व्याकरण, छंद, अलंकार, आदि की शिक्षा देना भी था।

---

[१] बु० वि०, १५२–१५७

[२] स० चं० प्र०, छंद ४१

प्राकृत, संस्कृत और हिन्दी के अतिरिक्त उन्हें कन्नड़ भाषा का भी ज्ञान था। मूल ग्रंथों को वे कन्नड़ लिपि में पढ़-लिख सकते थे। उनका कार्यक्षेत्र आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान का प्रचार व प्रसार करना था, जिसे वे लेखन-प्रवचन आदि माध्यम से करते थे। उनका सम्पर्क तत्कालीन आध्यात्मिक समाज से प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से दूर-दूर तक था। अनेक जिज्ञासु उनके सम्पर्क में आकर विद्वान् बने। उनसे प्रेरणा पाकर कई विद्वानों ने साहित्य सेवा में अपना जीवन लगाया एवं परवर्ती विद्वानों ने उनका अनुकरण किया। वे विनम्र, पर स्वाभिमानी एवं सरल स्वभावी थे। वे प्रामाणिक महापुरुष थे। तत्कालीन आध्यात्मिक समाज में तत्त्वज्ञान सम्बन्धी प्रकरणों में उनके कथन प्रमाण के तौर पर प्रस्तुत किए जाते थे। वे लोकप्रिय आध्यात्मिक प्रवक्ता थे। गृहस्थ होने पर भी उनकी वृत्ति साधुता की प्रतीक थी।

उन्होंने अपने जीवन में छोटी-बड़ी बारह रचनाएँ लिखीं, जिनका परिमाण करीब एक लाख श्लोक प्रमाण है – पांच हजार पृष्ठ के करीब। इनमें कुछ लोकप्रिय सैद्धान्तिक एवं आध्यात्मिक गन्थों की भाषाटीकाएँ हैं – एक है मौलिक ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय 'मोक्षमार्ग प्रकाशक'। एक है प्रसिद्ध आध्यात्मिक पत्र जिसे 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' के नाम से जाना जाता है। पद्य-रचना है 'गोम्मटसार पूजा' जो कि संस्कृत और हिन्दी छंदों में लिखी गई है। एक वर्णनात्मक कृति 'समोसरण वर्णन' है। टीकाग्रन्थों में कुछ प्राकृत ग्रन्थों की टीकाएँ हैं और कुछ संस्कृत ग्रन्थों की। प्राकृत ग्रन्थों में गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार-क्षपणासार पर लिखी गई टीकाएँ हैं, जिनका नाम है 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका'। सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका में आए विषयों को समझाने के लिए हजारों संदृष्टियाँ (चार्ट्स) बनाईं, जिन्हें स्वतंत्र रूप से अर्थसंदृष्टि अधिकार में रखा गया है। इस अधिकार को भी सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका का परिशिष्ट समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्राकृत भाषा का ग्रन्थ त्रिलोकसार भी है। इसकी टीका 'त्रिलोकसार भाषाटीका' नाम से लिखी है। सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका और त्रिलोकसार भाषाटीका के प्रारम्भ में उनके विषय में सुगमता से प्रवेश करने के लिए विशाल भूमिकाएँ लिखी गई हैं।

संस्कृत टीकाग्रन्थों में 'आत्मानुशासन' एवं 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' की भाषाटीकाएँ हैं। पुरुषार्थसिद्धयुपाय भाषाटीका अपूर्ण रह गई थी जिसे बाद में दीवान रतनचंद की प्रेरणा से पं० दौलतराम कासलीवाल ने वि० सं० १८२७ में पूर्ण किया। मोक्षमार्ग प्रकाशक भी अधूरा रह गया है जिसे पूर्ण करने के लिए कविवर वृंदावनदास बनारस ने अनेक ग्रन्थों के लोकप्रिय टीकाकार पंडित जयचंद छाबड़ा जयपुर से आग्रह किया था किन्तु उन्होंने पं० टोडरमल की बुद्धि की विशालता एवं स्वयं के ज्ञान की तुच्छता प्रदर्शित करते हुए इसके लिये असमर्थता प्रकट की थी। उनका लिखना था कि कोई मूलग्रन्थ हो तो उसकी टीका या व्याख्या तो मैं कर सकता हूँ किन्तु मोक्षमार्ग प्रकाशक जैसी स्वतंत्र मौलिक कृति की रचना टोडरमल जैसे विशाल बुद्धि वाले का ही कार्य है।

उनका पद्य साहित्य यद्यपि सीमित है, फिर भी उसमें जो भी है, उनके कवि-हृदय को समझने के लिए पर्याप्त है।

पंडितजी का सबसे बड़ा प्रदेय यह है कि उन्होंने संस्कृत प्राकृत में निबद्ध आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान को भाषागद्य के माध्यम से व्यक्त किया और तत्त्व-विवेचन में एक नई दृष्टि दी। यह नयापन उनकी क्रान्तिकारी दृष्टि में है। वे तत्त्वज्ञान को केवल परम्परागत मान्यता एवं शास्त्रीय प्रामाणिकता के सन्दर्भ में नहीं देखते। तत्त्वज्ञान उनके लिए एक जीवित चिन्तन प्रक्रिया है जो केवल शास्त्रीय परम्परागत रूढ़ियों का ही खण्डन नहीं करती अपितु समकालीन प्रचलित चिन्तन-रूढ़ियों का भी खण्डन करती है। उनकी मौलिकता यह है कि जिस तत्त्वज्ञान से लोग रूढ़िवाद का समर्थन करते थे, उसी तत्त्वज्ञान से उन्होंने रूढ़िवाद को काटा। उन्होंने समाज की नहीं, तत्त्वज्ञान की चिन्तन-रूढ़ियों का खण्डन किया। उनकी स्थापना है कि कोई भी तत्त्व-चिन्तन तब तक मौलिक नहीं जब तक अपनी तर्क और अनुभूति पर सिद्ध न कर लिया गया हो। कुल और परम्परा से जो तत्त्वज्ञान को स्वीकार लेते हैं, वह भी सम्यक् नहीं है। उनके अनुसार धर्म परम्परा नहीं, स्वपरीक्षित साधना है। उन्होंने निश्चय और व्यवहार पर भी अपना मौलिक भाष्य प्रस्तुत किया है।

वे मुख्य रूप से आध्यात्मिक चिन्तक हैं, परन्तु उनके चिन्तन में तर्क और अनुभूति का सुन्दर समन्वय है। वे विचार का ही नहीं, उसके प्रवर्त्तक और ग्रहणकर्त्ता की योग्यता-अयोग्यता का भी तर्क की कसौटी पर विचार करते हैं। तत्त्वज्ञान के अनुशीलन के लिए उन्होंने कुछ योग्यताएँ आवश्यक मानी हैं। उनके अनुसार मोक्षमार्ग कोई पृथक् नहीं प्रत्युत् आत्मविज्ञान ही है, जिसे वे वीतराग-विज्ञान कहते हैं। जितनी चीजें इस वीतराग-विज्ञान में रुकावट डालती हैं, वे सब मिथ्या हैं। उन्होंने इन मिथ्याभावों के गृहीत और अगृहीत दो भेद किए हैं। गृहीत मिथ्यात्व से उनका तात्पर्य उन विभिन्न धारणाओं और मान्यताओं से है जिन्हें हम कुगुरु आदि के संसर्ग से ग्रहण करते हैं और उन्हें ही वास्तविक मान लेते हैं – चाहे वे पर-मत की हों या अपने मत की। इसके अन्तर्गत उन्होंने उन सारी जैन मान्यताओं का तार्किक विश्लेषण किया है जो छठी शती से लेकर अठारहवीं शती तक जैन तत्त्वज्ञान की अंग मानी जाती रहीं और जिनका विशुद्ध आध्यात्मिक ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। जैन साधना के इस वाह्य आडम्बर – क्रियाकाण्ड, भट्टारकवाद, शिथिलाचार आदि का उन्होंने तलस्पर्शी और विद्वत्तापूर्ण खण्डन किया है।

इनके पूर्व बनारसीदास इसका खण्डन कर चुके थे, परन्तु पंडितजी ने जिस चिंतन, तर्क-वितर्क, शास्त्र-प्रमाण, अनुभव और गहराई से इसका विचार किया है वह ठोस, प्रेरणाप्रद, विश्वसनीय एवं मौलिक है। इस दृष्टि से उन्हें एक ऐसा विशुद्ध आध्यात्मिक चिन्तक कहा जा सकता है जो हिन्दी-जैन-साहित्य के इतिहास में ही नहीं, बल्कि प्राकृत व अपभ्रंश में भी पिछले एक हजार वर्षों में भी नहीं हुआ। धार्मिक आडम्बर और वाह्य क्रियाकाण्ड का विरोध और खण्डन सरहपाद, जोइन्दु, रामसिंह, नामदेव, कबीर, जाम्भोजी, नानक आदि सन्तों और कवियों ने भी किया था। उन्होंने स्वानुभूति पर भी जोर दिया, परन्तु पंडितजी ने जिस विशुद्ध शास्त्रीय और मानवीय दृष्टिकोण से आध्यात्मिक सत्य का विश्लेषण गद्य में किया है, वह मौलिक है। उनकी मूल दृष्टि सन्तुलन बनाये रखने व मूल लक्ष्य न छोड़ने की है।

टीकाकार होते हुए भी पंडितजी ने अपनी गद्य शैली का निर्माण स्वयं किया। उनकी शैली दृष्टान्तयुक्त, प्रश्नोत्तरमयी तथा सुगम है। वे ऐसी शैली को अपनाते हैं जो न तो एकदम शास्त्रीय है और न आध्यात्मिक सिद्धियों और चमत्कारों से बोझिल। उनकी इस शैली का सर्वोत्तम निर्वाह मोक्षमार्ग प्रकाशक में है। उस समय तक हिन्दी में प्रश्नोत्तर रूप में मुख्यतः निम्नलिखित गद्य शैलियाँ प्रचलित थीं :–

(१) गुरु-शिष्य अथवा दो प्रसिद्ध व्यक्तियों के प्रश्नोत्तर या संवाद के रूप में। यह शैली नाथपंथी और कबीरपंथी साहित्य में पाई जाती है। इसमें पंथ-विशेष के प्रतिष्ठापक या गुरु-विशेष के मूल मंतव्यों का स्पष्टीकरण मुख्यतः रहता है।

(२) विभिन्न प्रकार के लोगों द्वारा विभिन्न समय और स्थिति में पूछे गए अनेकविध प्रश्नों के उत्तर के रूप में सम्प्रदाय-प्रवर्तक या गुरु-विशेष द्वारा वाणी कथन। इस शैली का प्रयोग जम्भवाणी में हुआ है।

(३) किसी मत, विचार, कथन, तात्त्विक-रहस्य, चिंतन-बिन्दु विशेष की व्याख्या हेतु लेखक द्वारा स्वयं ही विविध प्रश्न उठाना और अनेक कोणों से स्वयं ही उनका सम्यक्, तर्कसम्मत एवं बोधगम्य रूप में उत्तर देना। इस शैली के एकछत्र सम्राट पंडित टोडरमल हैं। कहने की आवश्यता नहीं कि इसके लिए अनेक शास्त्रों के मंथन और गहन चिंतन की आवश्यकता थी, क्योंकि उस समय तक इस प्रकार के परिष्कृत प्रयोग प्रचलित नहीं थे। ऐसी स्थिति में गद्य को आध्यामिक चिंतन का माध्यम बनाना बहुत ही सूझ-बूझ और श्रम का कार्य था। उनकी शैली में उनके चिंतक का चरित्र और तर्क का स्वभाव स्पष्ट झलकता है। एक आध्यात्मिक लेखक होते हुए भी उनकी गद्य शैली में व्यक्तित्व का प्रक्षेप उनकी ही मौलिक विशेषता है।

दृष्टान्त उनकी शैली में मणि-कांचन योग से चमकते हैं। दृष्टान्तों के प्रयोग में पंडितजी का सूक्ष्म वस्तु-निरीक्षण प्रतिबिंबित है। कभी-कभी तो वे एक ही दृष्टान्त को बहुत आगे तक बढ़ा कर अपना प्रतिपाद्य स्पष्ट करते हैं, और कभी एक ही बात के लिए अनेक दृष्टान्तों का प्रयोग करते हैं।

उनकी शैली की विशेषता यह है कि प्रश्न भी उनके होते हैं और उत्तर भी उनके। पूर्व प्रश्न के समाधान में अगला प्रश्न उभर कर आ जाता है। इस प्रकार विषय का विवेचन विचार के अंतिम बिन्दु तक पहुँचने पर ही वह प्रश्न समाप्त होता है। उनकी शैली की एक मौलिकता यह है कि वे प्रत्यक्ष उपदेश न दे कर अपने पाठक के सामने वस्तुस्थिति का चित्रण और उसका विश्लेषण इस तरह करते हैं कि उसे अभीष्ट निष्कर्ष पर पहुँचना ही पड़ता है। एक चिकित्सक रोग के उपचार में जिस प्रक्रिया को अपनाता है, पंडितजी की गद्य शैली में वह प्रक्रिया देखी जा सकती है। उनकी शैली तर्क-वितर्कमूलक होते हुए भी अनुभूतिमूलक है। कभी-कभी वह मनोवैज्ञानिक तर्कों से भी काम लेते हैं। उनके तर्क में कठमुल्लापन नहीं है। उनकी गद्य शैली में उनका अगाध पाण्डित्य और आस्था सर्वत्र प्रतिबिम्बित है। उनकी प्रश्नोत्तर शैली आत्मीय है क्योंकि उसमें प्रश्नकर्ता और समाधानकर्ता एक ही है। उसमें शास्त्रीय और लौकिक जीवन से सम्बन्धित दोनों प्रकार की समस्याओं का विवेचन है। जीवन के और शास्त्र के प्रत्येक क्षेत्र से उन्होंने अपने उदाहरण चुने हैं। कहीं-कहीं कथा-कहानी भी उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की गई हैं। लोकोक्तियों का भी उसमें प्रयोग है।

हिन्दी के अन्तर्गत सामान्यतः पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी, बिहारी तथा पहाड़ी भाषाओं और इनकी बोलियों की गणना की जाती है[१]। इस प्रकार इनमें से किसी भी बोली या भाषा में लिखा गया गद्य हिन्दी गद्य कहलाएगा। अद्यावधि उपलब्ध सामग्री के आधार पर राजस्थानी[२], मैथिली[३], पुरानी अवधी[४],

---

[१] (क) हिन्दी भाषा का इतिहास : डॉ० धीरेन्द्र वर्मा
(ख) हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास : डॉ० उदयनारायण तिवारी

[२] राजस्थानी भाषा और साहित्य : डॉ० हीरालाल माहेश्वरी, अध्याय १४ तथा उसके अंतर्गत दिये गए विभिन्न संदर्भ

[३] (क) वर्ण रत्नाकर
(ख) हिस्ट्री ऑव मैथिली लिट्रेचर, भाग १, डॉ० जयकान्त मिश्र

[४] उक्तिव्यक्ति प्रकरण

खड़ी बोली[1] और ब्रज भाषा[2] – इन पाँचों के प्राचीन गद्यों के नमूने मिलते हैं। ब्रजभाषा और खड़ी बोली के सम्बन्ध में कुछ बातें विचारणीय हैं। आचार्य भिखारीदास का यह कथन :–

> "ब्रजभाषा सीखिबे कौ ब्रजवास ही न अनुमानौ।
> ऐसे ऐसे कविन की, बानी हू तें जानिये।।"

ब्रजभाषा के प्रचार और प्रसार के संदर्भ में यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और सटीक टिप्पणी है। खड़ी बोली के लिए भी प्रकारान्तर से कुछ ऐसी ही बात कही जा सकती है, किन्तु नितान्त भिन्न संदर्भ में। मुसलमानों के इस देश में निरन्तर आते रहने और अनेक के यहाँ स्थायी रूप से बस जाने के कारण, यहाँ के लोगों और विदेशी आगन्तुकों की भाषाओं का पारस्परिक आदान-प्रदान हुआ। अनेक सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक और भौगोलिक कारणों से दोनों के सम्मिलन से खड़ी बोली को रूप-रेखा मिली। जहाँ-जहाँ मुसलमानों का विशेष प्राबल्य रहा, वहाँ-वहाँ यहाँ के क्षेत्र-विशेष की भाषा के संपर्क और समन्वय से खड़ी बोली अपना रूप सुधारती गई। ऊपर लिखे कारणों से उन्नीसवीं शताब्दी में उसमें एकरूपता आनी आरम्भ हुई, जिसकी पूर्ण परिणति और निखार आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के हाथों हुआ। अनेक ऐसे कवि और लेखक हुए, जिन्होंने यहाँ के क्षेत्र-विशेष की भाषा के साथ खड़ी बोली का; तथा क्षेत्र-विशेष की भाषा के साथ ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। ऐसे भी लेखक हुए जिन्होंने क्षेत्रीय भाषाओं की विशेषताओं के साथ उपर्युक्त प्रकार की खड़ी बोली और ब्रजभाषा –दोनों का मिश्रण

---

[1] खड़ी बोली के लिए द्रष्टव्य :
- (क) कुतुब-शतक और उसकी हिन्दुई : सम्पादक डॉ० माताप्रसाद गुप्त
- (ख) पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य का इतिहास : पं० चन्द्रकान्त बाली
- (ग) खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास : बृजरत्नदास

[2] ब्रजभाषा के लिए द्रष्टव्य :
- (क) सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य : शिवप्रसादसिंह
- (ख) ब्रजभाषा का व्याकरण : डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

किया है। पंडित टोडरमल की भाषा पर अंतिम दोनों बातें विशेष रूप से लागू हैं, यद्यपि उनका झुकाव क्षेत्रीय भाषा – ढूंढाड़ी मिश्रित ब्रजभाषा की ओर विशेष है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पंडितजी की भाषा प्रधान रूप से ढूंढाड़ी मिश्रित ब्रज है जिसमें यत्र-तत्र खड़ी बोली के रूप भी प्रयुक्त हुए हैं।

यों तो खड़ी बोली और ब्रजभाषा के नमूने हिन्दी के आदिकालीन साहित्य में मिलते हैं, किन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी से उनके अपेक्षाकृत प्रौढ़ नमूने प्राप्त होते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किसी अज्ञात लेखक द्वारा रचित ब्रजभाषा का नमूना दिया है, जो इस प्रकार है :–

"श्री गुरु परमानन्द तिनको दंडवत है। हैं कैसे परमानन्द, आनन्द स्वरूप हैं सरीर जिन्हि को, जिन्हिके नित्य गाए तें सरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु है। मैं जु हौं गोरिष सो मछंदरनाथ को दण्डवत करत हौं। हैं कैसे वे मछंदरनाथ ? आतमज्योति निश्चल है अंतहकरन जिनके अरु मूलद्वार तें छह चक्र जिनि नीकी तरह जानें[1]।"

राहुल सांकृत्यायन के अनुसार गोरखपंथ से सम्बन्धित पुस्तकों का काल विक्रम की दशमी शती है और इस प्रकार ब्रजभाषा गद्य के प्राचीनतम लेखक गोरखनाथ माने जा सकते हैं, किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[2] और मिश्रबन्धु[3] ने इन्हें गोरखनाथ की लिखी न मान कर उनके शिष्यों द्वारा लिखी माना है। इसीलिए वे उसका समय १४वीं शती के आसपास मानते हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा तो इसे इसके भी बाद का मानते हैं[4]।

डॉ० हीरालाल माहेश्वरी ने सप्रमाण सिद्ध किया है[5] कि गोरखबानी[6] में संग्रहीत सभी रचनाएँ गोरख रचित नहीं हैं तथा

---

[1] हि० सा० इति०, ४०३

[2] वही, ४०३

[3] मिश्रबन्धु विनोद प्र० भा०, २४२

[4] हि० सा० आ० इति०, १११

[5] जाम्भोजी विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य – भाग १, २ : डॉ० हीरालाल माहेश्वरी

[6] गोरखबानी : संपादक– डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

उनका संकलन विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में नाथ सिद्ध पृथ्वीनाथ के समय किया गया था।

गद्य का एक और नमूना 'शृंगार रस मंडन' में दिखाई देता है, जिसकी भाषा का नमूना निम्नलिखित है :—

"प्रथम की सखी कहतु हैं। जो गोपीजन के चरण विषै सेवक का दासी करि जो इनको प्रेमामृत में डूबि कै इनके मंद हास्य ने जीते हैं। अमृत समूह ता करि निकंज विषै शृंगाररस श्रेष्ठ रसना कीनो सो पूर्ण होत भई[1]।"

आचार्य शुक्ल और मिश्रबन्धु आदि ने 'शृंगार रस मंडन' का लेखक श्री वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथजी को माना है, किन्तु डॉ० प्रेमप्रकाश गौतम ने सिद्ध किया है कि यह पुस्तक विट्ठलनाथजी ने संस्कृत में लिखी थी। इसका ब्रजभाषा में रूपान्तर किसी अन्य परवर्ती विद्वान् (संभवतः १८वीं शती) का है[2]।

इसके बाद वल्लभ सम्प्रदाय के 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' की गद्य रचनाएँ हैं। इनके लेखक के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ लोग इन्हें विट्ठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथ की लिखी मानते हैं, जबकि कुछ लोग उनके किसी शिष्य के द्वारा। इनका समय सत्रहवीं शती का उत्तरार्द्ध है। इनमें कथाएँ बोलचाल की भाषा में लिखी गई हैं और अरबी, फारसी के शब्दों का निःसंकोच प्रयोग है। आचार्य शुक्ल का कहना है कि साहित्यिक निपुणता या चमत्कार की दृष्टि से ये कथाएँ नहीं लिखी गईं। उदाहरण के लिए यह उद्धृत अंश पर्याप्त होगा :—

"सो श्री नंदगाम में रहतो सो खंडन ब्राह्मण शास्त्र पढ्यो हतो। सो जितने पृथ्वी पर मत हैं सबको खंडन करतो; ऐसो वाको नेम हतो। याही तें सब लोगन ने वाको नाम खंडन पार्‌यो हतो। सो एक दिन श्री महाप्रभुजी के सेवक वैष्णवन की मंडली में आयो।

---

[1] हि० सा० इति०, ४०४

[2] हि० ग० वि०, ६०

सो खंडन करन लागो। वैष्णवन ने कही जो तेरो शास्त्रार्थ करनो होवै तो पंडितन के पास जा, हमारी मंडली में तेरे आयबे को काम नहीं। इहाँ खंडन मंडन नहीं है। भगवद्वार्ता को काम है। भगवद्यश सुननो होवै तो इहाँ आवो[१]।"

विक्रम संवत् १६६० में नाभादास द्वारा लिखित अष्टयाम के ब्रजभाषा गद्य का नमूना इस प्रकार है :–

"तब श्री महाराज कुमार प्रथम वसिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भए। फिर ऊपर वृद्ध-समाज तिनको प्रनाम करत भए। फिर श्री महाराजाधिराज जू को जोहार करिकै श्री महेंद्रनाथ दशरथ जू के निकट बैठते भए[२]।"

पूर्व टोडरमल, जैन लेखकों द्वारा रचित गद्य के कतिपय नमूने कालक्रमानुसार निम्नलिखित हैं :–

"यथा कोई जीव मदिरा पीवाइ करि अविकल कीजै छै, सर्वस्व छिनाइ लीजै छै। पद तें भ्रष्ट कीजै छै तथा अनादि ताई लेई करि सर्व जीव राशि राग द्वेष मोह अशुद्ध परिणाम करि मतवालो हुओ छै, तिहि तै ज्ञानावरणादि कर्म को बंध होइ छै[३]।"

उक्त गद्य खण्ड सत्रहवीं शती के पूर्वार्द्ध के प्रसिद्ध विद्वान् पंडित राजमलजी पाण्डे द्वारा रचित समयसार कलश की बालबोधिनी टीका से लिया गया है। इसके करीब पचास वर्ष बाद कविवर पंडित बनारसीदास के द्वारा लिखित 'परमार्थ वचनिका' का गद्य इस प्रकार है :–

"मिथ्यादृष्टी जीव अपनौ स्वरूप नहीं जानतौ तातें पर-स्वरूप विषै मगन होइ करि कार्य मानतु है, ता कार्य करतौ छतौ अशुद्ध व्यवहारी कहिए। सम्यग्दृष्टि अपनौ स्वरूप परोक्ष प्रमान करि अनुभवतु है। परसत्ता परस्वरूपसौं अपनौ कार्य नहीं मानतौ संतौ

[१] हि० सा० इति०, ४०४-४०५

[२] वही, ४०५

[३] हि० सा०, हि० खं०, ४७६-४७७

जोगद्वारकरि अपने स्वरूपकौ ध्यान विचाररूप क्रिया करतु है ता कार्य करतौ मिश्र व्यवहारी कहिए। केवलज्ञानी यथाख्यात चारित्र के बलकरि शुद्धात्मस्वरूप को रमनशील है तातें शुद्ध व्यवहारी कहिए, जोगारूढ़ अवस्था विद्यमान है तातें व्यवहारी नाम कहिए। शुद्ध व्यवहार की सरहद त्रयोदशम गुणस्थानक सौं लेइ करि चतुर्दशम गुणस्थानक पर्यंत जाननी। असिद्धत्व परिगमनत्वात् व्यवहार :।

इन बातनकौ ब्यौरो कहाँ तांई लिखिए, कहाँ तांई कहिए। वचनातीत, इन्द्रियातीत, ज्ञानातीत तातें यह विचार बहुत कहा लिखहिं। जो ग्याता होइगो सो थोरो ही लिख्यौ बहुत करि समुझैगो, जो अग्यानी होइगो सो यह चिट्ठी सुनैगो सही परन्तु समुझैगो नहीं। यह वचनिका यथा का यथा सुमति प्रवांन केवली वचनानुसारी है। जो याहि सुनैगो समुझैगो सरदहैगो ताहि कल्याणकारी है भाग्यप्रमाण[1]।"

इसके बाद विक्रम की अठारवीं शती के उत्तरार्द्ध में रचित पंडित दीपचन्दजी की रचनाएँ आती हैं। उनकी भाषा का नमूना इस प्रकार है :–

"जैसे बानर एक कांकरा के पड़े रोवै तैसे याके देह का एक अंग भी छीजे तो बहुतेरा रोवै। ये मेरे और मैं इनका झूठ ही ऐसे जड़न के सेवन तें सुख मानै। अपनी शिवनगरी का राज्य भूल्या, जो श्रीगुरु के कहे शिवपुरी कौं संभालै, तो वहाँ का आप चेतन राजा अविनाशी राज्य करै[2]।"

उपर्युक्त उद्धरणों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्वतः प्रमाणित है कि पंडित टोडरमल के गद्य की भाषा की प्रकृति और प्रवृत्ति परम्परागत ब्रज की ही है। लेकिन उनकी देन यह है कि उन्होंने इस भाषा को अपने दार्शनिक चिंतन का धारावाहिक माध्यम बना कर उसको पूर्णतः सशक्त किया। जहाँ तक गोरखपंथी गद्य का प्रश्न है, उसकी ऐतिहासिकता और लेखक की प्रामाणिकता संदिग्ध है।

---

[1] अ० क० भूमिका, ७८

[2] हि० सा०, द्वि० खं०, ४९५

विट्ठलनाथजी के 'शृंगार रस मंडन'[1] का गद्य आचार्य शुक्ल के अनुसार अपरिमार्जित और अव्यवस्थित है। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' के गद्य में साहित्यिकता और निपुणता नहीं है। उसमें बोलचाल का सीधा-सादा गद्य है। नाभादास का गद्य भी इतिवृत्तात्मक है। इस काल की आलोचना का निष्कर्ष शुक्लजी के अनुसार यह है कि वैष्णव वार्ताओं में ब्रजभाषा गद्य का जैसा परिष्कृत और सुव्यवस्थित रूप दिखाई पड़ा, वैसा फिर आगे चल कर नहीं। काव्यों की टीकाओं आदि में जो थोड़ा बहुत गद्य देखने में आता है वह बहुत ही अव्यवस्थित और अशक्त था। इस प्रकार आचार्य शुक्ल का अन्तिम निष्कर्ष यह है कि जिस समय गद्य के लिए खड़ी बोली उठ खड़ी हुई उस समय तक गद्य का विकास नहीं हुआ था, उसका कोई साहित्य खड़ा नहीं हुआ था, इसी से खड़ी बोली के ग्रहण में कोई संकोच नहीं हुआ[2]।

आचार्य शुक्ल के उक्त कथन पर विचार करने के पूर्व जैन गद्यों के नमूनों का विश्लेषण कर लेना आवश्यक है।

जैन गद्य में पांडे राजमल की भाषा आदर्श ब्रज गद्य नहीं है। 'है' की जगह 'छै' का प्रयोग उसके राजस्थानी-गुजराती प्रभाव को सूचित करता है। 'पीवाइ करि अविकल कीजै छै' जैसे प्रयोग ब्रज गद्य के लिए अपरिचित हैं। उसे परिमार्जित और शुद्ध नहीं माना जा सकता।

बनारसीदास मुख्य रूप से कवि हैं, गद्य उन्होंने बहुत कम लिखा है। अतः उनके गद्य के आधार पर ब्रजभाषा गद्य सम्बन्धी कोई निश्चित धारणा नहीं बनाई जा सकती। दूसरे उसमें क्रिया में 'ता' वाले रूप जैसे – 'जानतो, करतो, नाहीं जानतो, मानतु है, दिखायतु' आदि अधिक हैं, जो ब्रज की प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं।

दीपचंद शाह का गद्य परिमार्जित गद्य है, परन्तु परिमाण की दृष्टि से अधिक नहीं है।

---

[1] 'शृंगार रस मंडन' के कर्ता और काल के विषय में डॉ० प्रेमप्रकाश गौतम ने असहमति व्यक्त की है। हि० ग० वि०, ६०

[2] हि० सा० इति०, ४०६

अतः उपलब्ध जैन गद्यकारों में पंडित टोडरमल ही ब्रजभाषा गद्य के श्रेष्ठ गद्य-लेखक ठहरते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ब्रजभाषा के जिन गद्यकारों की भाषा के आधार पर अपना उक्त मत व्यक्त किया है, वह आंशिक रूप से ही सत्य माना जा सकता है, क्योंकि 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' में प्रयुक्त परिष्कृत और सुव्यवस्थित ब्रजभाषा गद्य का पूर्ण विकास टोडरमलजी के गद्य में देखा जा सकता है, अतः उसकी परम्परा वहीं समाप्त नहीं हो जाती। टोडरमलजी ने वार्ताकार के रूप में नहीं, दार्शनिक चिंतक के रूप में उसे अपनी अभिव्यक्ति के समर्थ माध्यम के रूप में प्रयोग किया है। अतः आचार्य शुक्ल का यह कथन तर्कसंगत नहीं माना जा सकता कि ब्रज के गद्य के विकास या उसके गद्य-साहित्य के खड़े न होने से खड़ी बोली को गद्य के माध्यम के रूप में निःसंकोच रूप से स्वीकार कर लिया गया। टोडरमल के गद्य के साक्ष्य पर यह कहा जा सकता है कि ब्रजभाषा का गद्य और गद्य-साहित्य दोनों ही पूर्ण रूप से समृद्ध थे, फिर भी खड़ी बोली के गद्य के निर्विरोध स्वीकार किए जाने का कारण ऐतिहासिक था, ब्रजभाषा गद्य और गद्य-साहित्य के होने न होने से उसके विकास का कोई सम्बन्ध नहीं था। हाँ, ब्रजभाषा का गद्य में उतना एकाधिकार नहीं था, जितना कि पद्य में। गद्य में उसका विषय सीमित था। अतः हम आचार्यकल्प पंडित टोडरमल को इस रूप में ब्रजभाषा का एक समर्थ एवं मौलिक गद्यकार स्वीकार कर सकते हैं।

जहाँ तक पंडितजी की भाषा का प्रश्न है, टीकाओं की भाषा परम्परागत और संस्कृतनिष्ठ है। मूल ग्रन्थ की अनुगामी होने से अनुवाद की भाषा को अध्ययन का आधार नहीं बनाया जा सकता। मोक्षमार्ग प्रकाशक की भाषा उनकी प्रतिनिधि भाषा है। 'सिद्धोवर्णः समाम्नायः' कह कर उन्होंने भाषा के विकास के सम्बन्ध में अपने विचार प्रगट नहीं किए। यह उनका विषय भी नहीं था। वह अपनी भाषा को देशभाषा अवश्य कहते हैं, पर वस्तुतः वह उनके समय की प्रचलित साहित्यभाषा थी। वे यह भी कहते हैं कि उनकी देशी

पदरचना 'अपभ्रंश' और 'यथार्थ' को लिये हुए है। कुछ लोग इसे ढूंढाड़ी मानते हैं। मेरे विचार में देशभाषा से उनका आशय तत्कालीन प्रचलित लोकभाषा से है जो साहित्य में विशेषतः प्रयुक्त होती थी। जिस कारण से वह संस्कृत प्राकृत भाषा के विरुद्ध देशीभाषा का प्रयोग करते हैं, उसी कारण से उन्होंने शुद्ध ढूंढाड़ी भाषा का प्रयोग उचित नहीं समझा होगा, क्योंकि वह सीमित क्षेत्र की भाषा हो जाती। अतः उनकी देशभाषा तत्कालीन प्रचलित साहित्य भाषा 'ब्रजभाषा' है।

उनके गद्य की भाषा संस्कृतनिष्ठ है, जबकि पद्य की भाषा में तद्भव और देशी शब्दों का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक है। गद्य में तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव शब्द कम हैं, तद्भव की अपेक्षा देशी शब्द तथा उर्दू के शब्द न के बराबर हैं। भाववाचक संज्ञा में 'पना, पनें, पने, त्य, त्व, ता, आई, त्वपना', आदि रूप मिलते हैं। सर्वनाम और कारक चिन्हों में आलोच्य साहित्य की भाषा ब्रजभाषा के निकट है, जैसा कि तुलनात्मक चित्रों से स्पष्ट है। यही स्थिति अव्ययों व संख्यावाचक शब्दों के सम्बन्ध में भी है। कुछ संख्यावाचक इसके अपवाद हैं, वे खड़ी बोली के समान हैं। एक ही शब्द के कई उच्चारण वाले रूप मिलते हैं, जैसे – अनुसारि>अनुसार, तिनिका>तिनका, किछू>कुछ>कछु धर्म>धर्म्म, इत्यादि। इसका कारण यह भी हो सकता है कि लिपिकारों ने शब्दरूपों में परिवर्तन कर दिया हो।

विभक्ति विनिमय की भी प्रवृत्ति है। सम्प्रदान के लिए 'के अर्थि' का प्रयोग बहुत मिलता है। वस्तुतः यह परसर्ग जैसा प्रयोग है। इसके अतिरिक्त 'कौं, कौ' भी आते हैं परन्तु यह कर्म के भी परसर्ग हैं। 'ताई' का प्रयोग भी मिलता है लेकिन बहुत कम। करण व अपादान में 'करि' का विशिष्ट प्रयोग है। यह विशेष उल्लेखनीय है कि सम्बन्ध के परसर्गों में अपभ्रंश के 'केर और तरण' का प्रयोग कहीं नहीं है। अधिकरण में 'विषैं' का प्रयोग बहुत मिलता है। 'किए' का भी प्रयोग कहीं-कहीं हुआ है।

क्रियापदों में धातु का मूल रूप संस्कृत की साध्यमान धातु से लिया गया है। संस्कृत शब्दों से क्रिया बनाने की प्रवृत्ति बहुत व्यापक है। इसके अतिरिक्त अपभ्रंश परम्परा और देशी धातुओं का भी प्रयोग है तथा वर्तमान व भविष्य में तिगंतक्रिया का प्रयोग है। भविष्य में 'गा, गे, गी' वाले रूप भी हैं। पूर्वकालिक क्रिया में 'करि, आय' का प्रयोग है।

इस प्रकार उनकी भाषा ब्रजभाषा है, लेकिन उसमें संस्कृत का अनुसरण है और देशी भाषा का भी पुट है। साथ ही खड़ी बोली के कतिपय रूप भी मिलते हैं। उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनकी भाषा मजी और निखरी हुई है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पंडित टोडरमल न केवल टीकाकार ही थे बल्कि अध्यात्म के मौलिक विचारक भी थे। उनका यह चिन्तन समाज की तत्कालीन परिस्थितियों और बढ़ते हुए आध्यात्मिक शिथिलाचार के सन्दर्भ में एकदम सटीक है। वे यह अच्छी तरह समझ चुके थे कि बेलाग और मौलिक चिंतन के भार को पद्य के बजाय गद्य ही वहन कर सकता है।

वे विशुद्ध आत्मवादी विचारक थे। उन्होंने उन सभी विचारधाराओं और धारणाओं पर तीखा प्रहार किया जो आध्यात्मिकता के विपरीत थीं। आचार्य कुन्दकुन्द के समय जो विशुद्ध आध्यात्मवादी आन्दोलन की लहर उठी थी, वे उसके अपने युग के सर्वोत्तम व्याख्याकार थे। केवल रचना परिमाण की दृष्टि से पिछले एक हजार वर्षों में हिन्दी साहित्य में इतने विशाल दार्शनिक गद्य का इतना बड़ा रचनाकार नहीं हुआ। आध्यात्मिकता के प्रति उनकी रुचि और निष्ठा का सब से बड़ा प्रमाण यह है कि उन्होंने लगभग एक लाख श्लोक प्रमाण गद्य लिखा।

सादगी, अध्यात्म-चिंतन, लेखन और स्वाभिमान उनके व्यक्तित्व की सब से बड़ी विशेषताएँ हैं। वे अपने युग की जैन आध्यात्मिक विचारधाराओं के ज्योति-स्तम्भ थे। वे एक वृहत्तर ग्रंथ लिखना चाहते थे – 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' उसी का एक अंश है। दुर्भाग्यवश वे

अपनी योजना पूरी नहीं कर सके पर वह जिस रूप में है, उस रूप में जिन-अध्यात्म पर इतना विशद, प्रांजल, सुस्पष्ट और मौलिक गद्य-ग्रन्थ लोकभाषा में दूसरा नहीं मिलता। उनका 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' वस्तुतः आत्मवाद का प्रतिष्ठापक, वीतराग-विज्ञान और आध्यात्मिक चिकित्सा का शास्त्र है। आध्यात्मिकता उनके लिए अनुभूतिमूलक चिंतन है।

लोकभाषा काव्यशैली में 'रामचरित मानस' लिख कर रामभक्ति के अनुभूतिमूलक महाकवि के रूप में महाकवि तुलसीदास ने जो काम किया, वही काम उनसे दो सौ वर्ष बाद गद्य में जिन-अध्यात्म को लेकर पंडित टोडरमल ने किया। इसीलिए उन्हें 'आचार्यकल्प' कहा गया।

आध्यात्मिक लेखक होते हुए भी उनकी शैली दृष्टान्त-प्रति-दृष्टान्त बहुला प्रश्नोत्तर शैली है, जिसमें उनका व्यक्तित्व झलक उठा है। उसमें लोक-जीवन शैली और मनोविज्ञान का सुन्दर समन्वय है। सब से महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रश्नोत्तर शैली में प्राश्निक और उत्तरदाता भी वही हैं, इससे उसमें रोचक आत्मीयता है। मूलभाषा ब्रज होते हुए भी उसमें खड़ी बोली का खड़ापन भी है, साथ ही उसमें स्थानीय रंगत भी है।

आध्यात्मिक चिंतन की ऐसी अनुभूतिमूलक सहज लोकाभिव्यक्ति, वह भी गद्य में, पंडितजी का बहुत बड़ा प्रदेय है। आध्यात्मिक चिंतन की अभिव्यक्ति के लिए गद्य का प्रवर्तक, व्यवहार और निश्चय, तथा प्रवृत्ति और निवृत्ति का सन्तुलनकर्ता, धार्मिक आडम्बर और साम्प्रदायिक कट्टरताओं की तर्क से धज्जियाँ उड़ा देने वाला निस्पृही और आत्मनिष्ठ गद्यकार इसके पूर्व हिन्दी में नहीं हुआ। उनका गद्य लोकाभिव्यक्ति और आत्माभिव्यक्ति का सुन्दर समन्वय है। दार्शनिक चिंतन की ऐसी सहज गद्यात्मक अभिव्यक्ति, जिसमें गद्यकार का व्यक्तित्व खुलकर झलक उठे, इसके पूर्व विरल है।



परिशिष्ट

परिशिष्ट १

जीवन पत्रिका

[साधर्मी भाई ब्र० रायमल]

अथ आगें केताइक स्माचार एकोदेशी जघन्य संयम के धारक रायमल्ल ता करि कहिए है। इह असमानजातीपरजाय उतपन्न भएें तीन वर्ष नौ मास हुएं, हमारै ता समै ग्येय का जानपनां की प्रवर्त्ति निर्मल भई सो आयु पर्यंत धारण शक्ति के बल करि स्मृति रहै। तहां तीन वर्ष नौ मास पहली हम परलोक संबंधी च्यारां गति मांसूं कोई गति विषै अनन्त पुद्गल की परणुवां[1] अर एक हम दोऊ मिलि एक असमानजातीपर्याय कौं प्राप्त भया था, ताका व्यय भया। ताही समैं हम वैं पर्याय संबंधी नोकर्म शरीर कूं छोड़ि कार्माण शरीर सहित इहां मनुष्य भव विषै वैश्य कुल तहां उत्पन्न भया। सो कैसें उत्पन्न भया जैसें भिष्टादिक असुचि स्थानक विषै लटक्रमि आदि जीव उपजै तैसें माता-पिता के रुधिर शुक्र विषै आय उहां नोकर्म जाति की वर्गणा का ग्रहण करि अंतर्मुहूर्त काल पर्यंत छहूं पर्याप्त पूर्ण कीए। ता समै लोही सहित नांक के श्लेष्म का पुंज साहृष्य शरीर का आकार भया। पीछैं अनुक्रम सूं बधता बधता केताक दिनां मैं मांस की बूथी साहृश्य आकार भया।

बहुरि केताइक दिन पीछैं सूक्ष्म आंखि नांक कान मस्तक मुख हाथ पाव इंद्रचां गोचर आवै असा आकार भया। ऐसें ही बधता बधता बिलसति[2] प्रमाण आकार भया। असें नौ मास पर्यंत औंधा मस्तक, ऊपरि पाव, गोडां विषै मस्तक, चांम की कोथली करि आछादित, माता के भिष्टादिक खाय महाकष्ट सहित नाना प्रकार की वेदना कूं भोगवता संता, लघु उदर विषै उदराग्नि मैं भस्मीभूत होता

---

[1] परमाणु, [2] बालिश्त

संता, जहां पौन का संचार नाहीं असी अवस्था नें धरयां नौ मास नर्क सादृस्य दुख करि पूर्ण कीया। पीछें गर्भ बाह्य निकस्या बाल अवस्था के दुख करि फेरि तीन वर्ष पूर्ण कीये। असा तौ तीन वर्ष नौ मास का भावार्थ जाननां।

अर या अवस्था कै जो पूर्वें अवस्था भई ताका जानपनां तौ हमारै नांहीं। तहां पीछला जांनपनां की यादि है सोई कहिए है। तेरा चौदा वर्ष की अवस्था हुएं स्वयमेव विशेष बोध भया। ता करि असा विचार होने लागा जीव का स्वभाव तौ अनादिनिधन अविनासी है। धर्म के प्रभाव करि सुखी होय है। पाप के निमत्त करि दुखी होय है। तातैं धर्म ही का साधन कर घनां पाप का साधन न करनां। परन्तु सक्ति हीन करि वा जथार्थ ज्ञान का अभाव करि उत्कृष्ट धर्म का उपाय बनें नांहीं। सदैव परणांमां की वृत्ति असैं रहै, धर्म भी प्रिय लागै अर ई पर्याय संबंधी कार्य भी प्रिय लागै।

बहुरि सहज ही दयालसुभाव, उदारचित्त, ज्ञान वैराग्न की चाहि, सतसंगति का हेरू, गुणींजन पुरषां का चाहक होत संता इस पर्याय रूप प्रवर्ते। अर मन विषै असा संदेह उपजै – ए सासता एता मनुष्य ऊपजै है, एता तिर्यंच ऊपजै है, एती वनास्पती ऊपजै है, एता नाज सप्त धातु रूई षट्रस मेवा आदि नाना प्रकार की वस्तु उपजै है, सो कहां सूं आवै है अर विनसि कहां जाय है। इसका कर्ता परमेश्वर बतावै है सो तौ परमेश्वर कर्त्ता दीसै नांहीं। ए तौ आपै आप उपजै है, आपै आप विनसै है, ताका स्वरूप कौंन कूं बूझिए।

बहुरि ऊपरनैं कहा कहा रचना है। अधो दिशा नें कहा कहा रचना है, पूर्व आदि च्यारां दिशां नें कहा कहा रचना है, ताका जांनपनां कैसें होइ। याका जांनपनां कोई कै है क नांही, असा संदेह कैसें मिटै।

बहुरि कुटुंबादि बड़े पुरुष तानैं याका स्वरूप कदे पूछैं तब कोई तौ कहै परमेश्वर कर्ता है, कोई कहै कर्म कर्ता है, कई कहै हम तौ क्यूं[1]

---

[1] कुछ

जानैं नाहीं। बहुरि कोई ग्रानमत[1] के गुरु वा ब्राह्मण ताकूं महासिद्ध वा विशेष पंडित जांनि वाकूं पूछें तब कोई तौ कहै ब्रह्मा विष्णु महेश ए तीन देव इस सृष्टि के कर्ता हैं, कोई कहै राम कर्ता है, कोई कहै बड़ां-बड़ी भवानी कर्ता है, कोई कहै नारायण कर्ता है; बेहमाता लेख घाले है, धर्मराय लेखा ले है, जम का डांगी इस प्राणी कूं ले जाय है, वा सिगनाग[2] तीन लोक कूं फण ऊपरैं धारें हैं। ऐसा जुदा जुदा वस्तु का स्वरूप कहै। एकजिभ्या कोई बोलै नांही। सो ए न्याय है – सांचा होय तौ सर्व एक रूप ही कहै। अर जानें क्यूं भी खबरि नांहीं, अर मांहीं मांन कषाय का आशय ता करि चाहै ज्यौं वस्तु का स्वरूप बतावै अर उनमांन सूं प्रतक्ष विरुद्ध; तातें हमारै सदैव या बात की आकुलता रहै, संदेह भाजै नांहीं।

बहुरि कोई कालि ऐसा विचार होइ अठै धर्म साधन करिए पीछें वाका फल तें राजपद पावै, ताके पाप करि फेरि नर्कि जाय तौ असा धर्म करि भी कहा सिधि। असा धर्म करिए जा करि सर्व संसार का दुख सूं निर्वत्ति होइ। असें ही विचार होतें होतें बाईस वर्ष की अवस्था भई।

ता समै साहिपुरा नग्र विषै नीलापति साहूकार का संजोग भया। सो वाकै सुद्ध दिगंबर धर्म का श्रधान, देव गुरु धर्म की प्रतीति, आगम अध्यात्म शास्त्रां का पाठी, षट द्रव्य नव पदार्थ पंचास्ति काय सप्त तत्व गुणस्थान मार्गणा बंध उदय सत्व आदि चरचा का पारगामी, धर्म की मूर्त्ति, ज्ञान का सागर, ताकै तीन पुत्र भी विशेष धर्मबुद्धी और पांच सात दस जनें धर्मबुद्धी; ता सहित सदैव चर्चन[3] होइ, नाना प्रकार के सास्त्रां का अवलोकन होइ। सो हम वाके निमत्त करि सर्वज्ञ वीतराग का मत सत्य जान्यां अर वाके वचनां कै अनुसारि सर्व तत्वां का स्वरूप यथार्थ जान्यां।

थोरे ही दिनां मैं स्वपर का भेद-विज्ञान भया। जैसें सूता आदमी जांगि उठै है तैसें हम अनादि काल के मोह निद्रा करि सोय रहे थे

---

[1] अन्य मत, [2] शेष नाग, [3] चर्चाएँ

सो जिनवांणी के प्रसाद तैं वा नीलापति आदि साधर्मी के निमत्त तैं सम्यग्ज्ञान-दिवस विषै जागि ऊठे। साक्षात ज्ञानानंद स्वरूप, सिद्ध साहृश्य, अपनां जान्यां और सब चरित्र पुद्गल द्रव्य का जान्यां। रागादिक भांवां की निज स्वरूप सूं भिन्नता वा अभिन्नता नीकां जानीं। सो हम विशेष तत्वज्ञान का जांनपनां सहित आतमा हुवा प्रवर्तें। विराग परिणांमां के बल करि तीन प्रकार के सौगंद – सर्व हरित काय, रात्रि का पांणी, विवाह् करने का आयुपर्यंत त्याग कीया। असे होत संते सात वर्ष पर्यंत उहां हीं रहे।

पीछें रांणां का उदैपुर विषै दौलतराम तेरापंथी, जैपुर के जयस्यंघ राजा के उकील[1] तासूं धर्म अर्थि मिले। वाकै संस्कृत का ज्ञान नीकां, बाल अवस्था सूं ले अद्ध अवस्था पर्यंत सदैव सौ पचास शास्त्र का अवलोकन कीया और उहां दौलतराम के निमत्त करि दस बीस साधर्मी वा दस बीस बायां सहित सैली का बणाव बणि रह्या। ताका अवलोकन करि साहिपुरै पाछा आए।

पीछें केताइक दिन रहि **टोडरमल्ल** जैपुर के साहूकार का पुत्र ताकै विशेष ज्ञान जानि वासूं मिलनें कै अर्थि जैपुर नगरि आए। सो इहां वाकूं नहीं पाया अर एक बंसीधर किंचित संजम का धारक विशेष व्याकरणादि जैन मत के शास्त्रां का पाठी, सौ पचास लड़का पुरुष बायां जा नखें[2] व्याकरण छंद अलंकार काव्य चरचा पढ़ै, ता सूं मिले।

पीछें वानें छोडि आगरै गए। उहां स्याहगंज विषै भूधरमल्ल साहूकार व्याकरण का पाठी घणां जैन के शास्त्रां का पारगामी तासूं मिले और सहर विषै एक धर्मपाल सेठ जैनी अग्रवाला व्याकरण का पाठी मोती कटला कै चैतालै शास्त्र का व्याख्यान करै, स्याहगंज के चैतालै भूधरमल्ल शास्त्र का व्याख्यान करै, और सौ दोय सै साधर्मी भाई ता सहित वासूं मिलि फेरि जैपुर पाछा आए।

पीछें सेखावाटी विषै सिंघांणां नग्र तहां टोडरमल्लजी एक दिली का बड़ा साहूकार साधर्मी ताकै समीप कर्म कार्य कै अर्थि

[1] वकील, [2] जिसके पास

वहां रहै, तहां हम गए अर **टोडरमल्लजी सूं मिले, नाना प्रकार के प्रश्न कीए, ताका उत्तर एक गोमट्टसार नामा ग्रंथ की साखि सूं देते भए। ता ग्रंथ की महिमा हम पूर्वे सुणी थी, तासूं विशेष देखी। अर टोडरमल्लजी का ज्ञान की महिमा अद्भुत देखी।**

पीछै उनसूं हम कही – तुम्हारै या ग्रंथ का परचै निर्मल भया है। तुम करि याकी भाषा टीका होय तौ घणां जीवां का कल्याण होइ अर जिन धर्म का उद्योत होइ। अबैही[1] काल के दोष करि जीवां की बुद्धि तुछ रही है, आगै यातैं भी अल्प रहैगी, तातैं असा महान् ग्रंथ पराकृत[2] ताकी मूल गाथा पंद्रह सै १५०० ताकी टीका संस्कृत अठारह हजार १८००० ता विषै अलौकिक चरचा का समूह संदृष्टि वा गणित शास्त्र की आम्नाय संयुक्त लिख्या है, ताका भाव भासनां महा कठिन है। अर याके ज्ञान की प्रवर्त्ति पूर्वे दीर्घ काल पर्यंत तैं लगाय अब तांई नांहीं तौ आगें भी याकी प्रवर्त्ति कैसें रहैगी। तातें तुम या ग्रंथ की टीका करने का उपाय शीघ्र करो, आयु का भरोसा है नांहीं।

पीछें ऐसें हमारे प्रेरकपणां का निमत्त करि इनकै टीका करनें का अनुराग भया। पूर्वें भी याकी टीका करने का इनका मनोर्थ था ही, पीछें हमारे कहनें करि विशेष मनोर्थ भया। तब शुभ दिन मुहूर्त्त विषै टीका करनें का प्रारंभ सिंघांणां नग्र विषै भया। सो वै तौ टीका बणावते गए, हम बांचते गए। बरस तीन मैं गोमट्टसार ग्रंथ की अठतीस हजार ३८०००, लब्धिसार क्षपणासार ग्रंथ की तेरह हजार १३०००, त्रिलोकसार ग्रंथ की चौदह हजार १४०००, सब मिलि च्यारि ग्रंथां की पैंसठि हजार टीका भई।

पीछें सवाई जैपुर आए। तहां गोमटसारादि च्यारौं ग्रंथां कूं सोधि याकी बहोत प्रति उतराई। जहां सैली छी तहां सुधाइ सुधाइ पधराई। असें या ग्रंथां का अवतार भया। **अबार के अनिष्ट काल विषै टोडरमल्लजी कै ज्ञान का क्षयोपसम विशेष भया। ए गोमटसार ग्रंथ का बचनां पांच सै बरस पहली था। ता पीछें बुधि की मंदता करि भाव सहित बचनां रहि गया। बहुरि अबैं फेरि याका उद्योत भया।**

---

[1] वर्तमान में ही [2] प्राकृत

बहुरि वर्तमान काल विषैं इहाँ धर्म का निमित्त है तिसा अन्यत्र नांहीं। वर्तमान काल विषै जिन धर्म की प्रवर्त्ति पाईए है ताका विशेष आगै इंद्रध्वज पूजा का विधान लिखैंगे ता विषै जाननां।

बहुरि काल दोष करि बीचि मैं एक उपद्रव भया सो कहिए है। संवत् १८१७ कै सालि असाढ़ कै महैनें एक स्यामराम ब्राह्मण वाके मत का पक्षी पापमूर्त्ति उत्पन्न भया। राजा माधवस्यंह का गुर ठाहरचा, ता करि राजा नैं वसि कीया। पीछैं जिनधर्म सूं द्रोह करि या नग्र के वा सर्व ढुंढाड़ देश का जिन मंदिर तिनका विघ्न कीया, सर्व कूं वैसनूं करनें का उपाय कीया, ता करि लाखां जीवां नैं महा घोरान घोर दुख हूवा अर महा पाप का बंध भया। सो एह उपद्रव बरस ड्योढ पर्यंत रह्या।

पीछैं फेरि जिनधर्म का अतिशय करि वा पापिष्ट का मांन भंग वा जिन धर्म का उद्योत हूवा। सर्व जिन मंदिरां का फेरि निर्मापण हूवा। आगां बीचि दुगुणां तिगुणां चौगुणां जिनधर्म का प्रभाव प्रवर्त्या। ता समै बीस तीस जिन मंदिर या नग्र विषै अपूर्व बणें। तिन विषै दोय जिन मंदिर तेरापंथ्यां की शैली विषै अद्भुत सोभा नैं लीयां, बड़ा विस्तार नें धरयां बणें। तहां निरंतर हजारां पुरष स्त्री देवलोक की सी नांई चैत्यालै आय महा पुन्य उपारजै, दीर्घ काल का संच्या पाप ताका क्षय करै। सौ पचास भाई पूजा करने वारे पाईए, सौ पचास भाषा शास्त्र बांचनें वारे पाईए, दश बीश संस्कृत शास्त्र बांचनें वारे पाईए, सौ पचास जनें चरचा करनें वारे पाईए और नित्यान[1] का सभा के सास्त्र का व्याख्यान विषै पांच सै सात सैं पुरष तीन सै च्यारि सै स्त्रीजन सब मिलि हजार बारा सैं पुरष स्त्री शास्त्र का श्रवण करै, बीस तीस बायां शास्त्राभ्यास करै, देश देश का प्रश्न इहां आवै तिनका समाधान होय उहां पहुंचै, इत्यादि अद्भुत महिमां चतुर्थकालवत या नग्र विषैं जिनधर्म की प्रवर्त्ति पाइए है।

---

[1] नित्य प्रति की

इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका

[साधर्मी भाई ब्र० रायमल]

आगें माह सुदि १० संवत् १८२१ अठारा सै इकवीस कै सालि इन्द्रध्वज पूजा का स्थापन हूवा। सो देस-देस के साधर्मी बुलांवनें कौं चीठी लिखी ताकी नकल इहां लिखिए है। दिल्ली १, आगरै १, भिंड १, कोरडा जिहांनांबाद १, सिंरोज १, वासोदो १, ईंदौर १, औरगांबाद १, उदैपुर १, नागोर १, बीकानेरि १, जैसलमेरि १, मुलतांन १ पर्यंत चीठी अैसें लिखी सो लिखिए है :—

स्वस्ति दिल्ली आगरा आदि नग्र के समस्त जैनी भायां योग्य सवाई जयपुर थी राइमल्ल केनि श्री शब्द बांचनां। इहाँ आनन्द वर्ते है। थाँ कै आनंद की वृद्धि होऊ। थे धर्म के बडे रोचक हौ।

अप्रंचि इहाँ सवाई जयपुर नग्र विषै इन्द्रध्वज पूजा सहर कै बारैं अधकोस परें मोतीडूंगरी निकटि ठाहरी है। पूजा की रचना का प्रारंभ तौ पोस बदि १ सूं ही होनें लागा है। चौसठि गज का चौड़ा इतनां ही लांबा एक च्यौंतरा बण्या है। ता उपरि तेरह द्वीप की रचना बणी है। ता विषै यथार्थ च्यारि सै अठावन चैत्यालय, अढाई द्वीप के पांच मेरु, नंदीश्वर द्वीप के बावन पर्वत ता उपरि जिनमंदिर बणें हैं। और अढाई द्वीप विषै क्षेत्र कुलाचल नदी पर्वत वन समुद्र ताकी रचना बणी है। कठै ही कल्पवृक्षां का वन ता विषै कठै ही चैत्य वृक्ष, कठै ही सामान्य वृक्षां का वन, कठै ही पुष्प बाड़ी, कठै ही सरोवरी, कठै ही कुंड, कठै ही द्रह, कठै ही द्रह मांहि सूं निकसि समुद्र में प्रवेश करती नदी, ताकी रचना बणी है। कठै ही महलां की पंक्ति, कठै ही ध्वजा के समूह, कठै ही छोटी-छोटी ध्वजा के समूह का निर्मापण हूवा है।

पोस बदि १ सूं लगाय माह सुदि १० ताईं सौ ड्योढ सै कारीगर, रचना करनें वाले सिलावट, चतेरे, दरजी, खराधी, खाती, सुनार आदि लागे हैं। ताकी महिमां कागद मैं लिखी न जाय, देखें ही जानी जाय। सो ए रचना तौ पथर चूना के चौसठि गज का च्यौंतरा ता उपरि बणी है। ताकै च्यारचौं तरफ कपड़ा का सरायचां के कोट बणेंगा। और च्यारचों तरफ च्यारि वीथी कहिए गली, च्यारचौं तरफ के लोग दरवाजा मैं प्रवेश करि आवनें कौं ग्रैसी च्यारां तरफां च्यारि वीथी की रचना समोसरण की वीथी सादृश्य बनैंगी। अर च्यारां तरफां नैं बड़े-बड़े कपड़ा के वा भोडल का कांम के वा चित्रांम का कांम के दरवाजे खड़े होंयगे। ताकै परें च्यारचौं तरफ नौबतिखांनां सरू होंइगे। और च्यौंतरा की आसिपासि सौ दो सै डेरे तंबू कनात खड़े होंयगे। और च्यारि हजार रेजा पाघ राता[1] छीट लौंगी आए हैं। सो निसान धुजा चंदवा बिछायत विषै लागेंगे।

दोय सै रूपा[2] के छत्र झालरी सहित नवा घड़ाए हैं। पांच सात इन्द्र बणेंगे; तिनकै मस्तकै धरनें कूं पांच सात मीनां का काम के मुकट बणेंगे। बीस तीस चालीस गड्डी कागदां की बागायति[3] वा पहोपबाडी[4] कै तांई अनेक प्रकार के रंग की रंगी गई है। और बीस तीस मण रद्दी कागद लागे हैं, ताकी अनेक तरह की रचना बणी है। पांचसै कडी वा सोटि बांस रचना विषै लागेंगे।

और चौसठि गज का च्यौंतरा उपरि आगरा सूं आए एक ही बड़ा डेरा धरती सूं बीस गज ऊंचा इकचोभा दोय सै फरास आदम्यां करि खड़ा होयगा। ताकरि सर्व च्यौंतरा उपरि छाया होयगी। और ता डेरा कै च्यारां तरफां चौईस चौईस द्वार कपड़ा के वा भोडल के झालरी सहित अंत विषै च्यौंतरा की कोर उपरि बणें हैं। च्यारां तरफ के छिनवै द्वार भए। और डेरा कै बीचि ऊपर नैं सोनां के कलस चढें हैं और ताकै आसि पासि घणां दरबार का छोटा बड़ा डेरा खड़ा होयगा। ताकै परें सर्व दिवांन मुतसद्यां का डेरा खड़ा होइगा। ताकै परें जाभ्यां का डेरा खड़ा होयगा।

---

[1] लाल, [2] चांदी, [3] बाग, [4] पुष्प वाटिका

और पोस बदि १ सूं लगाय पाचास रुपयां को रोजीनों कारीगरां को लागै है। सो माह सुदि १० तांई लागैगा। पाछैं सौ रुपयां को रोजीनों फागण बदि ४ तांई लागैगा। और तेरा द्वीप, तेरा समुद्र कै बीचि बीचि छब्बीस कोट बर्णैगा। और दरबार की नाना तरह की जलूसि आई है अथवा आगरैं इन्द्रध्वज पूजा पूर्वै हुई थी ताको सारो मसालो वा जलूसि इहां आया है।

और इहां सर्व सामग्री का निमत्त अन्यत्र जायगा तैं प्रचुर पाईए है तातैं मनोर्थ अनुसारि कार्य सिद्धि होंहिगे।

एह सारी रचना द्वीप नदी कुलाचल पर्वत आदि की घन रूप जाननी। चांवल रोली का मंडल की नांई प्रतर रूप नांहीं जाननी। ए रचना त्रिलोकसार ग्रंथ कै अनुसारि बर्णी है। और पूजा का विधान इंद्रध्वज पूजा का पाठ संस्कृत श्लोक हजार तीन ३००० ताकै अनुसारि होयगा। च्यारां तरफां नै च्यारि बड़ी गंधकुटि ता विषै बड़े बिंब बिराजैंगे। तिनका पूजन च्यारां तरफां युगपत् प्रभति मुखिया साधर्मी करैंगे।

पीछैं च्यारां तरफां जुदा-जुदा महत्‌बुद्धि का धारक मुखिया साधर्मी सास्त्र का व्याख्यांन करैंगे। देस-देस के जात्री आए वा इहां के सर्व मिलि सास्त्र का उपदेश सुर्णैगे। पीछैं आहार लेनां आदि शरीर का साधन करि दोपहर दिन चढें तैं लगाय दोय घडी दिन रहें पर्यंत सुदर्शन मेरू का चैत्यालय सूं लगाय सर्व चैत्यालयां कां पूजन इन्द्रध्वज पूजा अनुसारि होयगा। पीछैं च्यौंतरा की तीन प्रदक्षिणा देय च्यारां तरफां आरती होयगी। पीछैं सर्वरात्रि विषै च्यारां तरफां जागरण होयगा।

और सर्वत्र रूपा सोनां के जरी का वा तबक[1] का वा चित्राम का वा भोडल के काम का समवसरणवत् जगमगाट नैं लियां सोभा बनैंगी और लाखां रूपा सोना के दीप वा फूल पूजन कै ताईं बनै है। और एक कल का रथ बण्या है सो बिनां बलधां बिनां आदम्यां कल के

[1] सोने-चांदी के वरक

फेरनें करि गमन करैगा। ता ऊपरि भी श्रीजी बिराजैंगे और भी अनेक तरह की असवारी बणेंगी। इत्यादि अद्भुत आश्चर्यकारी सोभा जानूंगे।

और सौ दो सै कोस के जैनी भाई सर्व संग बणाय कबीला सुधां आवैंगे। अर इहां जैनी लोगां का समूह है ही अर माह सुदि दसैं कै दिनि लाखों आदमी अनेक हाथी घोरे पालिकी निसाण अनेक नौबति नगारे आखी[1] बाजे सहित बडा उछव सूं इन्द्रां करि करी हुई भक्ति ताकी उपमा नें लीयां ता सहित चैत्यालय सूं श्रीजी रथ उपरि बिराजमान होइ वा हाथी कै हौदै बिराजमान होई सहर कै बारें तेरह द्वीप की रचना विषै जाय बिराजैंगे।

सो फागुण बदि ४ तांईं तहां ही पूजन होयगा वा नित्य शास्त्र का व्याख्यान, तत्वां का निर्णय, पठन-पाठन, जागर्ण आदि शुभ कार्य चौथि तांईं उहां ही होयगा। पीछें श्रीजी चैत्यालय आय बिराजैंगे। तहां पीछें भी देश-देश के जात्री पांच सात दिन पर्यंत और रहैंगे। ईं भांति उछव की महिमां जानोंगे। तातैं अपनें कृतार्थ कै अर्थि सर्व देस वा प्रदेस के जैनी भायां कूं अगाऊ समाचार दे वाकूं साथि ले संग बणाय मुहूर्त्त पहली पांच सात दिन सीघ्र आवोगे। ए उछव फेरि ईं पर्याय मैं देखणां दुर्लभ है।

ए कार्य दरबार की आज्ञा सूँ हूवा है और ए हुकम हुवा है **जो थांकै पूजाजी कै अर्थि जो वस्तु चाहिजे सो ही दरबार सूं ले जावो।** सो ए बात उचित ही है। ए धर्म राजां का चलाया ही चालै है। राजा का सहाय बिनां ऐसा महत परम कल्याणरूप कार्य बणैं नांही। अर दोन्यूँ दिवान रतनचन्द वा बालचन्द या कार्य विषै अग्रेश्वरी है तातैं विशेष प्रभावना होइगी।

और इहां बड़े-बड़े अपूर्व जिन मन्दिर बणें हैं। **सभा विषै गोमट्टसारजी का व्याख्यान होय है। सो बरस दोय तौ हूवा अर बरस दोय तांईं और होइगा। एह व्याख्यान टोडरमल्लजी करै हैं।** और इहां गोमट्टसार ग्रन्थ की हजार अठतीस ३८०००, लब्धिसार

[1] सब प्रकार के

क्षपणासार ग्रन्थ की हजार तेरा १३०००, त्रिलोकसार ग्रन्थ की हजार चौदह १४०००, मोक्षमार्ग प्रकासक ग्रंथ की हजार बीस २००००, बड़ा पद्मपुराण ग्रन्थ की हजार बीस २०००० टीका बणी है ताका दर्शन होयगा और इहां बड़े-बड़े संयमी पंडित पाईए है ताका मिलाप होइगा।

और दोय च्यारि भाई धवल महाधवल जयधवल लेनें कूं दक्षिण देश विषै जैनबद्री नगर वा समुद्र तांई गए थे। वहां जैनबद्री विषै धवलादि सिद्धांन्त ताड़पत्रां विषै लिख्या कर्णाटी लिपि मैं बिराजै हैं ताकी एक लाख सत्तरि हजार मूल गाथा है। ता विषै सत्तरि हजार धवल की, साठि हजार जयधवल की, चालीस हजार महाधवल की है। ताका कोई अधिकार कै अनुसारि गोमटसार लब्धिसार क्षपणासार बणे हैं।

अर उहां के राजा वा रैति[1] सर्व्व जैनी है अर मुनि धर्म्म का उहां भी अभाव है। थोरे से बरस पहली यथार्थ लिंग के धारक मुनि थे, अबें काल के दोष करि नांही। अगल-बगल क्षेत्र घणां ही है, तहां होयगा। और उहां कोड़यां[2] रुपयां के काम के सिंगीबंध[3] मौंघा[4] मोल के पथरनि के वा ऊपरि सर्वत्र तांबा के पत्रा जड़े ताकै तीन कोट ताका पाव कोस का व्यास है, ऐसे सोला बड़ा-बड़ा जिन मन्दिर बिराजै हैं। ता विषै मूंग्या लसण्यां आदि रतन के छोटे जिन बिंब घणां बिराजै है और उहां अष्टांह्निकां का दिनां विषै रथयात्रा का बड़ा उछव होइ है।

और उहां एक अठारा धनुष ऊंचा, एक नौ धनुष ऊंचा, एक तीन धनुष ऊंचा कायोत्सर्ग जुदा जुदा तीन देशां विषै तीन जिन बिंब तिष्टै है। ताकी यात्रा जुरै है। ताका निराभरण पूजन होय है। ताका नाम गोमट स्वामी है। अैसा गोमट्ट स्वामी आदि घणां तीर्थ है।

वा उहां सीतकाल विषै ग्रीष्म रिति[5] की सी उष्णता पाईए है। उहां मुख्यापनें चांवलों का भखन[6] विशेष है। उहां की भाषा विषै इहां के समझैं नाहीं। इहां की भाषा विषै उहां के समझैं नांही।

[1] प्रजा, [2] करोड़ों, [3] सिखरबंध, [4] मंहगे, [5] ऋतु, [6] भोजन

दुभाष्या तैं समझ्या जाय है। सो सुरंगपट्टण पर्यंत तौ इहाँ के देश के थोरे बहुत पाईए है। तातैं इहां की भाषा कूं समझाय दे हैं। अर सुरंगपट्टण के मनुष्य भी वैसें ही बोले हैं। तहां परें इहां का देस के लौग नांहीं। सुरंगपट्टण आदि सूं साथि ले गया जाय हैं। सो ताका अवलोकन करि आए हैं।

इहां सूं हजार बारासै कोस परें जैनबद्री नग्र है। तहां जिन मन्दिर विषै धवलादि सिद्धान्त नें आदि दे और भी पूर्व वा अपूर्व ताड़ पत्रां मैं वा बांस के कागदां मैं कर्णाटी लिपि मैं वा मरहटी लिपि मैं वा गुजराती लिपि मैं वा तिलंग देश की लिपि मैं वा इहां के देश की लिपि मैं लिख्या बऊगाड़ां[1] के भार शास्त्र जैन के सर्व प्रकार के यतियाचार वा श्रावकाचार वा तीन लोक का वर्नन के वा विशेष बारीक चर्चा के वा महंत पुरुषां के कथन का पुराण, वा मंत्र, यंत्र, तंत्र, छंद, अलंकार, काव्य, व्याकरण, न्याय, एकार्थकोस, नाममाला आदि जुदे-जुदे शास्त्र के समूह उहां पाईए हैं। और भी उहां बड़ा-बड़ा सहर पाईए है, ता विषै भी शास्त्रां का समूह तिष्टै है। घणां शास्त्र तो ऐसा है सो बुद्धि की मंदता करि कंही सूं खुलै नांही। सुगम है ते बचै ही है।

उहां के राजा वा रैति भी जैनी है। वा सुरंगपट्टण विषै पचास घर जैनी ब्राह्मणां का है। वका[2] राजा भी थोड़ा सा बरस पहली जैनी था। इहां सूं साढ़ा तीन सै कोस परें नौरंगाबाद है, ताकै परें पांच सै कोश सुरंगपट्टण है, ताकै परें दोय सै कौस जैनबद्री है, ता उरै बीचि बीचि घणां ही बड़ा बड़ा नग्र पाईए है, ता विषै बड़े-बड़े जिन मन्दिर बिराजै है और जैनी लोग के समूह बसै है और जैनबद्री परें च्यार कोश खाड़ी समुद्र है इत्यादि; ताकी अद्भुत वार्ता जानूंगे।

धवलादि सिद्धान्त तौ उहां भी बचै नांही है। दर्शन करनें मात्र ही है। उहां वाकी यात्रा जुरै है अर देव वाका रक्षिक है तातैं इं देश मैं

[1] कई गाड़ियों, [2] वहाँ का

सिद्धांतां का आगमन हूवा नांही। रुपया हजार दोय २०००) पांच सात आदम्यां कै जाबै आबै खरचि पड्या। एक साधर्मी डालूराम की उहां ही पर्याय पूरी हुई। वां सिद्धांतां के रक्षिक देव डालूराम कै स्वप्नैं आए थे। तानैं ऐसा कह्या हे भाई तू यां सिद्धांतां नैं लेनैं कूँ आया है सो ए सिद्धांत वा देश विषैं नांहीं पधारैंगे। उहां म्लेच्छ पुरषां का राज है। तातैं जानें का नांही। बहुरि या बात के उपाय करनें मैं वरस च्यारि पांच लागा। पांच विश्वा औरूं भी उपाय वर्ते है।

औरंगाबाद सूँ सौ कोस परें एक मलयखेड़ा है। तहां भी तीनूँ सिद्धांत बिराजै है। सो नौरंगाबाद विषै बड़े-बड़े लखेस्वरी, विशेष पुन्यवान, जाकी जिहाज चालै, अर जाका नवाब सहायक, ऐसा नेमीदास, अविचलराय, अमृतराय, अमीचन्द, मजलसिराय, हुकमचन्द, कौंलापति आदि सौ पचास पांणीपंथ्या अग्रवाले जैनी साधर्मी उहां है। ताकै मलयखेड़ा सूं सिद्धान्त मंगायबे का उपाय है। सो देखिए ए कार्य बणनैं विषै कठिनता विशेष है, ताकी वार्ता जानूंगे।

और हम मेवाड़ विषै गए थे। सो उहां चीतोड़गढ़ है। ताकै तलैं तलहटी नग्र बसै है। सो उहां तलहटी विषै हवेली निर्मापिण कै अर्थि भौमि खणतैं एक भैंहरा निकस्या। ता विषै सोला बिंब फटिकमणि सादृश्य महा-मनोज्ञ उपमां-रहित पद्म आसण बिराजमान पंद्रा सोला बरस का पुरूष के आकार सादृश्य परिमाण नैं लीयां जिनबिंब नीसरे। ता विषै एक महाराजि बावन के साल का प्रतिष्ठया हरया मौहरा का अतिसय सहित नीसरे। और घणां जिनबिंब वा उपकरण धातु के नीसरे ता विषै सुवर्ण पीतल सादृश्य दीसै ते नीसरे। सो धातु का महाराजि तौ गढ़ उपरि भैहरा विषैं बिराजै है। उपरि किल्लादार वा जोगी रहै है। ताकै हाथि ता भैहरा की कूंची है। और पाषाण के बिंब तलहटी के मन्दिर विषै बिराजै है। घर सौ उहां महाजन लोगां का है। ता विषै आधे जैनी है। आधे महेश्वरी हैं। सो उहां की यात्रा हम करि आए। ताके दरसण का लाभ की महिमा वचन अगोचर है। सो भी वार्त्ता थे जानूंगे।

और कोई थांकै मनविषै प्रश्न होय वा संदेह होय ताकी विशुद्धता होयगी। और गोमट्टसारादि ग्रंथां की अनेक अपूर्व चर्चा जानूंगे। इहां घणां भायां कै गोमटसारादि ग्रंथां का अध्ययन पाईए है। और घणी बायां कै व्याकरण वा गोमटसारजी की चर्चा का ज्ञान पाईए है। विशेष धर्म बुद्धि है ताका मिलाप होयगा। सारां ही विषै भाईजी टोडरमलजी कै ज्ञान का क्षयोपशम अलोकीक है जो गोमट्टसारादि ग्रंथां की संपूर्ण लाख श्लोक टीका बणाई और पांच सात ग्रंथां का टीका बणायवे का उपाय है। सो आयु की अधिकता हुवां बणेंगा। अर धवल महाधवलादि ग्रंथां के खोलवा का उपाय कीया वा उहां दक्षिण देस सूं पांच सात और ग्रंथ ताड़पत्रां विषै कर्णाटी लिपि मैं लिख्या इहां पधारे हैं, ताकूं मलजी बांचं है, वाका यथार्थ व्याख्यान करैं है वा कर्णाटी लिपि मैं लिखि ले हैं। इत्यादि न्याय व्याकरण गणित छंद अलंकार का याकै ज्ञान पाईए है। ऐसे पुरुष महंत बुद्धि का धारक ईं काल विषै होनां दुर्लभ है। तातैं यांसूं मिलें सर्व संदेह दूरि होइ है। घणी लिखबा करि कहा, आपणां हेत का वांछीक पुरुष सीघ्र आय यासूं मिलाप करो। और भी देश देश के साधर्मी भाई आवेंगे तासूं मिलाप होयगा।

और इहां दश बारा लेखक सदैव सासते जिनवाणी लिखते हैं वा सोधते हैं। और एक ब्राह्मण पंडित महैंनदार चाकर राख्या है सो बीस तीस लड़के बालकन कूं न्याय व्याकरण गणित शास्त्र पढावं है। और सौ पचास भाई वा बायां चर्चा व्याकरण का अध्ययन करैं हैं। नित्य सौ पचास जायगा जिन पूजन होइ है। इत्यादि इहां जिन धर्म की विशेष महिमा जाननी।

और ईं नग्र विषै सात विसन का अभाव है। भावार्थ ईं नग्र विषै कलाल कसाई वेश्या न पाईए है। अर जीव हिंसा की भी मनाई है। राजा का नाम माधवसिंह है। ताके राज विषै वर्त्तमान एते कुविसन दरबार की आज्ञातैं न पाईए है। अर जैनी लोग का समूह बसै है। दरबार के मुतसद्दी सर्व जैनी है और साहूकार लोग सर्व जैनी है। जद्यपि और भी है परि गौणता रूप है, मुख्यता रूप नांही। छह सात

वा आठ दस हजार जैनी महाजनां का घर पाईए है। असा जैनी लोगां का समूह और नग्र विषै नांही। और इहां के देश विषै सर्वत्र मुख्यपणें श्रावगी लोग बसै है। तातैं एह नग्र वा देश बहोत निर्मल पवित्र है। तातैं धर्मात्मा पुरुष बसने का स्थानक है। अबार तौ ए साक्षात धर्मपुरी है।

बहुरि देखो ए प्राणी कर्म कार्य कै अर्थि तौ समुद्र पर्यंत जाय है वा विवाहादिक के कार्य विषै भी सौ पचास कोस जाय है, अर मनमान्या द्रव्यादिक खरचै है। ताका फल तौ नर्क निगोदादि है। ता कार्य विषै तौ या जीव के असी आसक्तता पाईए है, सो ए तौ वासना सर्व जीवनि कै बिना सिखाई हुई स्वयमेव बणि रही है; परंतु धर्म की लगनि कोई सत्पुरुषां कै ही पाईए है।

विषय-कार्य के पोषने वाले तौ पैंड-पैंड विषै देखिए है, परमार्थ कार्य के उपदेशक वा रोचक महादुर्लभ बिरले ठिकाणैं कोई काल विषै पाईए है। तातैं याकी प्रापती महाभाग्य कै उदै काललब्धि कै अनुसारि होय है। यह मनुष्य पर्याय जावक खिनभंगर[1] है, ता विषै भी अबार के काल मैं जावक अल्प बीजुरी का चमत्कारवत थिति है। ताकै विषै नफा टोटा बहुत है। एकां तरफ नैं तौ विषय कषाय का फल नरकादिक अनंत संसार का दुख है। एकां तरफ नैं सुभ सुद्ध धर्म का फल स्वर्ग मोक्ष है। थोड़ा सा परणांमां का विशेष करि कार्य विषै एता तफावत[2] परै है। सर्व बात विषै एह न्याय है। बीज तौ सर्व का तुछ[3] ही होइ है अर फल वाका अपरंपार लागै है, तातैं ज्ञानी विचक्षण पुरषन कै एक धर्म ही उपादेय है।

अनंतानंत सागर पर्यंत काल एकेन्द्री विषै वितीत करै है तब एक पर्याय त्रस का पावै है। असा त्रस पर्याय का पायबा दुर्लभ है तौ मनुक्ष पर्याय पायबा की कहा बात। ता विषै भी उच्च कुल, पूरी आयु, इन्द्री प्रबल, निरोग शरीर, आजीवका की थिरता, सुभ क्षेत्र, सुभ काल, जिनधर्म का अनुराग, ज्ञान का विशेष क्षयोपशम, परणांमां की विशुद्धता, ए अनुक्रम करि दुर्लभ सूं दुर्लभ ए जीव पावै है। कैसै दुर्लभ

[1] क्षणभंगुर, [2] अंतर, [3] छोटा

पावै है ? अबार असा संयोग मिल्या है सो पूर्वं अनादि काल का नहीं मिल्या होगा। जै असा संजोग मिल्या होय तौ फेरि संसार विषै क्यां नें रहै ? जिनधर्म का प्रताप ऐसा नांहीं क सांची प्रतीति आयां फेरि संसार के दुख कूं पावै। तातैं थे बुद्धिमान हौ। जामैं अपनां हित सधै सो करनां। धर्म के अर्थी पुरुष नें तौ थोड़ा सा ही उपदेश घणां होइ परणमै है। घणी कहबा करि कहा।

और ईं चीठी की नकल दश बीस और चीठी उतराय उहां के आसि पासि जहां जैनी लोग बसते होइ तहां भेजनी। ए चीठी सर्व जैनी भायां कूं एकठे करि ताकै बीचि बांचणी। ताकूं याका रहस्य सर्व कूं समझाय दैना। चीठी की पहोंचि सिताबी[१] पाछी लिखनीं। लिख्यां बिनां चीठी पहोंची वा न पहौंची की खबरि पड़ै नांहीं। आबा न आबा की खबरि पड़ै नांही। मिती माह बदि ६ संवत् १८२१ का।



[१] तुरंत

परिशिष्ट २

संदर्भ ग्रन्थ-सूची

१. **अध्यात्म सन्देश** (हिन्दी) : कानजी स्वामी; ब्र० हरिलाल; आचार्यकल्प पंडित टोडरमल ग्रंथमाला, ए-४ बापूनगर, जयपुर

२. **अध्यात्म सन्देश** (गुजराती) : कानजी स्वामी; ब्र० हरिलाल; श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़

३. **अर्द्ध कथानक** : बनारसीदास; नाथूराम प्रेमी; संशोधित साहित्यमाला, ठाकुरद्वार, बम्बई-२, सन् १९५७ ई०

४. **अलवर क्षेत्र का हिन्दी साहित्य [वि० सं० १७०० से २०००]** : (अप्रकाशित शोधप्रबन्ध, १९७२ ई०) डॉ० ओमप्रकाश चौधरी; राजस्थान विश्वविद्यालय पुस्तकालय, जयपुर

५. **अनागार धर्मामृत** : पंडित आशाधर; जैन ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, सन् १९१९ ई०

६. **आत्मानुशासन** : आचार्य गुणभद्र; डॉ० हीरालाल जैन, प्रो० आ० ने० उपाध्ये, पं० बालचंद सि० शास्त्री; जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, वि० सं० २०१८

७. **आत्मानुशासन** : आचार्य गुणभद्र; पंडित बंशीधर शास्त्री; जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, गिरगांव, बम्बई

८. **आत्मानुशासन भाषाटीका** : पंडित टोडरमल; इन्द्रलाल शास्त्री, जयपुर, वी० नि० सं० २४८२

९. **आत्मानुशासन** (अंग्रेजी अनुवाद): जे. एल. जैनी; बी. कश्मीरीलाल जैन, सब्जी मण्डी, दिल्ली, सन् १९५९ ई०

१०. **आप्तमीमांसा** : आचार्य समन्तभद्र; अनन्तकीर्ति ग्रंथमाला, बम्बई

११. **उक्तिव्यक्ति प्रकरण** : सम्पादक – मुनि जिनविजय; सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्या भवन, बंबई, वि० सं० २०१०

१२. **उत्तरी भारत की संत परम्परा** : परशुराम चतुर्वेदी; भारतीय भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, वि० सं० २०२१

१३. **एनल्स एण्ड एन्टीक्विटीज आव राजस्थान** : जेम्स टॉड; रोटलेज एण्ड केगनपोल लिमिटेड, ६८/७४ कार्टर लेन, ई. सी. ४, लंदन

१४. **करीमुललुगात** (उर्दू शब्दकोष): प्रो० मौलवी करीमुद्दीन, सन् १८५६ ई०

१५. **कविवर बनारसीदास – जीवनी और कृतित्व** : डॉ० रवीन्द्रकुमार जैन; भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

१६. **काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध** : श्री जयशंकर 'प्रसाद'; भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, वि० सं० २००५

१७. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** : स्वामी कार्तिकेय; श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास

१८. **कुतुब शतक और उसकी हिन्दुई** : सम्पादक – डॉ० माताप्रसाद गुप्त; भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड वाराणसी–५, सन् १९६७ ई०

१९. **खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास** : ब्रजरत्नदास; हिन्दी साहित्य कुटीर, हाथी गली, बनारस, वि० सं० २००९

२०. **गोम्मटसार पूजा** : पंडित टोडरमल; भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता

२१. **गोम्मटसार पूजा** : पं० टोडरमल; कुन्थुसागर स्वाध्याय सदन, खुरई

२२. **गोम्मटसार जीवकाण्ड** (बालबोधिनी टीका) : पंडित खूबचंद जैन; श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास

२३. **गोम्मटसार जीवकाण्ड** (अंग्रेजी अनुवाद) : जे० एल० जैनी; पं० अजितप्रसाद जैन, दी सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, अजिताश्रम, लखनऊ, सन् १९२७ ई०

२४. **गोम्मटसार कर्मकाण्ड** (संक्षिप्त हिन्दी टीका): पं० मनोहरलाल शास्त्री; श्रीमद् राजचद्र आश्रम, अगास

२५. **गोम्मटसार कर्मकाण्ड** (अंग्रेजी अनुवाद) : ब्र० शीतलप्रसाद तथा बाबू अजितप्रसाद

२६. **गोम्मटसार** (मराठी अनुवाद) : गांधी नेमचंद बालचंद

२७. **गोम्मटसार जीवकाण्ड भाषाटीका** (सम्यग्ज्ञानचद्रिका) : पं० टोडरमल; जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता

२८. **गोम्मटसार कर्मकाण्ड भाषाटीका** (सम्यग्ज्ञानचंद्रिका) : पं० टोडरमल; जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता

२९. **गोरख बानी** : सम्पादक–डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल; हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, वि० सं० २००३

३०. **चरचा संग्रह** (ह० लि०) : ब्र० रायमल; श्री दि० जैन मन्दिर अलीगंज, जिला ऐटा (उ० प्र०)

३१. **चर्चा समाधान** (ह० लि०) : भूधरदास: श्री दि० जैन बड़ा मंदिर तेरापंथियान, जयपुर

३२. **जाम्भोजी विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य** [जम्भवाणी के पाठ सम्पादन सहित], भाग १, २ : डॉ० हीरालाल माहेश्वरी; बी. आर. पब्लिकेशन्स, कलकत्ता–६, सन् १९७० ई०

३३. **जीवन और साहित्य** : डॉ० उदयभानुसिंह, दिल्ली

३४. **जैन शतक** : भूधरदास; जैन ग्रंथ प्रचारक पुस्तकालय, देवबन्द

३५. **जैनतत्त्व मीमांसा** : पं० फूलचंद सिद्धान्तशास्त्री; अशोक प्रकाशन मंदिर, २/३८, भदैनीघाट, वाराणसी

३६. **जैनेन्द्र सिद्धान्त शब्दकोश**, भाग १, २ : क्षुल्लक जैनेन्द्र वर्णी; भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

३७. **जैन निबंध रत्नावली** : पंडित मिलापचंद कटारिया एवं पंडित रतनलाल कटारिया; वीर शासन संघ, कलकत्ता

३८. **जैन साहित्य और इतिहास** : नाथूराम प्रेमी; संशोधित साहित्यमाला, ठाकुरद्वार, बम्बई–२, सन् १९५६ ई०

३९. **जैन सम्प्रदाय शिक्षा** : श्रीपालचंद; निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

४०. **जैन शोध और समीक्षा** : डॉ० प्रेमसागर जैन; दि० जैन अ० क्षेत्र श्री महावीरजी, महावीर भवन, जयपुर

४१. **तत्त्वार्थसूत्र** : आचार्य उमास्वामी; दि० जैन पुस्तकालय, सूरत

४२. **तत्त्वार्थसूत्र-श्रुतसागरी टीका** : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९४९ ई०

४३. **तीन लोक मंडलपूजा** (ह० लि०) : कविवर टेकचंद; श्री दि० जैन मन्दिर, माधोराजपुरा (राज०)

४४. **तेरहपंथ खंडन** (ह०लि०) : पंडित पन्नालाल; श्री दि० जैन बड़ा मदिर तेरापंथियान, जयपुर

४५. **दयाबाई की बानी** : बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद, सन् १९६७ ई०

४६. **द्रव्य संग्रह** : आचार्य नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती; श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

४७. **धर्म सरोवर** (ह० लि०) : जोधराज गोदीका; बाबा दुलीचंद का शास्त्र भंडार, श्री दि० जैन बड़ा मंदिर तेरापंथियान, जयपुर

४८. **धर्म संग्रह श्रावकाचार** (ह० लि०) : पंडित मेधावी; श्री दि० जैन मंदिर लूणकरणजी पाण्ड्या, जयपुर

४६. **न्यायदीपिका** : धर्मभूषण यति, जैनग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

५०. **न्यू हिस्ट्री ग्राव दि मराठाज** : सर जी. एस. देसाई; के. वी. धवल, फोनिक्स पब्लिकेशन्स, चीरा बाजार, बम्बई

५१. **नाटक समयसार** : कविवर बनारसीदास; श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

५२. **निरंजनी सम्प्रदाय और संत तुरसीदास निरंजनी** : डॉ० भगीरथ मिश्र; लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, सन् १९६४ ई०

५३. **परमात्मप्रकाश और योगसार** : आचार्य योगीन्दुदेव; श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, वि० सं० २०१७

५४. **पदसंग्रह** (ह० लि०) : पोथीखाना, राजमहल, जयपुर

५५. **प्रवचनसार भाषा** (ह० लि०) : जोधराज गोदीका, श्री दि० जैन मंदिर छोटा दीवानजी, जयपुर

५६. **प्रवचनसार** : आचार्य कुन्दकुन्द; श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

५७. **पंचास्तिकाय संग्रह** : आचार्य कुन्दकुन्द; श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

५८. **पंचास्तिकाय समयव्याख्या टीका** : आचार्य कुन्दकुन्द; श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

५९. **पंचाध्यायी** : पांडे राजमल्ल; श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, भदैनी घाट, वाराणसी

६०. **पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य का इतिहास** : पं० चंद्रकान्तबाली; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जवाहर नगर, दिल्ली, सन् १९६२ ई०

६१. **पंचामृत** : सम्पादक – स्वामी मंगलदास; श्री स्वामी लक्ष्मीराम ट्रस्ट, दादूद्वारा, मोती डूंगरी, जयपुर, सन् १९४८ ई०

६२. **पुरातन जैन वाक्य सूची** : जुगलकिशोर मुख्तार; वीर सेवा मंदिर, सरसावा, जिला सहारनपुर, सन् १९५० ई०

६३. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषाटीका** : पंडित टोडरमल तथा पं० दौलतराम कासलीवाल; मुंशी मोतीलाल शाह, किशनपोल बाजार, जयपुर

६४. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** : आचार्य अमृतचंद्र; नाथूराम प्रेमी, श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास, वि. सं. २०१७

६५. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** : आचार्य अमृतचंद्र; उग्रसेन जैन; श्री दि० जैन मंदिर, सराय मुहल्ला, रोहतक

६६. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** : आचार्य अमृतचंद्र; पं० मक्खनलाल शास्त्री; भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता

६७. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** : आचार्य अमृतचंद्र; श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

६८. **बखनाजी की वाणी** : स्वामी मंगलदास; दादू महाविद्यालय, जयपुर, सन् १९३७ ई०

६९. **ब्रजभाषा व्याकरण** : डॉ० धीरेन्द्र वर्मा; रामनारायणलाल, इलाहाबाद, सन् १९५४ ई०

७०. **ब्रह्म विलास** : भैया भगवतीदास, जैन ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बंबई, सन् १९२६ ई०

७१. **बृन्दावन विलास** : बृन्दावनदास; नाथूराम प्रेमी; जैन हितैषी कार्यालय, बम्बई

७२. **बनारसी विलास** : बनारसीदास; नन्नूलाल स्मारक ग्रंथमाला, न्यू कालोनी, जयपुर

७३. **बुद्धि विलास** : बखतराम शाह; रा० प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

७४. **भट्टारक सम्प्रदाय** : विद्याधर जोहरापुरकर; जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, वि० सं० २०१४

७५. **भक्ति सागर** : चरणदासजी; डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, तेजकुमार प्रेस बुक डिपो, लखनऊ, सन् १९६६ ई०

७६. **भक्ति विलास** (ह० लि०) : पोथीखाना, राजमहल, जयपुर

७७. **भक्ति प्रिया** (ह० लि०) : पोथीखाना, राजमहल, जयपुर

७८. **भारतीय इतिहास एक दृष्टि :** ज्योतिप्रसाद जैन; भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९६६ ई०

७९. **भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान :** डॉ० हीरालाल जैन; मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल, सन् १९६२ ई०

८०. **मध्यकालीन धर्म साधना :** डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी; द्विवेदी प्र०साहित्य भवन प्रा० लि०, अहमदाबाद

८१. **मकरन्द :** डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल; सम्पादक – डॉ० भगीरथ मिश्र; अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ

८२. **मिथ्यात्व खण्डन** (ह० लि०) : बखतराम शाह; श्री दि० जैन बड़ा मंदिर तेरापंथियान, जयपुर

८३. **मिश्रबन्धु विनोद :** मिश्रबन्धु; काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

८४. **मोक्षमार्ग प्रकाशक :** पंडित टोडरमल; सस्ती ग्रन्थमाला, दिल्ली

८५. **मोक्षमार्ग प्रकाशक :** पं० टोडरमल; भा० दि० जैन संघ, मथुरा

८६. **मोक्षमार्ग प्रकाशक :** पं० टोडरमल; श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र), वि० सं० २०२३

८७. **मोक्षमार्ग प्रकाशक :** पं० टोडरमल; बाबू ज्ञानचंदजी, लाहौर

८८. **मोक्षमार्ग प्रकाशक :** पं० टोडरमल; जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, सन् १९११ ई०

८९. **मोक्षमार्ग प्रकाशक :** पं० टोडरमल; बाबू पन्नालाल चौधरी, वाराणसी

९०. **मोक्षमार्ग प्रकाशक :** पं० टोडरमल; अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, बम्बई

९१. **मोक्षमार्ग प्रकाशक** (उर्दू) : पंडित टोडरमल; दाताराम चेरिटेबिल ट्रस्ट, १५८३, दरीबा कलाँ, दिल्ली

९२. **मोक्षमार्ग प्रकाशक** (गुजराती) : पं० टोडरमल; श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़

९३. **मोक्षमार्ग प्रकाशक** (मराठी) : पं० टोडरमल; महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, कारंजा (महाराष्ट्र)

९४. **मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें**, भाग १ व २ (हिन्दी, गुजराती) : कानजी स्वामी; श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़

९५. **मोक्षमार्ग प्रकाशक** (ह० लि० मूल प्रति) : पंडित टोडरमल; श्री दि० जैन मंदिर दीवान भदीचंदजी, घी वालों का रास्ता, जयपुर

९६. **यशस्तिलक चम्पू :** सोमदेव सूरि; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

९७. **युक्ति प्रबोध :** मेघविजय महोपाध्याय; ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम

९८. **योगप्रवाह :** डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल, सम्पादक – श्री सम्पूर्णानन्द, श्री काशी विद्यापीठ, बनारस, संवत् २००३

९९. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार :** आचार्य समन्तभद्र; सरल जैन ग्रन्थ भण्डार, जवाहरगंज, जबलपुर

१००. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार :** आचार्य समन्तभद्र; पंडित सदासुखदास कासलीवाल; श्री दिगम्बर जैन समाज, माधोराजपुरा (राज०)

१०१. **रहस्यपूर्ण चिट्ठी :** पंडित टोडरमल; दिगम्बर जैन पुस्तकालय, कापड़िया भवन, सूरत

१०२. **रहस्यपूर्ण चिट्ठी (ह० लि०) :** पं० टोडरमल; श्री दि० जैन मंदिर आदर्शनगर, जयपुर

१०३. **रज्जब बानी :** सम्पादक – डॉ० ब्रजलाल वर्मा, उपमा प्रकाशन प्रा० लि० कानपुर, सन् १९६३ ई०

१०४. **राजस्थान का इतिहास :** जैम्स टाड, आदर्श हिन्दी पुस्तकालय, इलाहाबाद, सन् १९६२ ई०

१०५. **राजस्थानी भाषा और साहित्य [वि० सं० १५००–१६५०] :** डॉ० हीरालाल माहेश्वरी, आधुनिक पुस्तक भवन, कलकत्ता-७, सन् १९६० ई०

१०६. **राजस्थान के जैन ग्रन्थ-भण्डारों की ग्रन्थ-सूची** [प्रथम भाग, द्वितीय भाग, तृतीय भाग, चतुर्थ भाग] : सम्पादक – डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल एवं पं० अनूपचंद न्यायतीर्थ; श्री दि० जैन अ० क्षेत्र श्री महावीरजी, महावीर भवन, जयपुर

१०७. **रीतिकाव्य की भूमिका :** डॉ० नगेन्द्र; गौतम बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली, सन् १९५३ ई०

१०८. **लब्धिसार (क्षपणासार गर्भित) संक्षिप्त हिन्दी टीका :** पं० मनोहरलाल शास्त्री; श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास

१०९. **लक्ष्मी विलास :** पंडित लक्ष्मीचंदजी लश्करवाले; सेठ कन्हैयालाल गंगवाल, सर्राफा बाजार, लश्कर

११०. **वर्ण रत्नाकर** : संपादक – डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी तथा श्री बबुआ मिश्र; रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १ - पार्कस्ट्रीट, कलकत्ता, सन् १९४० ई०

१११. **शान्तिनाथ पुराण वचनिका** (ह० लि०) : सेवाराम; जैन सिद्धान्त भवन, आरा, वि० सं० १८३४

११२. **श्री महाराज हरिदासजी की वाणी** : संपादक – स्वामी मंगलदास, दादू महाविद्यालय, जयपुर, सन् १९६२ ई०

११३. **श्री दादू महाविद्यालय रजत जयन्ती ग्रन्थ** : संपादक – स्वामी सुरजनदास, दादू महाविद्यालय, मोतीडूंगरी, जयपुर, वि. सं. २००६

११४. **षट् खण्डागम** (जीवस्थान सत्प्ररूपणा पुस्तक) : आचार्य भूतबलि पुष्पदन्त; डॉ० हीरालाल जैन; श्रीमंत सेठ शितावराव लक्ष्मीचंद जैन साहित्योद्धारक फंड कार्यालय, अमरावती (बरार)

११५. **षट् प्राभृत** (श्रुतसागरीय टीका सहित) : आचार्य कुंदकुंद; माणिकचन्द दि० जैन ग्रंथमाला समिति, हीराबाग, बम्बई-४

११६. **समयसार** : कुन्दकुन्दाचार्य; श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़

११७. **समयसार** (आत्मख्याति टीका) : आचार्य कुन्दकुन्द; टीकाकार आचार्य अमृतचंद्र; श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़

११८. **सम्यग्ज्ञानचंद्रिका** : पंडित टोडरमल, जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता

११९. **सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका** (ह० लि० मूल प्रति अपूर्ण) : पं० टोडरमल; श्री दि० जैन मंदिर दीवान भदीचंद, घी वालों का रास्ता, जयपुर

१२०. **सम्यक्त कौमुदी** (ह० लि०) : जोधराज गोदीका; श्री दि० जैन बड़ा मन्दिर तेरापंथियान, जयपुर

१२१. **सर्वार्थसिद्धिवचनिका** : पं० जयचंद्र छाबड़ा, जिनेन्द्र प्रेस, कोल्हापुर

१२२. **समोसरण रचना वर्णन**(ह० लि०) : पंडित टोडरमल; ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन, बम्बई

१२३. **सहजोबाई की बानी** : बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद, सन् १९६७ ई०

१२४. **सत्ता स्वरूप** : पं० भागचंदजी छाजेड़; श्री दि० जैन मुमुक्षु मण्डल, सनावद (म० प्र०)

१२५. **संबोध प्रकरण** : हरिभद्र सूरि; जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा, अहमदाबाद
१२६. **सामुद्रिक पुरुष लक्षण** (ह० लि०) : श्री दि० जैन मन्दिर बड़ा धड़ा, अजमेर (राज०)
१२७. **सुन्दर-ग्रंथावली** : सम्पादक–पुरोहित हरिनारायण; राजस्थान रिसर्च सोसाइटी, २७, वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता, वि०सं० १९९३
१२८. **सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य** : शिवप्रसादसिंह; हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, सन् १९५८ ई०
१२९. **हिन्दी साहित्य का इतिहास** : आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, वि० सं० २००९
१३०. **हिन्दी साहित्य का इतिहास** : डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', इलाहबाद, सन् १९३१ ई०
१३१. **हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास** : डॉ० कामताप्रसाद जैन; भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, फरवरी १९४७ ई०
१३२. **हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास** : नाथूराम प्रेमी; जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, बंबई, जनवरी १९१७ ई०
१३३. **हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास** : डॉ० रामकुमार वर्मा; रामनारायणलाल, इलाहाबाद
१३४. **हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास** : डॉ० उदयनारायण तिवारी; भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग, वि० सं० २०१८ ई०
१३५. **हिन्दी साहित्य का आदिकाल** : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी; बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना ३, सन् १९५८ ई०
१३६. **हिन्दी साहित्य द्वितीय खण्ड** : धीरेन्द्र वर्मा व ब्रजेश्वर वर्मा; भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग, ६ मार्च १९५९ ई०
१३७. **हिन्दी गद्य का विकास** : डॉ० प्रेमप्रकाश गौतम; अनुसन्धान प्रकाशन, आचार्य नगर, कानपुर, सन् १९६६ ई०
१३८. **हिन्दी साहित्य** : पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी; (१९५२) दिल्ली
१३९. **हिस्ट्री आव मैथिली लिटरेचर**, भाग १ (अंग्रेजी) : डॉ० जयकान्त मिश्र; तीरमुक्ति पब्लिकेशन्स्, १–सर पी. सी. बनर्जी रोड, इलाहाबाद, सन् १९४९ ई०

१४०. **हिन्दी भाषा का इतिहास** : डॉ० धीरेन्द्र वर्मा; हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, सन् १९५३ ई०

१४१. **क्षपणासार भाषाटीका** : पंडित टोडरमल; जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी, संस्था, कलकत्ता

१४२. **त्रिलोकसार भाषाटीका** : पंडित टोडरमल; हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, बम्बई, सन् १९१८ ई०

१४३. **त्रिलोकसार भाषाटीका** (ह० लि०) : पंडित टोडरमल ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, बम्बई, वि० सं० १८२३ ई०

१४४. **ज्ञानानन्द श्रावकाचार** : ब्र० रायमल, सद्बोध रत्नाकर कार्यालय, सागर

१४५. **ज्ञान सागर** (ह० लि०) : पोथीखाना, राजमहल, जयपुर

पत्र-पत्रिकाएँ

१४६. **अनेकान्त** : वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६

१४७. **आत्मधर्म** : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

१४८. **इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका** (ह० लि० मूल प्रति) : श्री दि० जैन मन्दिर दीवान भदीचंदजी, घी वालों का रास्ता, जयपुर

१४९. **जीवन पत्रिका** (ह० लि० मूल प्रति) : श्री दि० जैन मन्दिर दीवान भदीचंदजी, घी वालों का रास्ता, जयपुर

१५०. **जैन संदेश** : भा० दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा

१५१. **जैन हितैषी** : जैन हितैषी कार्यालय, बम्बई

१५२. **टोडरमल जयन्ती स्मारिका** : श्री टोडरमल स्मारक महोत्सव कमेटी, ए-४, बापूनगर, जयपुर-४

१५३. **रिपोर्ट** (वीर नि० सं० २४५१) : ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन, बम्बई

१५४. **वल्लभ संदेश** : गौड़ भवन, कमला मार्ग, सी-स्कीम, जयपुर

१५५. **वीरवाणी** : श्री वीर प्रेस, मनिहारों का रास्ता, जयपुर

१५६. **सन्मति सन्देश** : ५३५, गांधीनगर, दिल्ली-३१



परिशिष्ट ३

नामानुक्रमणिका

ज

ट

फ

ब

ल

व

श